कक्षा 11

लोक प्रशासन

लोक प्रशासन

कक्षा 11

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

y¨d ç'kklu

d{kk 11

ek/;fed f'k{kk ckMZ jkt LFkku] vtesj

Hkfedk

लोक प्रशासन, कक्षा XI के विद्यार्थियों के लिखी गई पाठ्यपुस्तक प्रस्तुत करते हुए अत्यंत प्रसन्नता है। पुस्तक लेखन के समय केन्द्र में प्रमुख रूप से वे विद्यार्थी थे जो प्रशासनिक दृष्टि से प्रशासनिक संरचना के बारे में अवधारणात्मक समझ को विकसित करने हेतु अध्ययन कर रहे हैं।

यह सत्य है कि नीति क्रियान्वयन तथा एक सीमा तक नीति निर्माण में प्रशासनिक संरचना तथा विशेषतः प्रशासकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः विद्यार्थियों के लिए न केवल प्रशासनिक संरचना, प्रशासनिक संस्थाओं को समझना आवश्यक है अपितु उनके लिए प्रशासनिक संरचनाऐं एवं संस्थाऐं जिन प्रशासनिक (सांगठनिक) सिद्धान्तों पर कार्य करती है, उसकी समझ भी अपरिहार्य है। भारत में प्रशासनिक संस्थाओं और उनके कार्यकरण का स्वरूप पारिस्थितिकीय दृष्टि से अपनी अलग पहचान भी रखता है। वर्तमान के इस परिवर्तनशील, तकनीकि युग में, जहाँ भूमण्डलीकरण, निजीकरण एवं उदारीकरण के प्रभाव ने अनेक आमूलचूल परिवर्तनों की समझ को अनिवार्य बना दिया है वहीं इन प्रभावों से लोक प्रशासन भी अधिक परिवर्तनशील एवं गत्यात्मक बना है। इसी को दृष्टिगत रखकर पुस्तक लेखन किया गया है।

अपेक्षा है कि विद्यार्थियों एवं शिक्षकों की प्रतिक्रिऐं एवम् सुझाव पुस्तक को और अधिक रोचक तथा उपयोगी बनाने में सहायक होंगे।

l;ktd

अनुक्रमणिका

क्र. सं.		अध्याय	पृष्ठ संख्या
इकाई–I	अध्याय–1	लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र (Meaning, Nature and Scope of Public Administration)	1–18
	अध्याय–2	लोक प्रशासन का महत्त्व एवं निजी प्रशासन से सम्बन्ध (Importance of Public Administration and its relationship with Private Administration)	19–27
इकाई–II	अध्याय–3	लोक प्रशासन एवं अन्य सामाजिक विज्ञान (Public Administration and Other Social Sciences)	28–35
इकाई–III	अध्याय–4	संगठन : अर्थ, आधार एवं रूप (Organisation : Meaning, Basis and Form)	36–46
	अध्याय–5	संगठन के सिद्धान्त (Principles of Organization)	47–60
इकाई–IV	अध्याय–6	संगठन के अन्य सिद्धान्त (Other Principles of Organization)	61–76
इकाई–V	अध्याय–7	संघीय कार्यपालिका (Union Executive)	77–90
	अध्याय–8	प्रधानमंत्री व मंत्रिपरिषद (Prime Minister and Council of Ministers)	91–98
	अध्याय–9	केन्द्रीय सचिवालय (Central Secretariat)	99–102
	अध्याय–10	प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण (Executive Control Over Administration)	103–105
इकाई–VI	अध्याय–11	राज्यपाल : शक्तियाँ एवं भूमिका (The Governor : Powers and Role)	106–112
	अध्याय–12	मुख्यमंत्री–मंत्रिपरिषद : रचना एवं भूमिका (Chief Minister-Counsil of Ministers : Structure and Role)	113–120
	अध्याय–13	राज्य सचिवालय : संगठन एवं कार्य (State Secretariat : Organization and Functions)	121–127
इकाई–VII	अध्याय–14	केन्द्रीय व्यवस्थापिका: संरचना एवं भूमिका (Central Legislature : Structure and Role)	128–142
	अध्याय–15	राज्य व्यवस्थापिका : संरचना एवं भूमिका (State Legislature: Structure and Role)	143–154
	अध्याय–16	लोक प्रशासन पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण (Legislative Control Over Public Administration)	155–159

इकाई–VIII	अध्याय–17	उच्चतम न्यायालय (Supreme Court)	160–168
	अध्याय–18	उच्च न्यायालय (High Court)	169–171
	अध्याय–19	जिला स्तरीय एवं अधीनस्थ न्यायालय (District Level & Subordinate Court)	172–174
	अध्याय–20	प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण (Judicial Control Over Administration)	175–182
इकाई–IX	अध्याय–21	सम्भागीय आयुक्त एवं जिला प्रशासन पर पर्यवेक्षण (Divisional Commissioner and Supervision on District Administration)	183–190
	अध्याय–22	जिला कलेक्टर (District Collector)	191–196
	अध्याय–23	उप खण्ड एवं तहसील प्रशासन तंत्र (Sub Divisional And Tehsil Administration)	197–201
	अध्याय–24	पटवारी एवं ग्रामसेवक (Patwari & Gramsevak)	202–208
इकाई–X	अध्याय–25	राजस्थान में नगरीय प्रशासन (Urban Administration in Rajasthan)	209–221
	अध्याय–26	राजस्थान में पंचायती राज (Panchayati Raj in Rajasthan)	222–236

इकाई–I

अध्याय – 1

लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र

(Meaning, Nature and Scope of Public Administration)

मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह सदैव समाज में रहता है। प्रत्येक समाज को बनाये रखने के लिए कोई न कोई राजनीतिक व्यवस्था अवश्य होती है इसलिये यह माना जा सकता है कि उसके लिये समाज तथा राजनीतिक व्यवस्था अनादि काल से अनिवार्य रही है। अरस्तू ने कहा है कि "यदि कोई मनुष्य ऐसा है, जो समाज में न रह सकता हो, या जिसे समाज की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है, तो वह अवश्य ही एक जंगली जानवर या देवता होगा।" प्रत्येक समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिये कोई न कोई निकाय या संस्था होती है, चाहे उसे नगर–राज्य कहें अथवा राष्ट्र–राज्य। राज्य, सरकार और प्रशासन के माध्यम से कार्य करता है। राज्य के उद्देश्य और नीतियाँ कितनी भी प्रभावशाली, आकर्षक और उपयोगी क्यों न हों, उनसे उस समय तक कोई लाभ नहीं हो सकता, जब तक कि उनको प्रशासन के द्वारा कार्य रूप में परिणित नहीं किया जाये। इसलिये प्रशासन के संगठन, व्यवहार और प्रक्रियाओं का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। चार्ल्स बियर्ड ने कहा है कि "कोई भी विषय इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि प्रशासन है। राज्य एवं सरकार का, यहाँ तक कि, स्वयं सभ्यता का भविष्य, सभ्य समाज के कार्यों का निष्पादन करने में सक्षम प्रशासन के विज्ञान, दर्शन और कला के विकास करने की हमारी योग्यता पर निर्भर है।" डॉनहम ने विश्वासपूर्वक बताया कि "यदि हमारी सभ्यता असफल होगी तो यह मुख्यतः प्रशासन की असफलता का कारण होगी। यदि किसी सैनिक अधिकारी की गलती से अणु बम छूट जाये तो तृतीय विश्व युद्ध शुरू हो जायेगा, और कुछ ही क्षणों में विकसित सभ्यताओं के नष्ट होने की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो जायेंगी।"

ज्यों–ज्यों राज्य के स्वरूप और गतिविधियों का विस्तार होता गया है, त्यों–त्यों प्रशासन का महत्त्व बढ़ता गया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि हम प्रशासन की गोद में पैदा होते हैं, पलते है, बड़े होते हैं, मित्रता करते, एवं टकराते हैं, और मर जाते हैं। आज की बढ़ती हुई जटिलताओं का सामना करने में, व्यक्ति एवं समुदाय, अपनी सीमित क्षमताओं और साधनों के कारण, स्वयं को असमर्थ पाते हैं। चाहे अकाल, बाढ़, युद्ध या मलेरिया की रोकथाम करने की समस्या हो अथवा अज्ञान, शोषण, असमानता या भ्रष्टाचार को मिटाने का प्रश्न हो, प्रशासन की सहायता के बिना अधिक कुछ नहीं किया जा सकता । स्थिति यह है कि प्रशासन के अभाव में हमारा अपना जीवन, मृत्यु के समान भयावह और टूटे तारे के समान असहाय लगता है। हम उसे अपने वर्तमान का ही सहारा नहीं समझते, वरन् एक नयी सभ्यता, संस्कृति, व्यवस्था और विश्व के निर्माण का आधार मानते हैं। हमें अपना भविष्य प्रशासन के हाथों में सौंप देने में अधिक संकोच नहीं होता।

प्रशासन की आवश्यकता सभी निजी और सार्वजनिक संगठनों को होती है। डिमॉक एवं कोइंग ने कहा है कि "वही (प्रशासन) यह निर्धारण करता है कि हम किस तरह का सामान्य जीवन बितायेंगे और हम अपनी कार्यकुशलताओं के साथ कितनी स्वाधीनताओं का उपभोग करने में समर्थ होंगे।" प्रशासन स्वप्न और उनकी पूर्ति के बीच की दुनिया है। उसे हमारी व्यवस्था, स्वास्थ्य और जीवनशक्ति की कुन्जी माना जा सकता है। जहाँ स्मिथबर्ग, साइमन एवं थॉमसन उसे "सहयोगपूर्ण समूह व्यवहार" का पर्याय मानते हैं, वहाँ मोर्स्टीन मार्क्स के लिये वह "प्रत्येक का कार्य" है। वस्तुतः प्रशासन सभी नियोजित कार्यों में विद्यमान होता है, चाहे वे निजी हों अथवा सार्वजनिक। उसे प्रत्येक जनसमुदाय की सामान्य इच्छाओं की पूर्ति में निरत व्यवस्था माना जा सकता है।

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को प्रशासन की आवश्यकता होती है, चाहे वह लोकतंत्रात्मक हो अथवा समाजवादी या तानाशाही। एक दृष्टि से, प्रशासन की आवश्यकता लोकतंत्र से भी अधिक समाजवादी व्यवस्थाओं को रहती है। समाजवादी व्यवस्थाओं के सभी कार्य प्रशासकों द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं। लोकतंत्रात्मक व्यवस्थाओं में व्यक्ति निजी तोर पर तथा सूचना समुदाय भी सार्वजनिक जीवन में अपना योगदान देते हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि प्रशासन का कार्य समाजवाद की अपेक्षा लोकतंत्र में अधिक कठिन होता है। समाजवाद में प्रशासन पूरी तरह से एक राजनीतिक दल द्वारा नियन्त्रित और

निर्देशित रहता है। इससे प्रशासन का नीतिगत एवं निर्णय संबंधी दायित्व अपेक्षाकृत कम हो जाता है। प्रजातंत्र में प्रशासन के बिना लोकतंत्र की सफलता मृगतृष्णा मात्र होती है। ए. डी. गोरवाला के अनुसार "प्रजातंत्र में योजनाओं की सफलता के लिये एक स्वच्छ, कुशल एवं निष्पक्ष प्रशासन का होना अत्यन्त आवश्यक है।"

प्रशासन सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु नीतियों एवं निर्णयों के क्रियान्वयन में संलग्न रहता है। वह इनके सन्दर्भ में प्रत्येक नागरिक और समुदाय के आचरण का नियंत्रण, नियमन और निर्देशन करता है अर्थात वह व्यक्ति और समुदाय को सामान्य लक्ष्यों की ओर अभिमुख करता है। साथ ही साथ प्रशासन इन सामान्य लक्ष्यों एवं नीतियों की क्रियान्विति दशाओं का निर्माण भी करता चलता है। ऑर्डवे टीड़ ने सही कहा है कि "प्रशासन एक नैतिक कार्य है और प्रशासक एक नैतिक अभिकर्त्ता है।" प्रशासन अपनी क्रियाओं द्वारा सामान्य जीवन को नैतिकता एवं उच्च आदर्शों की दिशा में ले जाने का प्रयास करता है। बाह्य कार्यों तक सीमित होते हुए भी उसे "सामूहिक नैतिकीकरण" की व्यापक प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। प्रशासन को साँचों में ढाल कर जीवन्त एवं मूर्त बनाये बिना अध्यात्म और नैतिकता कोरी कवि–कल्पना अथवा अमूर्त चिन्तन मात्र है। यदि कोई व्यक्ति आध्यात्म और नैतिकता में विश्वास न भी करे तो भी सांसारिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये उसको प्रशासन एवं प्रबन्ध का ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। आधुनिक राज्य, समाज और उद्योग एवं अन्य क्षेत्र भी इन्हीं के माध्यम से कार्य करते हैं।

प्रशासन का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि सोशर के अनुसार, उसे एक–दो वाक्यों वाली परिभाषाओं में नहीं बांधा जा सकता। विस्तृत परिभाषाओं पर यदि दूसरे लोग मजाक उड़ायेंगे, तो संकुचित परिभाषाओं को देखकर प्रशासन के विद्यार्थियों का दम घुट जायेगा। साइमन ने भी इसी तरह व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है उनका कहना है कि "प्रशासन सभी सहयोगपूर्ण व्यवहार के प्रतिमानों से संबद्ध होता है अतः कोई भी व्यक्ति जो दूसरे व्यक्तियों के साथ किसी गतिविधि में सहयोग करता है, वह प्रशासन में लगा हुआ है।

लोक प्रशासन : अर्थ एवं परिभाषा

(Public Administration : Meaning & Definition)

प्रशासन का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning & Definition of Administration)

"सरकार" या "शासन" (Government) किसी राजनीतिक व्यवस्था की सबसे बड़ी इकाई का नाम है। प्रशासन उसके अधीन रहकर शासन के लक्ष्यों को विस्तारपूर्वक कार्य रूप में परिणित करता है। इसी कारण राज्य के लक्ष्य प्रशासन के लक्ष्य कहे जाते हैं। किन्तु दोनों का अन्तर स्पष्ट और स्थायी है। प्रशासन शासन के अधीनस्थ रहकर कार्य करने वाला विशिष्ट मानवीय संयंत्र है। प्रशासन शब्द अंग्रेजी भाषा के "एडमिनिस्ट्रेशन" (Administration) का हिन्दी अनुवाद है। Administration शब्द की व्युत्पति, लैटिन भाषा के दो शब्दों 'Ad' तथा 'Ministrare' से हुई है। इनका अर्थ है – "सेवा करना" या "प्रबन्ध करना"। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से "प्रशासन" का अर्थ है, "कार्यों का प्रबन्ध करना"। अच्छे ढ़ंग से, कम समय और कम खर्चे में सामूहिक रूप से कार्य करने की व्यवस्था को 'प्रशासन' कहा जाता है।

प्रशासन के स्वरूप को अच्छी तरह से समझने के लिए उसके अग्रलिखित चार रूपों का ध्यान रखना चाहिये –

प्रथम : उसे सरकार या कार्यपालिका का पर्याय माना जाता है।

द्वितीय : यही एक ऐसा ज्ञान है जो किसी व्यापारिक, औद्योगिक अथवा राजनीतिक संस्था के अध्ययन से संबंधित होता है।

तृतीय : सार्वजनिक नीतियों अथवा लक्ष्यों को क्रियान्वित करने वाली क्रियाओं के समूह को भी प्रशासन कहा जाता है। ऐसी निरन्तर की जाने वाली क्रियाओं की दृष्टि से उसे "प्रक्रिया" तथा, क्रियाओं का निष्पादन करने वाले व व्यक्ति समूह की दृष्टि से उसे एक निकाय, संस्था या संरचना माना जा सकता है।

चतुर्थ : प्रशासन एक ऐसी कला है जिसका संबंध "प्रबन्ध करने" से है।

मूलतः प्रशासन एक ऐसी "प्रक्रिया" है जो सभी सामूहिक प्रयासों में चाहे वे सार्वजनिक, निजी, सैनिक या असैनिक हो, पायी जाती है। लेपावस्की के अनुसार, चाहे उसे प्रबन्ध कहें या संगठन, कार्यपालिका कहें या लोक प्रशासन, एक कला और प्रविधि के रूप में वह सभ्य मानव के अनुभव के साथ ही सदा ही जुड़ा रहा है। साइमन ने कहा है कि "अति विस्तृत अर्थ में, समान लक्ष्यों को पूरा करने के लिये समूहों द्वारा सहयोगपूर्ण ढँग से की गयी क्रियाएँ ही प्रशासन है। गुलिक ने सुपरिभाषित उद्देश्यों की पूर्ति को उपलब्ध कराने को प्रशासन कहा है। स्मिथबर्ग, साइमन आदि ने समान लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये सहयोग करने वाले समूहों की गतिविधि को प्रशासन माना है। फिफनर व प्रिस्थस के मतानुसार, प्रशासन "वांछित उद्देश्यों की

प्राप्ति के लिये मानवीय तथा भौतिक साधनों का संगठन एवं संचालन है।" एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ने उसे "कार्यों के प्रबन्ध अथवा उनको पूरा करने की क्रिया" बताया है। नीग्रो के अनुसार, "प्रशासन लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य तथा सामग्री का उपयोग एवं संगठन है।" व्हाइट के विचारों में, वह "किसी विशिष्ट उद्देश्य अथवा लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बहुत से व्यक्तियों का निर्देशन, नियन्त्रण तथा समन्वयन की कला है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं की दृष्टि से, प्रशासन के सामान्य लक्षण अग्रलिखित रूप से बताये जा सकते हैं –

1. मनुष्य तथा भौतिक साधनों का समन्वयन ।
2. सामान्य लक्ष्यों अथवा नीति का पूर्व निर्धारण ।
3. संगठन एवं मानवीय सहयोग ।
4. मानवीय गतिविधियों का निर्देशन और नियंत्रण,
5. लक्ष्यों की प्राप्ति ।

इन सभी लक्षणों को टीड की परिभाषा में देखा जा सकता है कि "प्रशासन वांछित परिणाम की प्राप्ति के लिये मानव प्रयासों के एकीकरण की समावेशी प्रक्रिया है।"

इन सभी परिभाषाओं में प्रशासन की बड़ी व्यापक व्याख्याएँ की गयी हैं। हमारा उद्धेश्य सभी प्रकार के मानव समूहों में पाये जाने वाले "प्रशासन" का अध्ययन करना नहीं है। हम केवल सार्वजनिक अथवा लोकनीतियों के क्रियान्वयन से संबंधित प्रशासन का अध्ययन करना चाहते हैं। इसी कारण, हमारे विषय को "सार्वजनिक" या 'लोक प्रशासन' कहा गया है। यहीं लोक प्रशासन सामान्य "प्रशासन" से पृथक् एवं विशिष्ट हो जाता है। लोक प्रशासन के सिद्धान्त एवं कार्यप्रणालियाँ अन्य क्षेत्रों में उपलब्ध प्रशासनों को अधिकाधिक मात्रा में प्रभावित करती जा रही हैं।

लोक प्रशासन का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Public Administration)

प्रशासन का वह भाग जो सामान्य जनता के लाभ के लिये होता है, लोक प्रशासन कहलाता है। लोक प्रशासन का संबंध सामान्य अथवा सार्वजनिक नीतियों से होता है। व्हाइट के शब्दों में, लोक प्रशासन में "वे गतिविधियाँ आती है जिनका प्रयोजन सार्वजनिक नीति को पूरा करना अथवा क्रियान्वित करना होता है।" वुडरो विल्सन के अनुसार, "लोक प्रशासन विधि अथवा कानून को विस्तृत एवं क्रमबद्ध रूप में क्रियान्वित करने का काम है। कानून को क्रियान्वित करने की प्रत्येक क्रिया प्रशासकीय क्रिया है।" डिमॉक ने बताया कि "प्रशासन का संबंध सरकार के "क्या" और "कैसे" से है। "क्या" से अभिप्राय विषय में निहित ज्ञान से है, अर्थात् वह विशिष्ट ज्ञान, जो किसी भी प्रशासकीय क्षेत्र में प्रशासक को अपना कार्य करने की क्षमता प्रदान करता हो। "कैसे" से अभिप्राय प्रबन्ध करने की उस कला एवं सिद्धान्तों से है, जिसके अनुसार, सामूहिक योजनाओं को सफलता की ओर ले जाया जाता है।" हार्वे वाकर ने कहा कि "कानून को क्रियात्मक रूप प्रदान करने के लिये सरकार जो कार्य करती है, वही प्रशासन है।" विलोबी के मतानुसार, "प्रशासन का कार्य वास्तव में सरकार के व्यवस्थापिका अंग द्वारा घोषित और न्यायपालिका द्वारा निर्मित कानून को प्रशासित करने से सम्बद्ध है।" पर्सी मेक्वीन ने बताया कि "लोक प्रशासन सरकार के कार्यों से संबंधित होता है, चाहे वे केन्द्र द्वारा सम्पादित हों अथवा स्थानीय द्वारा। व्यापक गतिविधि (Generic activity) के रूप में वाल्डो ने इसे "बौद्धिकता की उच्च मात्रा युक्त सहयोगपूर्ण मानवीय–क्रिया" कहा है।

सिद्धान्त एवं विश्लेषण की दृष्टि से लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन, सामान्य प्रशासन के ही दो विशिष्ट रूप हैं किन्तु इन दोनों रूपों में मौलिक समानताएँ पायी जाती हैं। वर्तमान समय में, इनके मध्य चली आ रही असमानताएँ क्रमशः कम होती जा रही हैं। इसी प्रकार, प्रबन्ध भी प्रशासन से भिन्न न होकर उसी का संचालन एवं निर्देशात्मक भाग है। इस अध्याय की केन्द्रीय धारणा है कि निजी व सार्वजनिक प्रशासन तथा प्रबन्ध में बड़ा घनिष्ठ संबंध है। उनकी असमानताओं के बजाय समानताएँ अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं। भारत तथा अन्य विकासशील देशों को प्रशासन का व्यापक परिप्रेक्ष्य ही अपनाना चाहिये।

लोक प्रशासन को संकुचित एवं व्यापक दृष्टिकोणों के आधार पर भी विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है।

व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार,, कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं।

"राजनीति–विज्ञान" में प्रशासन शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है। अतिव्यापक अर्थों में यह शब्द शासकीय मामलों का वास्तविक संचालन प्रकट करता है। इस प्रकार, शासन की विधायी शाखा व्यवस्थापिका का प्रशासन, न्यायिक कार्यों या न्यायपालिका के प्रशासन तथा शासन की प्रशासकीय शाखा से संबधित कार्यों का प्रशासन या सामान्यतः शासन के सभी कार्यों को चलाने के बारे में कहना उचित है। अति संकुचित अर्थो में, यह केवल प्रशासकीय शाखा की क्रियाओं को ही सूचित करता है।" – विलोबी

"लोक प्रशासन प्रशासकीय विज्ञान का वह भाग है, जिसका संबंध शासन से है। इस कारण वह मुख्यतः कार्यपालिका शाखा

से, जहाँ शासन का कार्य किया जाता है। सम्बद्ध रहता है, यद्यपि स्पष्ट तौर पर व्यवस्थापिका और न्याय शाखाओं से संबंधित समस्याएँ भी प्रशासनिक समस्याएँ होती हैं।" – लूथर गुलिक

"सामान्य प्रयोग में लोक प्रशासन से अभिप्राय उन क्रियाओं से है जो केन्द्र, राज्य अथवा स्थानीय सरकारों द्वारा सम्पन्न की जाती है।" – साइमन

"लोक प्रशासन" के शाब्दिक अर्थों में, न्याय प्रशासन में न्यायालयों के कार्य, सरकार की कार्यकारिणी शाखा में– सैनिक तथा असैनिक, सभी अभिकरणों के कार्य शामिल किये जाते हैं। लोक प्रशासन के किसी पूर्ण ग्रंथ में, विधायी प्रबन्ध के अतिरिक्त, न्यायिक संरचनाओं तथा क्रियाविधि पर विचार करने के साथ–साथ सेनाओं द्वारा प्रयुक्त विशेष तंत्र तथा पद्धतियों का अध्ययन करना पड़ेगा। – मोर्स्टीन मार्क्स

इस प्रकार व्यापक अर्थों में दी गयी परिभाषाएँ लोक प्रशासन में, सरकार की तीनों शाखाओं– कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका द्वारा निष्पादित सभी क्रियाओं को शामिल कर लेती हैं किन्तु अनेक प्रशासन–वेत्ता इस समावेशी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार लोक प्रशासन में केवल उन्हीं गतिविधियों का समावेश किया जाना चाहिये, जिनका निष्पादन कार्यपालिका अथवा प्रशासकीय शाखा के द्वारा किया जाता है। साइमन के अनुसार, "साधारण भाषा में लोक प्रशासन का अर्थ राष्ट्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों, स्वतंत्र आयोगों तथा सरकारी निगमों की कार्यपालिका शाखाओं से होता है परन्तु उसमें न्यायिक एवं विधायी अभिकरणों को शामिल नहीं किया जाता।"

संकुचित दृष्टिकोण को अपनाकर दी गयी कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं –

"लोक प्रशासन में वे सभी क्रियाएँ आ जाती हैं, जिनका प्रयोजन सक्षम सत्ता द्वारा घोषित प्रशासकीय नीतियों को पूरा करना अथवा कार्यान्वित करना है।" – व्हाइट

"लोक प्रशासन विधि (Law) का विस्तृत एवं व्यवस्थित रूप से क्रियान्वयन है। विधि को क्रियान्वित करने की प्रत्येक प्रशासकीय क्रिया प्रशासन है।" – वुडरो विल्सन

"जब प्रशासन का संबंध राज्य के अथवा म्युनिसिपल बोर्ड, काउन्टी कौंसिल अथवा जिला बोर्ड़ जैसी छोटी राजनीतिक संस्थाओं के कामों के साथ होता है, तो उसे "लोक प्रशासन" की संज्ञा प्रदान की जाती है।" – एम. रत्नास्वामी

"किसी कार्य को पूरा करना और उसका उद्देश्य ऐसी योजनाओं को बनाना है जिसके अनुसार सरकार की कोई भी नीति सफलतापूर्वक क्रियान्वित हो सके।" – मर्सन

परिभाषाओं का वर्गीकरण
(Classification of Definitions)

उपर्युक्त परिभाषाओं का वर्गीकरण लोकप्रशासन की प्रकृति एवं क्षेत्र की दृष्टि से किया जा सकता है। डॉ. एम.पी. शर्मा ने इनके चार वर्ग बताये हैं–

(क) प्रकृति व्यापक, किन्तु क्षेत्र संकुचित– इसमें व्हाइट की परिभाषा को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उसके अनुसार, लोक प्रशासन में सभी (प्रकृति) क्रियाएँ है किन्तु उनका प्रयोजन घोषित नीतियों का क्रियान्वयन (क्षेत्र) है।

(ख) प्रकृति एवं क्षेत्र दोनों संकुचित–इस वर्ग में मार्क्स, साइमन और मर्सन शामिल किये जा सकते हैं।

(ग) प्रकृति संकुचित एवं क्षेत्र व्यापक–लूथर गुलिक इस वर्ग में आते हैं। उनके अनुसार, "प्रशासन का संबंध निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये (प्रकृति) कार्य की पूर्ति (क्षेत्र) से है।"

(घ) प्रकृति एवं क्षेत्र दोनों व्यापक– इस वर्ग का प्रतिनिधित्व डिमॉक और फिफनर करते है।

निष्कर्ष यह है कि सिद्धान्त रूप में लोक प्रशासन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसमें कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका के कार्यों का प्रशासनिक दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है किन्तु व्यवहार में वह केवल कार्यपालिका शाखा के कार्यकलापों के अध्ययन को प्राथमिकता देता है। मार्क्स और साइमन ने इस स्थिति का समर्थन करते हुए बताया है कि लोक प्रशासन से हमारा अभिप्राय मुख्यतः संगठन, सेवी वर्ग के कार्यों तथा कार्य करने की उन प्रणालियों से होता है, जो कार्यपालिका को सौंपे गये नागरिक तथा असैनिक कार्यों को प्रभावशाली ढंग से पूरा करने के लिये आवश्यक होते हैं परन्तु लोक प्रशासन अन्य अंगों के कार्यों से सर्वथा उदासीन नहीं रह सकता। यह कहा जा सकता है कि कानून बनाने व न्याय करने का काम भी लोक प्रशासन के स्वरूप और गतिविधियों की गहरी जानकारी चाहता है। ऐसा ज्ञान होने पर विधायक क्रियान्वयन योग्य विधि का निर्माण करने, तथा न्यायाधीश जानकारी व प्रभावपूर्ण न्याय प्रदान करने का कार्य कुशलतापूर्वक कर सकते हैं।

आजकल गैर सरकारी क्षेत्र की लगभग सभी गतिविधियों का आकार–प्रकार सार्वजनिक, सामाजिक एवं उत्तरदायित्वपूर्ण होता जा रहा है। यह कहा जा सकता है कि निजी क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र के निकट आता जा रहा है। इस दृष्टि से लोक प्रशासन की गतिविधियाँ एवं स्वरूप निजी क्षेत्र को भी प्रभावित

करती जा रही हैं। लूथर गुलिक ने कहा है कि प्रशासन का संबंध कार्यों का निष्पादन करने, तथा साथ ही साथ निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति से होता है। प्रशासन में वे सभी कार्य आ जाते हैं, जो लक्ष्य को पूरा करने के लिये सम्पादित किये जाते हैं। वह सहयोगपूर्ण समूह व्यवहार है। सभी जगह लक्ष्य को पूरा करा सकने वाली प्रशासनिक योग्यता की आवश्यकता होती है। हेनरी फेयोल के अनुसार "यह वही प्रशासनिक योग्यता है जिसकी आवश्यकता उद्योग, सरकार और घरेलू प्रबन्ध में आवश्यक होती है। प्रशासनिक प्रयास सब जगह एक सा होता है।''

लोक प्रशासन का संबंध सरकार की उन सभी क्रियाओं एवं गतिविधियों से है जिन्हें विधि तथा लोकनीति के क्रियान्वयन हेतु सम्पन्न किया जाता है। परन्तु इसके साथ ही वह एक संरचना या संगठन, एक प्रक्रिया तथा व्यवसाय (Vocation) भी है। एक संरचना या संगठन के रूप में अभिप्राय उसके निर्धारित स्वरूप तथा मानवीय गठन से लिया जाता है। एक प्रक्रिया के रूप में वह लोकनीति के क्रियान्वयन हेतु, प्रारम्भ से अन्तिम स्तर तक उठाये जाने वाली क्रियाओं की लम्बी श्रृंखला है। एक धन्धे के रूप में वह एक आजीविका का साधन, कलाकौशल, या सामाजिक आर्थिक गतिविधि है। इन तीनों रूपों का अध्ययन हम एक शैक्षिक विषय या अनुशासन (Discipline) के रूप में करते हैं और इसके संबंध में ज्ञानवर्धन विचारों का आदान प्रदान, चिन्तन, अध्ययन, शोध आदि हमारा व्यवसाय (Profession) हो जाता है। हम प्रशासन का शासन के लिये उपयोग या प्रयोग करने के बजाय स्वतंत्र अध्ययन करते हैं। इन सभी स्थितियों के बारे में, वाल्डो के अनुसार कहा जा सकता है कि "लोक प्रशासन मानवीय सहयोग का एक पहलू तथा विभिन्न वर्गों वाले प्रशासन से संबंधित एक वर्ग है।" यह वर्ग "उच्च कोटि की विचार–शक्ति से युक्त" सामूहिक मानवीय प्रयत्नों मे लगा हुआ है।

ग्लेडन के अनुसार, भले ही "प्रशासन लम्बा और भारी–भरकम शब्द लगता है किन्तु इसका एक विनयपूर्ण अर्थ है,–लोगों की देखभाल करना और कार्यों का प्रबन्ध करना।" यह जनता का स्वामी न होकर सेवक है। पूर्व बताये गये प्रशासन के लक्षणों में, अग्रलिखित को और जोड़कर लोक प्रशासन के लक्षणों को पूरी तरह से निम्न प्रकार से बताया जा सकता है कि–

1. लोक प्रशासन का संबंध सार्वजनिक समस्याओं से है,
2. लोक प्रशासन का संबंध सरकारी कार्यों से होता है, तथा
3. उसका लक्ष्य सार्वजनिक विधियों एवं नीतियों को कार्यान्वित करना है।

एकीकृत एवं प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण
(Integrated and Managerial Views)

प्रशासन में किन–किन गतिविधियों, कार्यकलापों अथवा प्रक्रियाओं को शामिल किया जाए, तथा उसको किस दृष्टि से देखा जाए जैसे प्रश्नों का व्यापक एवं विशिष्ट दृष्टिकोण से उत्तर दिया जा सकता है। इन्हें एकीकृत (Integrated) तथा प्रबन्धात्मक (Managerial Views) दृष्टिकोण कहा गया है। एकीकृत दृष्टिकोण के अनुसार प्रशासन में वे सभी क्रियाएँ जो निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये की जाती हैं, शामिल की जाती हैं। उदाहरण के लिये साइमन ने कहा है कि "सामान्य लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करने वाले वर्गों की क्रियाएँ ही प्रशासन है।"

प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण के अनुसार प्रशासन में केवल नियोजन, संगठन, समन्वयन, निर्देशन, नियन्त्रण, पर्यवेक्षण आदि कार्य ही शामिल किये जाने चाहिये। उसमें नैत्यिक व शारीरिक कार्य सम्मिलित नहीं किये जाते। एक अध्यापक, यान्त्रिक, लिपिक या चपरासी को प्रशासक नहीं कहा जा सकता। दूसरों से काम लेने या काम कराने को प्रशासन कहा जाता है। उसमें कुछ वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये मनुष्यों और सामग्री के उचित संगठन, निर्देशन और प्रबन्ध को ही शामिल किया जाना चाहिये। आर्डवे टीड ने कहा कि "किसी संगठन के उन व्यक्तियों की आवश्यक क्रियाओं को प्रशासन माना जाता है, जिन्हें अधिकार होता है कि वे कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये एक साथ एकत्रित व्यक्तियों के वर्ग के सामूहिक प्रयत्नों के संबंध में आदेश दे सके, उन्हें आगे बढ़ा सके तथा सुविधाजनक बना सके।"

प्रशासन के संबध में उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण एकतरफा, एकांगी और अपूर्ण हैं। प्रशासन में, कार्यों की व्यवस्था कराने वाले तथा कार्यों को क्रियान्वित करने वाले दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। प्रबन्ध यदि कुशल और योग्य है, तो भी यदि शारीरिक व नैत्यिक कार्य करने वाले ठीक नहीं हैं, तो सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। सिपाही की समस्याओं एवं क्षमताओं पर ध्यान न देने वाला सेनापति सफल नहीं हो सकता। वस्तुतः प्रशासन में दोनों ही प्रकार की गतिविधियाँ होती हैं। उच्च स्तर पर यदि प्रशासन अथवा प्रबन्ध का कार्य अधिक नैत्यिक यान्त्रिक कार्य कम होता है, तो निम्न स्तरों पर क्रमशः प्रबन्धात्मक कार्य कम तथा नैत्यिक या यान्त्रिक कार्य अधिक हो जाता है। प्रबन्धात्मक कार्यों का अत्यधिक महत्त्व है, किन्तु क्रियान्वयन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता।

प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण "तकनीकी" होने के कारण स्पष्टता

लिये हुए है। यह वाणिज्य, उद्योग तथा उच्च सेवाओं में अधिक लोकप्रिय है। इसकी लोकप्रियता का कारण सरलता और सूक्ष्मता है। किन्तु लोक प्रशासन की गतिविधियों को प्रबन्ध तक सीमित रखना अवास्तविक, अव्यवहारिक तथा एकांगी कार्य होगा। इससे प्रशासन का अध्ययन अमूर्त हो जायेगा। यह दृष्टिकोण क्षेत्र से संबंधित "पोस्डकॉर्ब" विचारधारा से मिलता–जुलता है, जो इस प्रकार से गृह प्रबन्धात्मक गतिविधियों का समूहन है। इस कारण यह दृष्टिकोण स्वेच्छारिता लिये हुए है। इस दृष्टिकोण को अपना कर प्रशासन के "हृदय" तक नहीं पहुँचा जा सकता।

लोक प्रशासन की प्रकृति : कला अथवा विज्ञान (Art or Science)

लोक प्रशासन का प्रयोग दो दृष्टिकोणों या परिप्रेक्ष्यों को अपनाकर किया जाता है। एक दृष्टिकोण से वह प्रक्रिया, गतिविधियों या कार्यों का प्रतिमान है। इस अर्थ में वह शासकीय मामलों के संचालन से संबद्ध है। दूसरे दृष्टिकोण से प्रशासन की गतिविधियों अथवा कार्यों का बौद्धिक या वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है और निष्कर्ष निकाले जाते हैं। प्रथम परिप्रेक्ष्य के अनुसार लोक प्रशासन कला है। चार्ल्सवर्थ के अनुसार, वह कला इसलिये है कि उसके संचालन के लिए अत्यधिक कुशल नेतृत्व, उत्साह तथा उच्च आस्थाओं की आवश्यकता होती है। आर्डवे टीड की दृष्टि से, प्रशासन "एक ललित कला (Fine Art) है" क्योंकि वही सभ्य जीवन बिताने के लिये सहयोगपूर्ण रचना हेतु विशिष्ट प्रतिभा की मांग करती है। डॉ. एम.पी.शर्मा ने इसे "कलाओं में सर्वश्रेष्ठ" (The highest of Arts) माना है। एक कला के रूप में उसे अनादि काल से पहचाना और काम में लिया जा रहा है। कौटिल्य, अकबर, टोडरमल, बिस्मार्क, सरदार वल्लभभाई पटेल, नेपोलियन आदि को प्रशासन के महान कलाकार माना जा सकता है। मानव जीवन के उच्चतम लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये उन्होंने मानवीय, भौतिक तथा अन्य साधनों का कुशल प्रयोग किया। प्रशासन को उपलब्ध मानवीय एवं सामाजिक साधनों द्वारा सामूहिक जीवन का एक विशेष ढ़ंग से निर्माण करने वाला कलाकार माना जा सकता है।

अच्छे गायक, कलाकार, संगीतकार, कवि, चित्रकार आदि की तरह, इस धारणा के अनुसार, अच्छे प्रशासक भी "पैदा होते है, बनाये नहीं जाते"। प्रशासन, विज्ञान के सिद्धान्तों, नियमों आदि को कितना ही सीख लेने का प्रयत्न क्यों न किया जावे, किन्तु उसके परिणामस्वरूप कोई व्यक्ति एक अच्छा प्रशासक नहीं बन पाता। जिस प्रकार एक कलाकार, कवि या चित्रकार, कला के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करता है, उसी प्रकार एक प्रशासक प्रशासन के माध्यम से अपनी आत्माभिव्यक्ति करता है। उर्विक, ग्लैडन, टीड (Tead) ने भी इसी प्रकार का समर्थन किया है। एक कला के रूप में, प्रशासन, अरस्तू से लेकर वर्तमान समय तक लगातार बना हुआ है।

ग्लेडन ने लिखा है कि "कला मानव की योग्यता से संबंधित ऐसा ज्ञान है जिसमें सिद्धान्त की अपेक्षा अभ्यास पर विशेष बल दिया जाता है।" प्रशासन एक ऐसी कला है, जिसका प्रेरणा स्त्रोत व्यक्ति का अन्तःकरण है। वह व्यक्ति के अनुभव, चातुर्य, निरन्तर विकास, तथा कतिपय सर्वव्यापी निश्चित नियमों के बारम्बार अभ्यास का परिणाम होती है। उसके साक्षात्कार के लिये विशेष पद्धतियों एवं सामग्री की आवश्यकता होती है। ग्लैडन ने उसे एक ऐसी क्रिया माना है जिसे विशेष प्रकार की कुशलता की आवश्यकता होती है। प्लेटो ने "रिपब्लिक" में प्रशासन के लिये लम्बी अवधि के शिक्षण–प्रशिक्षण का प्रावधान किया है। प्रत्येक कला की तरह प्रशासन भी व्यक्ति के जीवन को अधिक सुखद व अधिक सुन्दर बनाना चाहता है अर्थात् वह भी सत्यम, शिवम् और सुन्दरम् की साधना है। उसके लिये एक प्रशासक को कठिन परिश्रम तथा एक दीर्घ कालीन साधना की आवश्यकता होती है।

किन्तु कला विषयक विचार कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण है। जन्म से कोई व्यक्ति सफल प्रशासक नहीं होता। प्रशासन एक ऐसी कला है, जो निपुणता, कुशलता, साधना व अभ्यास द्वारा ही प्राप्त होती है। उसके लिये कठिन साधना व अभ्यास की आवश्यकता होती है किन्तु यह सत्य है कि एक अच्छा प्रशासक बनने के लिये भाव–भरा हृदय, मानवता के प्रति विश्वास, दूरदृष्टि, विवेक आदि गुणों का होना आवश्यक है। एक दृष्टि से प्रशासक अन्य कलाकारों की अपेक्षा अधिक ऊँचा है। अन्य कलाएँ, साहित्य, संगीत आदि अधिकांशतः अमूर्त, अस्थायी, एकांगी और समसामयिक होती है। प्रशासन ठोस और मूर्त रूप से जीवन को अधिक सुन्दर, अधिक आकर्षक तथा अधिक विकासमान बनाने का प्रयास करता है। वह सपनों की दुनिया मे रहने वाला या खो जाने वाला प्राणी न होकर, सपनों को धरती पर उतारने वाला समाजसेवी है। प्रशासक मानव को परलोक के बजाय इसी लोक में सुखी बनाने का सतत् प्रयत्न करता है।

लोक प्रशासन : एक विज्ञान (Public Administration : The Science)

प्राचीनकाल में लोक प्रशासन मूल रूप से एक कला मात्र ही था किन्तु वर्तमान काल मे वह "विज्ञान" कहलाने के

योग्य बन गया है। इस विषय में सभी विद्वान एक मत नहीं हैं और उनके विचार अलग अलग हैं। एक शैक्षिक विषय या ज्ञान की शाखा के रूप में लोक प्रशासन को "विज्ञान" के संबंध में तीन स्थितियाँ अथवा मत पाये जाते हैं –

(क) लोक प्रशासन अभी विज्ञान नहीं है – इस विचार को एफ.डब्ल्यू. टेलर ने वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में रखा था। उसके अनुसार प्रबन्ध मनमानी, स्वेच्छाचारी एवं दाब धौंस वाली युक्तियों से काम लेता है। उसके वास्तविक दायित्व प्रत्येक कार्य तथा उसके अंश के लिये एक वैज्ञानिक माप अथवा "सर्वोत्तम रीति" (One best Way) का विकास करना चाहिये। उर्विक का विचार है कि हमें अभी भी एक सुसंगत और युक्तिसंगत प्रतिमान (Pattern) की आवश्यकता है। इस संबंध में डॉ. एम.पी. शर्मा का मत है कि वर्तमान अवस्था में एक विज्ञान के रूप में वह तथ्य संग्रह मात्र से कुछ अधिक नहीं है।

(ख) लोक प्रशासन विज्ञान बनने की प्रक्रिया में है– चार्ल्स बियर्ड़ ने कहा है कि लोक प्रशासन में पर्याप्त मात्रा में सूक्ष्मता, निश्चितता, एवं पूर्वकथनीयता पायी जाती है। हम जानते हैं कि अच्छे बजट या लेखांकन संबंधी नियमों को पालने का क्या परिणाम होता है ? हम यह भी जानते हैं कि नागरिक सेवा के गठन संबंधी सिद्धान्त का पालन न करने पर प्रशासन का क्या हाल होता है ? हर्बर्ट साइमन ने "प्रशासनिक व्यवहार" (Administrative Behaviour) में परम्परागत धारणाओं की आलोचना करते समय यही दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होंने प्रशासन को विज्ञान बनाने के लिये निर्णय प्रक्रिया (decision-making) सिद्धान्त का विकास किया। जीव विज्ञान या चिकित्सा विज्ञान का दृष्टान्त देते हुये उन्होंने आग्रह किया है कि एक विज्ञान के रूप में लोक प्रशासन को, संगठन में व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन करना चाहिये, तथा उसे प्रशासन को चलाने के लिये क्रियात्मक सुझाव देने चाहिये। एक उभरते विज्ञान के रूप में रे जिनाल्ड ई. गिल्मोर ने लोक प्रशासन को "अन्ततोगत्वा विज्ञान" (An Ultimate Science) कहा है। यह मत "विज्ञान" शब्द को पूर्ण विशुद्धता या सूक्ष्मता से ग्रहण न करके उसे अनुभव व अवलोकन द्वारा प्राप्त क्रमबद्ध ज्ञान के रूप में देखता है।

(ग) लोक प्रशासन विज्ञान है– एफ.मर्सन और गुलिक का यही विचार है। विल्सन और विलोबी उसे बहुत पहले से ही विज्ञान मानते रहे हैं। विलोबी के अनुसार "प्रशासन में सामान्यतः प्रयोग किये जाने वाले ऐसे मूलभूत सिद्धान्त हैं जो किसी भी विज्ञान की विशिष्टता का वर्णन करने वाले लक्षणों के अनुरूप हैं।" सन् 1937 में लूथर, गुलिक तथा एल. उर्विक ने प्रशासन को विज्ञान मानते हुए विद्वानों के लेखों को एकत्रित कर "प्रशासन –विज्ञान पर निबन्ध" (Papers on Sience of Administration) नामक पुस्तक लिखी। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रशासन एवं प्रबन्ध दोनों को, "विज्ञान" माना जाता है। ड्रवाइट वाल्ड़ो ने शासकों को "सामान्यीकरण का विशेषज्ञ" कहा है। ग्लेन नेग्ली ने पूरे जोरदार समर्थन के साथ प्रशासन को विज्ञानों के पद सोपान पर सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। प्रशासन में मानव–ज्ञान का उच्चतम संगठन पाया जाता है। प्रायः ये सभी विद्वान लोक प्रशासन को भौतिक विज्ञान की तरह न मानकर "समाज विज्ञान" के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार लोक प्रशासन मे विज्ञानत्व की विशेषताएँ विद्यमान हैं।

उपर्युक्त वाद विवाद की समस्या के समाधान का मूल आधार "विज्ञान" संबंधी धारणा है। "विज्ञान" शब्द की परिभाषाएँ अनेक प्रकार से दी गई हैं। "विज्ञान" का अर्थ है –"विशेष या क्रमबद्ध ज्ञान" । वह एक दृष्टिकोण, एक प्रमाणित एवं व्यवस्थित ज्ञान तथा खोज करने की पद्धति है। गार्नर के अनुसार, विज्ञान किसी विषय से संबधित उस ज्ञान राशि को कहते हैं जो विधिवत पर्यवेक्षण, अनुभव एवं अध्ययन के आधार पर प्राप्त की गयी हो, तथा जिसके तथ्य परस्पर सम्बद्ध, क्रमबद्ध और वर्गीकृत किये गये हों। विज्ञान इस प्रकार, वह ज्ञान है जो पर्यवेक्षण और प्रयोग पर आधारित हो, भली–भाँति परिक्षित तथा क्रमबद्ध हो, और सामान्य सिद्धान्तों में समाहित हो। वैज्ञानिक ज्ञान तथ्यों के अवलोकन, निश्चित एवं मान्य पद्धतियों के अनुगमन, जाँच तथा निष्पक्ष निष्कर्षण या सामान्य नियमों की प्राप्ति द्वारा उपलब्ध किया जाता है। लोक प्रशासन में ये विषमताएँ काफी मात्रा में पायी जाती हैं। यद्यपि वह भौतिक शास्त्र अथवा रसायन शास्त्र की तरह नहीं है, फिर भी वह ऋतु विज्ञान, खगोल विज्ञान आदि की तरह अवश्य है। लोक प्रशासन में व्यवहारवाद तथा आधुनिक उपागमों के प्रवेश और प्रयोग के पश्चात् विज्ञानत्व की मात्रा निरन्तर बढ़ती जा रही है। अब एक "प्रशासन विज्ञान" के बजाय प्रशासन विज्ञानों का युग आ गया है।

विज्ञानत्व का निषेध

लोक प्रशासन की प्रकृति के विषय में इसे चौथा मत भी मान सकते हैं। कुछ प्रशासनवेत्ता लोक प्रशासन को विज्ञान नहीं मानते। उनका यह भी विश्वास है कि वह कभी भी विज्ञान नहीं बन सकता। मार्शल ई. डिमॉक तथा ड्वाइट वाल्डो का यही विचार है। मोरिस कोहेन व फाइनर प्रशासन को "विज्ञान" के रूप में नहीं मानते। उर्विक के अनुसार लोक

प्रशासन केवल एक कला है तथा अन्य कलाओं की भाँति प्रशासन की कला भी खरीदी नहीं जा सकती। प्रशासन को विज्ञान न मानने के अनेक कारण बताये जाते हैं, यथा– (1) उसके सिद्धान्तों में निश्चितता का अभाव है; (2) उसमें वैज्ञानिक पद्धतियों के अनुसार, पर्यवेक्षण तथा तथ्यों के परीक्षण एवं प्रयोग नहीं किये जा सकते। (3) लोकप्रशासन के सिद्धान्तों में एकरूपता, जाँचशीलता या सत्यापन के गुण नहीं पाये जाते (4) उसमें तथ्य–मूल्यों की पृथकता नहीं पायी जाती, तथा आदर्शों, भावनाओं आदि का मिश्रण पाया जाता है। (5) उसकी मूल विषय–वस्तु "मानव" तथा उसकी स्वेच्छा अत्यन्त स्वतंत्र, गतिमय, परिवर्तनशील तथा अनेक कारणों से प्रभावित होती है। लोक प्रशासन के निष्कर्ष, सिद्धान्त, मान्यताएँ आदि प्रत्येक प्रशासनवेत्ता के साथ बदलती रहती हैं। व्हाइट ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रशासन में सिद्धान्तों (Principles) की खोज को भविष्य में किसी अनिश्चित तिथि तक के लिये छोड़ देना चाहिये।

राबर्ट ए. डाहल (Robert A. Dahl) ने अपने लेख "Science of Administration" में बताया है कि लोक प्रशासन का तुलनात्मक रूप से अध्ययन किये बिना विज्ञान बनाना संभव नही है। विभिन्न देशों के लोक प्रशासनों का अध्ययन करने के पश्चात् ही उसके विषय में सार्वलौकिक एवं व्यापक सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की जा सकती है। हम उस समय तक लोक प्रशासन को विज्ञान नहीं कह सकते "जब तक कि– (क) मानकीय मूल्यों (Normative Values) का स्थान क्या होगा" यह स्पष्ट न किया जाये। (ख) लोक प्रशासन के क्षेत्र में मानव का स्वभाव अच्छी प्रकार न समझा जाये और उसके आचरण को अधिक अच्छी तरह प्रारम्भ से ही अभिव्यक्त न किया जा सके, और (ग) तुलनात्मक अध्ययनों का एक ऐसा निकाय स्थापित किया हो कि जिसके द्वारा ऐसे सिद्धान्तों एवं सामान्य निष्कर्षों का पता लगाना सम्भव हो सके जो राष्ट्रीय सीमाओं तथा विशिष्ट ऐतिहासिक अनुभवों का भी अतिक्रमण कर सकें और उनसे श्रेष्ठ सिद्ध हो। "उर्विक ने भी प्रतिरोध किया है कि लोक प्रशासन में सार्वदेशिक मान्यता प्राप्त सिद्धान्तों का अभाव है। वे प्रायः "लगभग ठीक या संभावित अथवा हो सकता है" जैसी प्रकृति वाले होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि वैज्ञानिक पद्धति की कसौटी पर विभिन्न "तथाकथित" सिद्धान्तों को परखा जाये, तो बहुत कम खरे उतरेंगे। वैज्ञानिक पद्धति के चरण हैं – अवलोकन, तथ्य संग्रह, प्राक्कथन या परिकल्पना (Hypothesis) का निर्माण, प्रयोग या तथ्यों के द्वारा परिकल्पना की जाँच, सारणीकरण, वर्गीकरण, सहसंबंधों (Co-relations) की खोज, तथा जाँच या सत्यापन प्रकाशन अनेक बाह्म कारणों, अबौद्धिक तत्वों तथा अपनी बौद्धिकता, विशेषता और अज्ञान संबंधी त्रुटियों से प्रभावित होता है। उसकी अपनी राजनीति के प्रति अधीनता भी एक बड़ी भारी बाधा है।

विज्ञान बनाना हानिप्रद

एक विचार यह भी प्रकट किया गया है कि लोक प्रशासन को "विज्ञान" बनाने या मानने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिये। उनके अनुसार मानव व्यवहार का पूर्णतः वैज्ञानिक विश्लेषण कभी भी नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा होना संभव भी हुआ तो उससे प्रशासन में कठोरता, रूढ़िवादिता और जड़ता आ जायेगी, जिसमें व्यक्ति को स्वतंत्र चिन्तन के लिये दण्डित किया जायेगा। प्रशासन पूरी तरह अमानवीय होकर कृत्रिम और विखंडित हो जायेगा। शूलर ने उसे "विज्ञान" की संज्ञा प्रदान करने के प्रति खतरों से सचेत किया है कि ऐसा करने से उसका विकास रुक जायेगा। अभी लोक प्रशासन में सर्वत्र प्रयोग किये जा सकने वाले पूर्णतः सत्यापित सामान्य नियम (Principles) नहीं पाये जाते।

वालेस ने अपनी पुस्तक "संघीय विभागीकरण" (Federal Departmentalization) में बताया है कि लोक प्रशासन के सिद्धान्त कोरी काम चलाऊ प्राकल्पनाएँ, प्रस्तावनाएँ, और मान्यताएँ मात्र है। यदि इन्हें वैज्ञानिक नियमों, निष्कर्षों या सामान्यीकरण का रूप दे दिया गया तो इससे प्रशासन में जड़त्व आ जायेगा। उन्हें थोप देना या उनके आधार पर संगठनों का निर्माण एवं संचालन करना सरासर गलत होगा। लोक प्रशासन में व्यापक आधार पर लागू किए जाने योग्य सर्वमान्य या शाश्वत सिद्धान्त नहीं हैं। उसकी शब्दावली अनिश्चित तथा उसकी मान्यताएँ अपरिपक्व हैं। उसे "विज्ञान" कहना अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा मात्र है। लोक प्रशासन को विज्ञान बनाने के लिए जिन सिद्धान्तों की बात की गयी है, उसका मजाक उड़ाते हुए हर्बर्ट साइमन कहते है कि इस आधार पर लोक प्रशासन को विज्ञान नहीं बनाया जा सकता, ये सिद्धान्त नहीं अपितु ये तो मात्र कहावतें हैं।

लोक प्रशासन – एक समाज विज्ञान (Public Administration - A Social Science)

वास्तव में, लोक प्रशासन प्राकृतिक विज्ञानों की श्रेणी में न आकर, समाज विज्ञानों की श्रेणी में आता है। विज्ञान की इन श्रेणियों या वर्गो में "विज्ञानत्व" की मात्रा का ही अन्तर है। लोक प्रशासन को समाज विज्ञान कहने से तात्पर्य यह है कि (1) उसकी गतिविधियाँ तथा संरचनाएँ समाज में रहकर ही तथा समाज के लिये काम करती है। उसका परिवेश एवं पारिस्थितिकी

(Ecology) सामाजिक है, तथा समाज का उस पर प्रभाव पड़ता है। (2) प्रशासन में कार्यशील मनुष्य मूलतः सामाजिक हैं। (3) राज्य के माध्यम से प्राप्त प्रशासन के लक्ष्य समाज के सामान्य लक्ष्यों एवं उद्देश्यों से मेल खाते हैं। (4) समाज विज्ञानों से ही लोक प्रशासन का यथार्थ अध्ययन करते हुए पद्धतियाँ, उपागम, सिद्धान्त आदि उपलब्ध तथा विकसित किये जा रहे हैं; तथा (5) लोक प्रशासन का, कार्यान्वयन से संबंधित होने के कारण समाज विज्ञानों की सार्थकता, एकता तथा यथार्थता प्रकट होती है।

एक सामाजिक विज्ञान के रूप में लोक प्रशासन की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। अन्य अनुशासनों या शैक्षिक विषयों की तुलना में उसकी आयु बहुत कम है और वह अभी तक लगभग शतायु हो पाया है। यद्यपि प्रशासनिक विचारधारा किसी न किसी रूप में सदैव विद्यमान रही है लेकिन एक विषय का स्वरूप कुछ वर्ष पूर्व ही प्राप्त किया है। इस कारण उसे अभी अर्धविकसित विज्ञान अथवा एक विकासमान युवा विज्ञान के रूप में देखा जाना चाहिये। विल्सन के शब्दों में यह "अपनी ही पीढ़ी" में प्राप्त राजनीति विज्ञान का सबसे ताजा फल है। इसके पास रिपब्लिक, पॉलिटिक्स, लेवियाथन जैसे शास्त्रीय (Classical) ग्रंथ नही हैं। दूसरी बात यह है कि यह एक पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है और इसमें प्रयोग के लिये सीमित स्थान है। तीसरे यह "है" और "चाहिये" (is and ought) अथवा तथ्य एवं मूल्य दोनों से संबध रखता हैं। दूसरे शब्दों में यह विधेयकात्मक होने के साथ साथ आदर्शात्मक भी है। अन्त में, इसे एक प्रगतिशील विज्ञान माना जाना चाहिये, जिसके निष्कर्ष, सामान्यीकरण, नियम और सिद्धान्त नये तथ्यों के सन्दर्भ में बार–बार दोहराये जायेंगे। उन्हें विकसित और संशोधित किया जायेगा। एक समन्वयात्मक समाज विज्ञान के रूप में उसका महत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और विभिन्न क्षेत्रों के समाज वैज्ञानिक इसकी ओर आकर्षित होते जा रहे हैं।

लोक प्रशासन का क्षेत्र
(Scope of Public Administration)

लोक प्रशासन के अध्ययन क्षेत्र के विषय में दो शर्तों का ध्यान रखना चाहिये– प्रथम, एक गतिविधि के रूप में तथा दूसरा शैक्षिक विषय के रूप में। गतिविधि के रूप में लोक प्रशासन उतना ही पुराना है जितना स्वयं समाज तथा राज्य। एक शैक्षिक विषय के रूप में लोक प्रशासन अभी हाल ही में पैदा हुआ विषय है। लोक प्रशासन एक शैक्षिक विषय के रूप में सन् 1887 मे पैदा हुआ। इसका जनक वुडरो विल्सन (W. Wilson) को माना जाता है। विल्सन के एक लेख ''प्रशासन का अध्ययन'' (The Study of Administration) से लोक प्रशासन का प्रारम्भ माना जाता है। लोक प्रशासन में पुनः दो दृष्टिकोण पाये जाते हैं– (1) पोस्डकॉर्ब (POSDCORB) या संकुचित दृष्टिकोण, तथा (2) विषयवस्तु (Subject Matter) या व्यापक दृष्टिकोण।

"पोस्डकॉर्ब" (POSDCORB View) दृष्टिकोण

इसे प्रबन्धकीय, इंजीनियरी या अभियांत्रिकी, तकनीकी या सीमित दृष्टिकोण भी कहा जाता है। इसमें लोक प्रशासन की गृह प्रबन्धात्मक या प्रक्रियात्मक गतिविधियाँ शामिल की जाती हैं। लूथर गुलिक ने इन्हें सात अंग्रेजी शब्दों के प्रथम अक्षर से नया शब्द (**POSDCORB**) बनाकर अभिव्यक्त किया है–

1. **(P-Planning) योजना बनाना –** किसी भी कार्य को करने या संगठन को बनाने से पूर्व पहले एक मोटी रूपरेखा बना ली जाती है।
2. **(O-Organising) संगठित करना** – इसमें अधिकारी एवं अधीनस्थ वर्गो का एक संगठन तैयार किया जाता है तथा उसके लक्ष्यों को उपलक्ष्यों में विभाजित किया जाता है।
3. **(S-Staffing) सेवीवर्ग व्यवस्था** – संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये, उसमें लोकसेवकों की नियुक्ति, प्रशिक्षण, वित्त आदि की व्यवस्था की जाती है।
4. **(D-Directing) निर्देशन –** इसका सम्बन्ध प्रशासनिक निर्णय लेने, आदेश–निर्देश देने, सूचना प्राप्त करने आदि से है।
5. **(Co-Ordinating) समन्वयन –** इसके द्वारा संगठन के विभिन्न भागों, क्रियाओं एवं गतिविधियों में तालमेल बिठाया जाता है।
6. **(R-Reporting) प्रतिवेदन तैयार करना** – इसमें प्रशासनिक अधिकारी अपने उच्चाधिकारियों को अपने कार्यों के संबंध में प्रतिवेदन देते रहते है। इसका उद्देश्य जाँच, अनुसंधान, निरीक्षण आदि होता है।
7. **(B-Budgeting) बजट बनाना –** इसके अन्तर्गत आगामी समय के लिये प्रशासनिक कार्यो के लिये आय–व्यय का ब्यौरा तैयार किया जाता है। प्रत्येक लोकनीति को कार्यान्वित करने के लिये वित्त की आवश्यकता होती है।

पोस्डकोर्ब विचारधारा प्रशासन के "कैसे" (how) से संबंध रखती है। इसका समर्थन हेनरी फेयोल, उर्विक, मूने, रिले, विलोबी आदि के विचारों में भी पाया जाता है। पर्सी मैक्वीन ने भी प्रशासन को "मनुष्य, सामग्री एवं पद्धति" का अधिकतम उपयोग बताया है। यह प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण है जिसका

उद्देश्य "कार्य कराने" से है। विलोबी अपने विचारों को प्रशासन के सिद्धान्त या नियम कहता है। वह प्रशासन में निम्नलिखित बातें शामिल करता है।

(1) सामान्य या गृह प्रबन्धात्मक प्रशासन

(2) संगठन

(3) सेवीवर्ग प्रबन्ध

(4) सामग्री प्रदाय (Supply) तथा,

(5) वित्त प्रबन्ध

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि संगठनों के प्रशासन में ये सभी क्रियाएँ सामान्य रूप से पायी जाती हैं। प्रायः प्रबन्ध इन्हीं कार्यों पर अधिक ध्यान देता है

किन्तु पोस्डकॉर्ब विचार की कड़ी आलोचना की जाती है। लेविस मेरियम का विचार है कि "प्रशासन का जिन विषयों से सम्बन्ध होता है, उनका पूर्ण ज्ञान प्रशासन की वास्तविकता को समझने के लिये आवश्यक होता है, जबकि लूथर गुलिक ने विषय के ज्ञान के बारे में कुछ नहीं कहा है।" प्रशासन, दो फलकों वाली कैंची के समान है। एक फलक, पोस्डकॉर्ब द्वारा बताया जाने वाला ज्ञान हो सकता है, किन्तु दूसरा फलक उस विषय–सामग्री का ज्ञान है जिस पर इन प्राविधियों का उपयोग किया जाता है। उस औजार को प्रभावशील बनाने के लिये दोनों फलकों का अच्छा होना आवश्यक है। वस्तुतः लूथर गुलिक का विचार सैद्धान्तिक अधिक है। विषय–सामग्री के ज्ञान के बिना सफलता की अधिक आशा नहीं की जा सकती। प्रशासन में मानवीय तत्व का भी बड़ा महत्त्व है। सन् 1927 से 1932 के मध्य किये हॉथोर्न प्रयोगों का यही परिणाम था । उत्पादकता पर तकनीकों के बजाय सामाजिक पर्यावरण, परिवर्तनों तथा नेतृत्व का अधिक प्रभाव पड़ता है। गुलिक ने स्वयं स्वीकार किया है कि सन् 1930 और सन् 1940 का लोक प्रशासन सन् 1960 में सफल नहीं हो सकता । इन सबके अतिरिक्त लोक प्रशासन में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों (ecology) का अध्ययन शामिल किया जाना चाहिए।

विषय–सामग्री दृष्टिकोण (Subject Matter Views) :-

यह दृष्टिकोण संयुक्त राज्य अमेरिका के बाहर अधिक अपनाया गया है। इसमें पोस्डकॉर्ब की अधिकांशतः गृह प्रबन्धात्मक सेवाओं का ज्ञान तो शामिल किया ही जाता है, परन्तु साथ ही साथ उसमें सेवाओं, सूत्र तथा उनके कार्यक्रमों को भी महत्त्व दिया जाता है। वह इन प्रक्रियाओं को शाश्वत अथवा सार्वभौम नहीं मानता । उसका विश्वास है कि विभाग या संगठन की प्रकृति एवं आवश्यकता के अनुसार इनके स्वरुप में भी परिवर्तन होता रहता है। इसे लोक प्रशासन के अध्ययन का क्रियात्मक अथवा प्रयोगात्मक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। वाकर ने लोक प्रशासन में अनेक विषयों एवं विभागों के अध्ययनों को शामिल किया है, यथा–राजनीतिक, विधायी, वित्तीय, प्रतिरक्षात्मक, शिक्षा, अर्थशास्त्र, सामाजिक, विदेश–नीति साम्राज्य सम्बन्धी तथा स्थानीय ।

एम. मार्क्स के शब्दों में "अपनी पूर्णतम परिधि में लोक प्रशासन में वे सभी क्षेत्र आ जाते हैं, जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक नीति के साथ है। परन्तु स्थापित चलन के अनुसार, "लोक प्रशासन से ऐसे संगठन सेवी वर्ग–व्यवहार, तथा प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है, जो कार्यपालिका शाखा को सौंपे गये असैनिक कार्यों के प्रभावपूर्ण निष्पादन के लिये आवश्यक है।" फिफनर ने लिखा है कि उसका सम्बन्ध सरकार के "क्या" और "कैसे" के साथ हैं। "क्या" के अन्तर्गत क्षेत्र की विषयवस्तु और तकनीकी ज्ञान शामिल है, जिससे प्रशासन को अपने कार्यों के निष्पादन की क्षमता प्राप्त होती है। "कैसे" से प्रबन्ध की तकनीकियों का बोध होता है। आजकल विषय–सामग्री दृष्टिकोण को अधिक प्राथमिकता दी जाती है।

आदर्शात्मक दृष्टिकोण (Idealistic Views)

आदर्शवादी दृष्टिकोण लोक प्रशासन में दर्शनशास्त्रीय, मूल्यांकन अथवा नैतिक भाग को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। वह लोक प्रशासन के विचारात्मक अथवा विश्लेषणात्मक तत्वों पर अधिक बल देता है। उसके अनुसार, प्रशासन के लक्ष्य और राज्य के लक्ष्यों में समानताएँ होती हैं, किन्तु उसमें अन्तर भी पाया जाता है। "प्रशासन" को एक पृथक संगठन मानना चाहिए। उसका उद्देश्य कतिपय मूल्यों को क्रियान्वित करना होता है। प्रशासन को इन मूल्यों की दृष्टि से गठित, संचालित, एवं अभिप्रेरित किया जाना चाहिए।

उक्त सभी दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। वस्तुतः ये एक दूसरे के पूरक हैं। फेलिक्स ए. नीग्रो द्वारा बताये गये पहलुओं को जानने के पश्चात् लोक प्रशासन का क्षेत्र निम्न प्रकार से अंकित किया जाना चाहिये–

(1) लोक प्रशासन सरकारी ढाँचे में एक सहकारी समूहात्मक प्रयत्न है।

(2) यह कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका तीनों शाखाओं तथा उनके परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

(3) यह सरकारी नीति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है और इस प्रकार यह राजनीतिक प्रक्रिया का एक अंग है।

(4) यह निजी प्रशासन से अधिक महत्त्वपूर्ण है तथा उल्लेखनीय रूप से उससे भिन्न भी है।

(5) वह मानव सम्बन्धवादी दृष्टिकोण से बहुत प्रभावित हुआ है,

(6) समाज को सेवाएँ प्रदान करने में, वह अनेक निजी वर्गों एवं व्यक्तियों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहता है।

लोक प्रशासन में इस प्रकार निम्नलिखित विषयों का अध्ययन किया जाता है–

(1) कार्यपालिका का स्वरूप, प्रक्रिया तथा दायित्व

(2) सरकार का ''क्या'' और ''कैसे'', अर्थात् विषय–सामग्री एवं तकनीकों आदि का अध्ययन,

(3) सामान्य प्रशासन – अर्थात् प्रशासन के ऊपर निर्देशन, निरीक्षण तथा नियन्त्रण,

(4) लक्ष्यों को प्राप्त कराने वाले विभिन्न प्रकार के संगठन

(5) सेवी–वर्ग प्रबन्ध,

(6) अपने दायित्वों को पूरा करने के लिये सेवी–वर्ग को दी जाने वाली सामग्री, यन्त्र, साज–सज्जा आदि।

(7) वित्त,

(8) प्रशासकीय उत्तरदायित्व का लेखा (Accountabilitly),

(9) मानव–व्यवहार तथा मानव–सम्बन्ध

(10) प्रशासन–विज्ञान द्वारा विकसित विभिन्न सिद्धान्त, उपागम, प्राविधियाँ आदि,

(11) प्रशासन के लक्ष्यों, मानकों एवं मूल्यों का अध्ययन,

(12) प्रशासन के पर्यावरण तथा अन्य समाज व्यवस्थाओं से उसके सम्बन्ध,

राजनीति और लोक प्रशासन (Politics and Administration)

प्रशासन को कार्यकुशल और मितव्ययी बनाने के लिये उसे राजनीति से पृथक रखना आवश्यक माना जाता है। कतिपय प्रशासन–वेत्ताओं का विचार है कि लोक–प्रशासन को एक ''विज्ञान'' का स्तर तब ही प्राप्त हो सकता है, जबकि वह अपने आपको राजनीति से अलग रखे। लोक प्रशासन एवं राजनीति का पृथक्करण अमेरिकी संरक्षणता विरोधी (Anti Patronage Movement) अथवा लूट प्रणाली विरोधी आन्दोलन, शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का परिणाम है। राष्ट्रपति के परिवर्तन के साथ समस्त कर्मचारियों का दलीय आधार पर परिवर्तन करने से अमेरिकी प्रशासन रसातल में पहुँच गया था। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रशासन को सर्वथा तटस्थ (Neutral) बनाने का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इसकी प्रेरणा मुख्यतः यूरोपीय देशों से प्राप्त हुई। धीरे–धीरे यह विचारधारा बनती गयी कि ''राजनीति'' और ''प्रशासन'' अर्थात् नीति–निर्धारण'' और ''नीति–क्रियान्वयन'' की प्रकृति अलग–अलग है तथा उनके क्षेत्र भी पृथक हैं। ऐसा कर लेने से प्रशासन की कार्यकुशलता बढ़ जायेगी।

इस प्रकार, राजनीति और प्रशासन के सम्बन्धों को लेकर दो दृष्टिकोण पाये जाते हैं – एक उनको पृथक मानता है तो दूसरा उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध पाता है। यहाँ इसी राजनीति–प्रशासन द्विभाजन (Politics Administration Dichotomy) पर विचार किया जायेगा।

पृथक्करण सम्भव एवं वांछनीय

राजनीति और प्रशासन के पृथक्करण का सबसे बड़ा प्रवक्ता वुडरो विल्सन है। उसने कहा है कि प्रशासन राजनीति के क्षेत्र से बाहर है। वह व्यापार के क्षेत्र के समान है और उसका कार्य कानूनों का क्रियान्वयन है। प्रशासनिक प्रश्न राजनीतिक प्रश्न नहीं होते । भले ही राजनीति प्रशासन को कार्य एवं लक्ष्य बताती हो, किन्तु उसे कार्य में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। ब्लंश्ली ने बताया है कि ''राजनीति महान और शाश्वत विषयों में राज्य की क्रिया है, प्रशासन व्यक्तिगत और छोटे विषयों में राज्य की क्रिया है।'' प्रो. गुडनाउ ने भी कहा है कि ''सत्य यह है कि प्रशासन का एक बहुत बड़ा भाग राजनीति से असम्बन्धित है।'' राजनीति और राजनीतिज्ञ की प्रकृति, कार्यक्षेत्र तथा लक्ष्य अलग होते हैं। राजनीति दलीय, परिवर्तनशील शक्ति व प्रभाव से सम्बद्ध, तथा प्रशासन की अपेक्षा उच्चस्तरीय एवं सामान्य जन से सम्बन्धित होती है। उसकी प्रमुख विशेषता सामान्य जनता के विचारों और संकल्पों को जानना, उसकी इच्छाओं में ऐक्य व समीकरण स्थापित करना तथा उसका विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये नेतृत्व करना होता है। राजनीति औपचारिक सत्ता प्राप्त करके प्रशासन पर नियन्त्रण स्थापित कर लेती है और फिर उसका अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निर्देशन करती रहती है। राजनीतिज्ञ जन–आकांक्षाओं के पारखी होते हैं और अब जन–नेतृत्व के द्वारा सत्ता प्राप्ति के लिये शक्ति संघर्ष में जुटे रहते हैं। प्रशासन की दृष्टि से उनका ज्ञान सामान्य होता है। वे बदलते हुए सत्तारूढ़ नौसिखिये होते हैं। राजनीतिज्ञों का लक्ष्य जन–समर्थन के माध्यम से शक्ति प्रदान करना होता है।

प्रशासन का सम्बन्ध विधि के कुशल एवं मितव्ययी क्रियान्वयन से होता है। प्रशासक प्रशिक्षित, विशेषज्ञ एवं दक्ष होता है। उसका परिपेक्ष्य सीमित, समस्याएँ विशिष्ट, तथा समाधान सुपरिभाषित होते हैं। जनता का उसके साथ एक विशेष अंश

या क्षेत्र में ही सम्पर्क होता है। वह राजनीतिज्ञों के अर्थात् नीति–निर्माताओं के अधीन रहता है, और अपनी विशेषता एवं अनुभव के आधार पर उनको परामर्श देता है। वह नीति निर्माण में सहायता देने के लिये तथ्य, आँकड़े तथा जनता की प्रतिक्रियाओं के अभिलेख रखता है। वे विशिष्ट सेवा नियमों के अधीन रहते हुए एक वेतनभोगी लोकसेवक के रुप में आजीवन अर्थात् सेवानिवृत्त होने तक विभिन्न पदों पर कार्य करते रहते हैं। उनका लक्ष्य निर्धारित लक्ष्यों का कुशल क्रियान्वयन करते हुए पदों के सोपान पर ऊँचे चढ़ते जाना होता है।

इस तरह दोनों के लक्ष्य, कार्य, प्रकृति और क्षेत्र सर्वथा अलग–अलग दिखायी पडते हैं। दोनों एक दूसरे का कार्य नहीं कर सकते। एक साथ ही व्यक्ति का प्रभावशाली राजनेता होना, साथ ही कुशल प्रशासक भी होना एक दुर्लभ बात है। प्रशासन, एक प्रशासक या लोक सेवक को राजनीतिज्ञ या राजनेता बनने की अनुमति नहीं देता। इसी प्रकार राजनीति की प्रकृति और क्षेत्र एक लम्बी अवधि तक लोक सेवक रह चुकने वाले व्यक्ति को राजनेता बनने के अयोग्य बना देती है। राजनीति में प्रति माह वेतन, सैकड़ों अधीनस्थों की सेवा और ''जी–हजूरी'', मोटर और मकान की सुविधाएँ, सुरक्षित भविष्य आदि नहीं मिलते। राजनीतिज्ञ अपने सिर मौत और अनिश्चित भविष्य का साया, अपमान और विरोध की छाया, तथा आर्थिक संकटों को साथ लिये घूमता है। तात्पर्य यह है कि प्रशासन और राजनीति अलग–अलग प्रकृति के हैं, और उन्हें अलग–अलग ही रखा जाना चाहिए। ऐसा करना दोनों के हित में है तथा ऐसा न करना दोनों को लक्ष्यों से पथभ्रष्ट कर देना है। प्रशासन का राजनीतिकरण तथा राजनीति का प्रशासनीकरण नहीं होना चाहिए। नीति निर्माण सामान्य होता है, प्रशासन विशिष्ट।

राजनीति और प्रशासन में घनिष्ठ सम्बन्ध

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि राजनीति और प्रशासन का घनिष्ठ सम्बन्ध है और रहना चाहिए। इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। इनके पृथक्करण को सम्भव मानना या ऐसा करना अवास्तविकता के अंधेरे में सिर टकराने के बराबर है। लूथर गुलिक ने राजनीति को जनता के नियन्त्रण के रूप में देखकर कहा है कि ''राजनीति को प्रशासन से बाहर नहीं किया जा सकता और न प्रशासन को राजनीति से, क्योंकि निश्चित रूप से कोई भी नियन्त्रण को समाप्त नहीं करना चाहता और प्रशासकों को स्वेच्छा से कार्य करने के लिये स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहता। ऐसा करना घड़ी को पीछे घुमाने की तरह होगा, और वर्षों के पश्चात् मानव जाति को प्राप्त एक मूल्यवान् पारितोषिक को फेंक देना होगा।'' विलोबी ने स्वविवेक (Discretion) की दृष्टि से बताया है कि राजनीति में स्वविवेक की मात्रा अधिक होती है किन्तु प्रशासन के संचालन के लिये भी कुछ न कुछ मात्रा में स्वविवेक का त्याग किया जाना अनिवार्य होता है। स्वविवेक का प्रयोग करते समय दोनों समान हो जाते हैं। लेसली लिपसन ने कहा है कि शासन के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया ही नहीं जा सकता। शासन एक निरन्तर प्रक्रिया है। नीति–निर्धारण उसका एक पहलू है और नीति का क्रियान्वयन करना दूसरा।

जब तक सरकार के द्वारा लोकनीति के निर्धारण की प्रक्रिया पूरी की जाती है तब तक उसके कार्य राजनीति के अन्तर्गत आते हैं और लोक नीति के निर्धारण के पश्चात् उसके कार्यान्वयन की प्रक्रिया लोक प्रशासन के अन्तर्गत मानी जाती है। यह अन्तर केवल सैद्धान्तिक है। लोकनीति के निर्धारण में प्रशासन सहायता करता और परामर्श देता है। राजनीतिज्ञ मन्त्री के रूप में विभागों और मन्त्रालयों को सम्भालता है और लोक प्रशासक का काम करता है। विधानमंड़ल प्रायः कानून की मोटी–मोटी रूपरेखाएँ ही बना पाते हैं, उनको विस्तार देने तथा उनके अन्तर्गत नियम–उपनियम बनाने का काम प्रशासक ही करते हैं। ऐसा करते समय उन्हें राजनीतिज्ञों के दृष्टिकोण को सामने रखना होता है। प्रशासन करते समय उनकी स्थिति ''निर्णय–कार्य–निर्णय–कार्य'' की होती है। वस्तुतः अब शासन का स्वरूप अधिकाधिक आर्थिक होता जा रहा है और उसमें ''राजनीति'' और ''प्रशासन'' जैसे भेद के लिये कोई स्थान नहीं है। अब तो प्रशासन को ही बहुत कुछ करना होगा।

गौस ने ''शासन की प्रक्रिया के सिद्धान्त'' में तीन बातें–निदान या पहचानना (Diagnosis), नीति–निर्धारण, तथा सुधार (Revision) बताते हुए कहा कि विधायी नेताओं को केवल कानून बनाकर ही नहीं रह जाना चाहिए, अपितु उन्हें कानूनों के क्रियान्वयन, तथा प्रशासनिक अनुभव के आधार पर उनके सुधार के लिये भी उत्तरदायी बनाया जाना चाहिए। डिमॉक ने लोक प्रशासन के विषय के रूखे–सूखे लगने का कारण उनके राजनैतिक तथा आर्थिक पहलुओं को भूल जाना बताया है। यह राजनीति विज्ञान को समझने के लिये अत्यावश्यक विषय है। लोक प्रशासन राजनैतिक प्रक्रिया का अभिन्न भाग है। सार्वजनिक नीति–निर्माण में विभिन्न हितों एवं दृष्टिकोणों को समाहित किया जाता है, किन्तु समूहों और व्यक्तियों के हित विधानमंडलों के द्वार तक सीमित नहीं रह जाते। वे अन्तिम छोर तक उसका पीछा करते हैं। प्रशासन भी कदम–कदम पर प्रदत्त स्वविवेक का प्रयोग कानूनों का निर्वचन करता है। इन क्षेत्रों में वह जनहित के प्रति

उत्तरदायी होता है। इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिये वह भी अनेक पद्धतियों एवं प्रविधियों का उपयोग करता है। लोक प्रशासन स्वयं एक मानव समूह भी होता है, जिसकी अपनी महत्त्वाकांक्षा, लक्ष्य और दावे होते हैं, तथा वह इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

''प्रशासन की राजनीति'' के विषय में डिमॉक ने बताया है कि ''लोक प्रशासन को समझने के लिये राजनीति को समझना आवश्यक है।'' प्रशासन नीति–निर्माण और (कई बार) विधायन में पहल करता है, तथा निर्मित विधि को विस्तार देता है। वह एक ओर दबाव समूहों का प्रतिनिधित्व करता है तो दूसरी ओर स्वयं भी एक दबाव–समूह होता है। उसे राजनीतिक दलों के द्वन्द्वों में अपनी अलग समरनीति बनानी तथा मोर्चाबन्दी करनी पड़ती है। वस्तुतः प्रशासन को राजनीति से अलग किया ही नहीं जा सकता। समस्त शासन ही एक प्रकार से ''राजनीति'' होता है। प्रशासकों को भी विधायकों, अपने सदस्यों और जनता का समर्थन प्राप्त करना पड़ता है। अपने क्रियान्वयन तथा अपने आपको प्रभावपूर्ण बनाने के लिये उसे चारों ओर निगाहें दौड़ानी पड़ती हैं। नीति निर्माता या प्रशासक एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ''राजनीति और नीति–निर्माण का न प्रारम्भ होता है और न अन्त होता है।'' पॉल एपिलबी ने भी कहा है कि सफल प्रशासक राजनीतिज्ञ भी होता है। ''शासकीय होने के कारण, समस्त प्रशासन तथा समस्त नीति–निर्माण राजनैतिक होता है, यद्यपि जनता उसके एक विशेष भाग को ही ऐसा मानती है।'' व्हाइट ने सही कहा है कि प्रशासन के प्रयोजन, अन्ततोगत्वा स्वयं राज्य के ही प्रयोजन होते हैं। राजनीति विभिन्न स्तरों पर प्रशासन को समर्थन व सहायता देती है। इनमें एक निरन्तरता पायी जाती है। सरकार एक निरन्तर प्रक्रिया "A continuous Process" है। नीति–निर्माण में भाग लेने एवं स्वविवेकीय शक्तियों का प्रयोग करने की दृष्टि से प्रशासन राजनीतिपूर्ण तो हो ही जाता है, साथ ही लोक सेवक जब मंत्रियों, विधायकों एवं हित–समूह को भी प्रभावित करना शुरू कर देते हैं, उस समय भी उनका राजनीतिक स्वरूप छिपा नहीं रहता ।

सन्तुलित मत (Balanced View)

निष्कर्ष यह है कि राजनीति और प्रशासन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये एक दूसरे के सहयोग पर निर्भर है। एक दूसरे को समझे बिना वे प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं कर सकते। राजनीतिज्ञों को चाहिए कि वे प्रशासन के स्वरूप और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नीति–निर्माण करें। इसी प्रकार प्रशासक को चाहिए कि वे नीतियों एवं विधियों के क्रियान्वयन में राजनीतिज्ञों एवं उससे सम्बन्धित जन–आकांक्षाओं को ध्यान में रखे। यद्यपि राजनीति की स्थिति सत्ता, प्रभाव, नियन्त्रण आदि की दृष्टि से प्रशासन के ऊपर होती है, किन्तु प्रशासन अर्थात संगठन, विशेषज्ञता, कार्य–विभाजन तथा क्रियान्वयन के बिना वह निष्फल हो जाती है।

फिर भी, जनहित की पूर्ति एवं प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन की दृष्टि से आवश्यक है कि प्रशासन से मंत्रणा करने तथा विवेकपूर्ण नीति–निर्माण कर चुकने के बाद राजनीतिज्ञों को, क्रियान्वयन में हस्तक्षेप, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, नहीं करना चाहिए। ये विशेष परिस्थितियाँ नीतियों के प्रभावपूर्ण कार्यान्वयन से ही सम्बद्ध होनी चाहिए। बिना कारण हस्तक्षेप करना अपने ही पाँव में कुल्हाड़ी मारने के बराबर है, क्योंकि इससे उनकी तथा शासन की प्रतिष्ठा गिर जाती है। भविष्य में, वे प्रशासन के औजारों से काम नहीं ले सकते क्योंकि वे भौंटे हो चुकते हैं। उन्हें अपने अस्त्रों को तेज करना चाहिए, भौंटा नहीं। प्रशासकीय शस्त्रों पर पूरी तरह नियन्त्रण भी रखना चाहिए। प्रशासकीय राजनीति को सामान्य राजनीति के अधीन रहना चाहिए।

मितव्ययता और कार्यकुशलता की ओट में छिपे प्रशासन को राजनीति से दूर मानना एक भारी भूल है। ऐसा प्रशासन स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश हो जाता है। विधानमण्डल तो सामान्य एवं अमूर्त कानून बनाकर रह जाता है, जबकि प्रशासन सैकड़ों–हजारों व्यक्तिगत मामलों में निजी रूप से उन्हें अगणित रंगों एवं उतार–चढ़ावों के साथ लागू करता है। निर्धारित विधि ा और प्रक्रिया को लागू करते समय प्रशासन न्यायपालिका की तुलना में अधिक स्वतन्त्र तथा प्रभावपूर्ण होता है।

नव लोक प्रशासन
(The New Public Administration)

पश्चिम, विशेषतया संयुक्त राज्य अमेरिका में गत शताब्दी के सातवें और आठवें दशक अशांति के समय थे। अन्य सामाजिक विज्ञानों, जैसे–मनोविज्ञान, समाज शास्त्र तथा राजनीति विज्ञान की भाँति लोक प्रशासन भी इस क्रांतिकारी समय से प्रभावित तथा झकझोरित हुआ। राबर्ट टी. गोलमब्यूस्की के अनुसार, लोक प्रशासन के लिए इस शताब्दी का सातवाँ दशक युद्ध के समान था। लोक–प्रशासन के पुराने सिद्धान्तों– मितव्ययिता तथा कार्य कुशलता को लोक प्रशासन के क्रिया–कलापों के ध्येयों के रूप में अपर्याप्त और अपूर्ण पाया गया।

सातवें दशक के अंतिम वर्षों में कुछ विद्वानों, विशेषतया युवा वर्ग ने लोक–प्रशासन के मूल्यों और नैतिकता पर विशेष बल देना आरम्भ कर दिया। यह कहा जाने लगा कि कार्य–कुशलता ही समूचा लोक प्रशासन नहीं है। समस्त प्रशासनिक क्रिया–कलापों का केन्द्र है – ''मनुष्य'' जो एक बहुत ही जटिल प्राणी है और

यह जरूरी नहीं है कि वह सदा उन आर्थिक कानूनों जिनका प्रतीक ''कार्यकुशलता'' है, के अधीन हो। अतः लोक प्रशासन को मूल्योन्मुखी होना चाहिए। इस प्रवृत्ति को ''नव लोक प्रशासन'' का नाम दिया गया।

1971 में एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका शीर्षक था – टुवर्ड ए न्यू पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन : दि मिन्नोब्रुक परस्पेक्टिव ("Toward a New Public Administration": The Minnowbrook Perspective) जिसका सम्पादन फ्रेंक मेरीनी (Frank Marini) ने किया था। इसी प्रवृत्ति को आगे बढ़ाते हुए लगभग इसी समय अर्थात् 1971 में एक अन्य पुस्तक प्रकाशित हुई। इसका शीर्ष था – पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन ए टाइम ऑफ टरब्यूलेन्स "Public Administration in time of Turbulance जिसका सम्पादन डूवाइट वाल्डो ने किया था। ये पुस्तकें उन विचारों का प्रतिनिधित्व करती थीं जिनको लोक प्रशासन पर 1968 में हुए शैक्षिक सम्मेलन, मिन्नोब्रुक कान्फ्रेंस (Minnowbrook Conference) में व्यक्त किया गया था। यह आन्दोलन उस समय की सामाजिक खलबली का अंग था।

यद्यपि गोलमब्यूस्की का विचार था कि नया लोक प्रशासन एक अस्थायी या अल्पकालीन घटना है और बुद्धिमता इसी में है कि इसकी याददाश्त को और अधिक ओझल होने के लिए छोड़ दिया जाए। किन्तु यह अभी तक स्थिर है, जैसा कि इस आन्दोलन के एक नेता एच. जॉर्ज फ्रेडरिक्सन (George Frederickson) के द्वारा सन् 1980 में प्रकाशित एक पुस्तक से पता चलता है।

लोक प्रशासन की भाँति, नया लोक प्रशासन लक्ष्योन्मुखी तथा परिवर्तनोन्मुखी है। किन्तु विकास प्रशासन के विपरीत नया लोक प्रशासन उन प्रक्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित करता है जो लोक प्रशासनिक संगठनों को, विशेषतया पश्चिमी देशों में, अधिक सकारात्मक तथा क्रियाशील बना सकें।

ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं जिस पर नये लोक प्रशासन के सभी समर्थक सहमत हो। यहां तक कि केन्द्रीय मुद्दों और मुख्य विशेषताओं पर भी उनमें असहमति है। किन्तु गोलमब्यूस्की नये लोक प्रशासन के तीन ''प्रतिलक्ष्य'' (Antigoals) जिनको वे रद्द करते हैं और पाँच ''लक्ष्य'' (जिनका वे समर्थन करते हैं) मानते हैं। तीन ''प्रतिलक्ष्य'' इस प्रकार हैं–

(1) लोक प्रशासन का साहित्य प्रत्यक्षवाद का विरोधी है, जिसका अभिप्राय है –

(क) वे लोक प्रशासन की इस परिभाषा को, कि यह मूल्य रहित है, रद्द करते हैं।

(ख) वे मानव जाति के बुद्धिवादी और सम्भवतः निश्चयवादी दृष्टिकोण को रद्द करते हैं।

(ग) वे लोक प्रशासन की कोई भी ऐसी परिभाषा जो अच्छी प्रकार नीति में लिपटी हुई न हो (जैसा कि राजनीति–लोक प्रशासन विभाजन में था) रद्द करते हैं।

(2) नया लोक प्रशासन तकनीकी–विरोधी हैं, अर्थात् वे इस बात को बुरा मानते हैं कि मनुष्य को मशीन के तर्क तथा व्यवस्था पर बलिदान कर दिया जाए।

(3) नया लोक प्रशासन नौकरशाही और पदानुक्रम का भी थोड़ा बहुत विरोधी है।

गोलमब्यूस्की के अनुसार सकारात्मक दृष्टि से नये लोक प्रशासन की पाँच विशेषताएँ अथवा लक्ष्य हैं–

(1) नया लोक प्रशासन यह मानता है कि मानव जाति में सम्पूर्ण बनने की सामर्थ्य है। यह उस दृष्टिकोण के विपरीत है, जो मनुष्यों को उत्पादन का कमोबेश गतिहीन या स्थिर तत्व मानता है।

(2) मानव स्वभाव का उपर्युक्त दृष्टिकोण जो ''सम्भव होना'' या ''विकास होना'' पर भी बल देता है संस्थानों की सतर्कता के प्रश्न को सामने लाता है। विलियम (William) का कथन है कि "नये लोक प्रशासन की अनिवार्य विशेषता यह है कि वह प्रशासनिक यत्नों की प्रक्रियाओं, ढाँचों तथा उसके लक्ष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर अधिक स्पष्ट और सच्चा चिन्तन करता है। साथ ही यह उन लक्ष्यों का नैतिक आधार पर चयन अधिक सचेत और सूझ–बूझ द्वारा करता है।" यह व्यक्तिगत तथा संगठनात्मक मूल्यों या नैतिकता की केन्द्रीय भूमिका पर भी बल देता है।

(3) नये लोक प्रशासन के समर्थकों ने ''सामाजिक न्याय'' को मानवीय विकास का पथ–प्रदर्शन करने हेतु सर्वोत्तम सामान्य वाहक समझा। अतः सामाजिक न्याय की प्राप्ति ही लोक प्रशासन का ध्येय होना चाहिए। सामाजिक न्याय का अर्थ है कि लोक प्रशासकों को चाहिए कि वह समाज के अल्प सुविधा वाले वर्गों के हिमायती बनें। वे सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन के सक्रिय एजेन्ट होने चाहिए। भूतकाल में लोक प्रशासन ने सरकार के सामाजिक उद्देश्यों के क्षेत्र में मूल्यों के प्रश्न की अवहेलना की है और सरकारी अधिकारियों ने सामाजिक न्याय की उपेक्षा करके कार्य–कुशलता तथा कार्यों की मितव्ययिता पर प्रायः बल दिया है।

फ्रेडरिक्सन (Fredrickson) का विचार है कि लोक सेवाओं का प्रभाव सेवाओं का फल प्राप्त करने वाले नागरिकों पर एक जैसा नहीं होता, वह उनके सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति के आधार पर भिन्न–भिन्न होता है। जिनकी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थिति ऊँची होती है, गुणवत्ता की दृष्टि से उनको अधिक सेवाएँ प्राप्त होती हैं। लोक प्रशासन का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह इस प्रवृत्ति का विरोध करे। सरकारी अधिकारी को चाहिए कि वह निष्पक्षता का आवरण हटा दें। सामाजिक और अन्य कार्यक्रमों को लागू करते हुए उन्हें चाहिए कि वह अपनी स्वेच्छा का प्रयोग समाज में अल्प सुविधाओं वाले समूहों के हितों की रक्षा करने और बढ़ावा देने के लिये करें।

(4) नया लोक प्रशासन निश्चित रूप से सम्बन्धात्मक है। यह ग्राहक केन्द्रित दृष्टिकोण पर बल देता है। न केवल ग्राहकों अथवा नागरिकों की आवश्यकताओं को सेवा और सामान द्वारा पूरा करने पर बल देता है, अपितु वह इस बात पर भी बल देता है कि नागरिकों को यह बताने का अधिकार होना चाहिए कि उनको क्या, किस प्रकार और कब चाहिए। नीग्रो और नीग्रो (Nigro & Nigro) के शब्दों में "लोक सेवाओं के अधिक प्रभावशाली तथा मानवीय वितरण के हित में वे इस बात की सिफारिश करते हैं कि ग्राहक केन्द्रित प्रशासन के साथ–साथ प्रशासनिक प्रक्रिया में विकेन्द्रीकरण, लोकतांत्रिक ढंग से निर्णय करना और नौकरशाही प्रवृत्ति को दूर करना भी होना चाहिए।"

नये लोक प्रशासन के संबंधनात्मक दबाव का अभिप्राय प्रशासनिक अध्ययन और व्यवहार को एक बड़ा मोड़ प्रदान करना है। यह प्रशासनिक कार्य के परिणामों की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि नागरिकों के व्यवहार और चरित्र पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है। गोलमब्यूस्की का कहना है कि "इसका अर्थ यदि समूचे तौर पर नहीं, तो केन्द्रीय विषय की दृष्टि से लोक प्रशासन को सिर के बल खड़ा कर देना होगा कि प्रशासन महत्त्वपूर्ण मार्गों में राजनीति को बदल सकता है, न कि राजनीति, प्रशासन को।"

(5) फ्रेडरिकसन का यह भी कथन है कि नये लोक–प्रशासन के सिद्धांत के अधीन कार्यपालिका और विधानमण्डल के परम्परागत कार्यों में परिवर्तन ही किया जायेगा।

नव लोक प्रबन्ध
(New Public Management)

लगभग 20 वीं शताब्दी के आठवें दशक के अन्त में और नौवें दशक के प्रारम्भ में लोक प्रशासन में लोक प्रबन्ध (Public Management) जैसी प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होने लगी। नव लोक प्रबन्ध का जन्म डेविड ओसबर्न और टेड गेब्लर (David Osborne and Ted Gaebler द्वारा लिखित और 1992 में प्रकाशित पुस्तक रि–इन्वेटिंग गवर्नमेण्ट (Re-Inventing Government) से माना है। नव लोक प्रबन्ध के दृष्टिकोण के विकास में हार्वर्ड स्कूल का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस स्कूल के सदस्यों ने सार्वजनिक क्षेत्र के लिए प्रबन्धकीय मामलों के विकास में गहरी रूचि दिखाई। नौवें दशक के प्रारम्भ में दुनिया में वैश्वीकरण, उदारीकरण एवं निजीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गयी। इस प्रक्रिया में लोक प्रशासन में कुछ नवीन प्रबन्धकीय दृष्टिकोणों जैसे मैनेजरिलिज्म (Managerialism), नव लोक प्रबन्ध (New Public Management) तथा बाजार आधारित लोक प्रशासन (Market Based Public Administration) आदि अवधारणाओं का सूत्रपात हुआ। नवीन लोक प्रबन्ध मुख्यतः इस बात पर जोर देता है कि लोक प्रशासन को पहले सेवा पर जोर देना चाहिए और इसे और अधिक लचीला बनाना चाहिए तथा उसमें निरन्तर सुधार करते रहना चाहिए। नव लोक प्रबन्ध का जोर प्रबन्ध, कार्य निष्पादन तथा दक्षता पर है न कि नीति पर। यह कुशलता, मितव्ययता तथा प्रभावशीलता का पक्षधर है।

मोहित भट्टाचार्य ने नवीन लोक प्रबन्ध की नियोजित विशेषताओं का उल्लेख किया है :

- नीति के स्थान पर प्रबन्ध, निष्पादन, मूल्यांकन और कार्यकुशलता पर ध्यान केन्द्रित करना।
- सार्वजनिक नौकरशाही का ऐसे अभिकरणों में विघटन जो ठेके/संविदा के आधार पर कार्य करती है।
- अर्द्ध बाजारों का प्रयोग और ठेके द्वारा प्रतिस्पर्धा का प्रोत्साहन।
- लागत व्यय को कम करके लोक प्रशासन को मितव्ययी बनाना
- प्रबन्ध की ऐसी व्यवस्था जिसमें निर्गत लक्ष्यों, अल्पकालिक ठेके, आर्थिक प्रोत्साहन और प्रबन्ध सम्बन्धी स्वायत्तता पाई जाती है।

मूल्यांकन

यह कहा जाता है कि नये लोक प्रशासन की भिन्नता केवल परिभाषा के कारण ही है। उदाहरणतया कैम्बेल (Campbell) का तर्क है कि "यह पुराने" लोक प्रशासन से भिन्न केवल इसलिए है कि अन्य युगों की अपेक्षा एक भिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण है। राबर्ट टी. गोलब्यूस्की का मत है कि अधिक से अधिक नये लोक प्रशासन को अंशतः ही सफल मानना चाहिए, संभवतः यह आकांक्षाओं

और अनुपालन के क्षेत्र में जो अन्तर है, उसका निर्मम स्मरण कराना मात्र है।'' वे कहते हैं कि ''यह शब्दों में क्रांति का उग्रवाद है पर तकनीकों अथवा कौशल में अधिक से अधिक यथापूर्व स्थिति ही है।''

किन्तु नीग्रो और नीग्रो का मत है कि नये लोक प्रशासन ने निश्चित रूप से नये क्षेत्र में पदार्पण किया है और लोक प्रशासन के पाठ्यक्रम को नयी विषय वस्तु प्रदान की है। इसमें नवीनता यह है कि प्रशासक के लिये सामाजिक न्याय की भूमिका निभाने की सिफारिश का समर्थन किया गया है, क्योंकि ''सामान्यतया सरकारी अधिकारी के लिए यह उचित नहीं समझा जाता कि वह पक्षपात करे और समाज में किसी विशेष समूह के हितों को बढ़ावा दे।'' नये लोक प्रशासन के सिद्धान्तों के आलोचकों को यह भय है कि सामाजिक न्याय के अनुकरण में प्रशासक आसानी से विधानमण्डल तथा जनता की बहुसंख्या के विचारों की अवज्ञा कर सकता है। इसके अतिरिक्त, इस विषय पर मतभेद है कि सामाजिक न्याय का अर्थ क्या है और सार्वजनिक कार्यक्रमों में यह क्या चाहता है । नये लोक प्रशासन के आलोचकों का यह भी कहना है कि प्रशासक वर्तमान कार्यक्रमों को प्रशासित करते हुए प्रायः नयी नीति का निर्माण करते हैं, यह अनिवार्य नहीं कि वह निर्वाचित अधिकारियों और जनता के अधिकतर भाग की इच्छाओं के अनुकूल हो। फिर भी ''नये'' लोक प्रशासन ने जो दिशा दिखाई है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। अन्त में नीग्रो के विचारों को देना उचित रहेगा, उनका कथन है–

''स्पष्टतया नये लोक प्रशासन के समर्थकों ने रचनात्मक वाद–विवाद को प्रेरित किया है तथा वे प्रशासन के सकारात्मक व नैतिक उद्देश्यों पर जो बल देते हैं, उसका स्थायी प्रभाव पड़ेगा। जब से नये लोक प्रशासन का उदय हुआ है, मूल्यों और नैतिकता के प्रश्न लोक प्रशासन में मुख्य विषय रहे हैं।''

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- राजनीतिक व्यवस्था का संचालन करने के लिए एक निश्चित सरकार तथा लोक प्रशासन होता है।
- लोक प्रशासन की सफलता अथवा असफलता द्वारा सरकार, राज्य एवं समाज की सफलता एवं असफलता निर्धारित होती है।
- डॉनहम का यह कथन समीचीन प्रतीत होता है कि 'यदि हमारी सभ्यता विफल होती है तो यह मुख्यतः प्रशासन की विफलता के कारण होगी।'
- राज्य के स्वरूप एवं गतिविधियों के विस्तार से प्रशासन का महत्त्व बढ़ता गया।
- प्रशासन के बढ़ते महत्त्व एवं उसकी इस अपरिहार्यता के कारण वर्तमान राज्य को 'प्रशासनिक राज्य' की संज्ञा से विभूषित किया गया है।
- लोक प्रशासन का साधारण शब्दों में अर्थ है, एक ऐसी प्रक्रिया जो सभी सामूहिक प्रयासों में (चाहे वह सार्वजनिक हो अथवा निजी, सैनिक हो अथवा असैनिक) पायी जाती है।
- प्रशासन वह कला है, जिसमें किसी विशिष्ट उद्देश्य अथवा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बहुत से व्यक्तियों का निर्देशन, नियंत्रण तथा समन्वयन किया जाता है।
- प्रशासन का वह भाग, जो सामान्य जनता के लाभ के लिए, सामान्य हित संवर्द्धन के लिए अथवा सार्वजनिक सेवा से संबंधित हो, उसे लोक प्रशासन कहा जाता है।
- लोक प्रशासन का सम्बन्ध सामान्य अथवा सार्वजनिक नीतियों के निर्माण एवं क्रियान्वयन से होता है।
- लोक प्रशासन का सम्बन्ध सरकार के 'क्या' तथा 'कैसे' से है।
- लोक प्रशासन के अर्थ का सीमित तथा व्यापक दोनों रूपों में अध्ययन किया जाता है।
- लोक प्रशासन के सीमित अर्थ में लोक प्रशासन कार्यपालिका की शाखा अथवा कार्यपालिका का अध्ययन है जबकि व्यापक अर्थ में लोक प्रशासन में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका आदि सभी के कार्यों का प्रशासनिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है।
- लोक प्रशासन का एकीकृत दृष्टिकोण व प्रबन्धात्मक दोनों दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जाता है।
- लोक प्रशासन के एकीकृत दृष्टिकोण के अनुसार प्रशासन में वे सभी क्रियाएँ (शारीरिक, मानसिक, दैनन्दिन (Routine) अथवा प्रबन्धात्मक (Managerial), जिनका लक्ष्य सार्वजनिक सेवा हो, शामिल की जाती हैं।

  इस सन्दर्भ में साइमन का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि लोक प्रशासन में सामान्य लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करने वाले वर्गो की सभी क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं।
- लोक प्रशासन के प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण के अनुसार, प्रशासन में केवल नियोजन, संगठन, निर्देशन, नियंत्रण, पर्यवेक्षण, समन्वयन आदि कार्य ही शामिल किये जाते हैं। इनमें शारीरिक, दैनन्दिन आदि कार्य शामिल नहीं किये जाते हैं।

- प्रशासन के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण एकतरफा, एकांगी तथा अपूर्ण हैं। दोनों दृष्टिकोण मिलकर लोक प्रशासन का पूर्ण अर्थ स्पष्ट करते हैं।
- लोक प्रशासन कला तथा विज्ञान दोनों हैं उर्विक, टीड, ग्लैडन आदि विचारकों का मानना है कि जिस प्रकार एक कलाकार, कवि अथवा चित्रकार कला के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करता है, उसी प्रकार एक प्रशासक, प्रशासन के माध्यम से अपनी आत्माभिव्यक्ति करता है।
- लोक प्रशासन की वैज्ञानिकता के सन्दर्भ में सभी विचारक एक मत नहीं हैं।
- कुछ विचारकों का मानना है कि लोक प्रशासन पहले से ही एक विज्ञान है। (विल्सन और विलोबी)
- कुछ विचारकों का कहना है कि लोक प्रशासन विज्ञान बनने की प्रक्रिया में है।
- कुछ विचारकों का कहना है कि लोक प्रशासन विज्ञान है ही नहीं।
- एक अन्य श्रेणी उन विचारकों की है जिनका विश्वास हैं कि लोक प्रशासन कभी विज्ञान बन ही नहीं सकता इसलिए इस सन्दर्भ में कोई भी प्रयास बेकार है। (मार्शल ई. डिमोक तथा डी. वाल्डो)
- लोक प्रशासन को समाज विज्ञान कहा जाना उचित होगा।
- लोक प्रशासन का प्रारम्भ में क्षेत्र बहुत सीमित था लेकिन द्वितीय महायुद्ध के बाद घटित होने वाली घटनाओं एवं उसके द्वारा सम्पादित की जाने वाली गतिविधियों एवं कार्यो ने उसके क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी है।
- लोक प्रशासन के क्षेत्र का अध्ययन दो बिन्दुओं (1) गतिविधि, तथा (2) शैक्षिक विषय के रूप में किया जा सकता है।
- गतिविधि के रूप में लोक प्रशासन का आविर्भाव तभी हो गया था जब समाज अथवा राज्य अस्तित्व में आये। लेकिन एक शैक्षिक विषय के रूप में लोक प्रशासन का जन्म अभी हाल ही में सन् 1887 में वुड्रो विल्सन के एक लेख 'द स्टडी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन (The Study of Administration) में हुआ है। इसलिए वुड्रो विल्सन को लोक प्रशासन का जनक कहा जाता है।
- पोस्डकॉर्ब (POSDCORB) विचार का प्रतिपादन लूथर गुलिक ने किया।
- पोस्डकॉर्ब विचारधारा लोक प्रशासन के 'कैसे' से सम्बन्धित है।
- वुडरो विल्सन जैसे विचारकों का मानना हैं कि राजनीति और प्रशासन दोनों का क्षेत्र पृथक–पृथक होता है। दोनों के लक्ष्य, कार्य एवं प्रकृति भी अलग–अलग दिखायी देती हैं।
- एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार, राजनीति और प्रशासन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। लूथर गुलिक, लैसली लिपसन और विलोबी आदि को इस दृष्टिकोण के प्रमुख समर्थक विचारक कहा जा सकता है।
- दोनों दृष्टिकोणों के सन्दर्भ में संतुलित मत यह है कि राजनीति और प्रशासन में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ये एक दूसरे के सहयोग पर निर्भर हैं। एक दूसरे को समझे बिना वे प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं कर सकते। राजनीतिज्ञों को चाहिए कि वे प्रशासन के स्वरूप और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नीति–निर्माण करें। इसी प्रकार प्रशासकों को चाहिए कि वे नीतियों एवं विधियों को ध्यान में रखें।
- सातवें दशक के बाद लोक प्रशासन में नव लोक प्रशासन के युग का सूत्रपात होता है। लोक प्रशासन के पुराने सिद्धान्तों – मितव्ययता तथा कार्यकुशलता को अपर्याप्त और अपूर्ण माना गया।
- सातवें दशक के अन्तिम वर्षों में कुछ विद्वानों विशेषकर युवा वर्ग ने लोक प्रशासन में मूल्यों, मान्यताओं, नैतिकता, सामाजिक न्याय, सामाजिक परिवर्तन, सरकार तथा प्रशासन में नवाचारों (Innovations) तथा सुधारों (Reforms) आदि की ओर ध्यान आकर्षित किया। इन्हीं प्रवृत्तियों को नव लोक प्रशासन का नाम दिया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहु–चयनात्मक प्रश्न

1. लोक प्रशासन का जनक कहा जाता है :
   (अ) एल. डी. व्हाईट (ब) वुड्रो विल्सन
   (स) एम. पी. शर्मा (द) साइमन ( )
2. लोक प्रशासन का प्रारम्भ माना जाता है :
   (अ) सन् 1887 (ब) सन् 1888
   (स) सन् 1987 (द) सन् 1988 ( )
3. 'लोक प्रशासन' कानून के विस्तृत एवं व्यवस्थित प्रयोग का ही दूसरा नाम है। यह परिभाषा किसने दी:
   (अ) वुड्रो विल्सन (ब) डॉ एल. डी. व्हाईट
   (स) गुलिक एल. उरविक(द) मार्शल ई. डिमॉक ( )

4. 'लोक प्रशासन का सम्बन्ध सरकार के 'क्या' और 'कैसे' से है' – ये किस विद्वान के विचार है?
   (अ) मार्शल डिमॉक (ब) जे. डी. मिलेट
   (स) डॉ. एम. पी. शर्मा (द) डॉ. सी. पी. भाम्भरी ( )
5. निम्न में से कौनसा विद्वान लोक प्रशासन के व्यापक क्षेत्र में मान्यता रखता है ?
   (अ) प्रो. एल. डी. व्हाईट (ब) हर्बर्ट साइमन
   (स) लूथर गुलिक (द) जोसिया स्टाम्प ( )
6. निम्न में से कौनसा विद्वान लोक प्रशासन के संकुचित क्षेत्र में मान्यता रखता है ?
   (अ) पिफनर (ब) डॉ. एल. डी. व्हाइट
   (स) लूथर गुलिक (द) सर रेम्जे म्युर ( )
7. POSDCORB का सिद्धान्त किसने प्रतिपादित किया ?
   (अ) डॉ. एल. डी. व्हाईट (ब) डॉ. हर्बर्ट साइमन
   (स) ई. एन. ग्लैडन (द) लूथर गुलिक ( )
8. POSDCORB सिद्धान्त का तीव्रतम आलोचक था :
   (अ) लेविस मेरियम (ब) डॉ. एम. पी. शर्मा
   (स) वुडरो विल्सन (द) जॉन एम. फिफनर ( )
9. "लोक प्रशासन एक नैतिक कार्य है और प्रशासक एक नैतिक अभिकर्त्ता", उक्त कथन है :
   (अ) आर्डवे टीड (ब) नीग्रो
   (स) पिफनर और प्रिस्थस (द) अवस्थी व माहेश्वरी( )
10. "जनसाधारण की भाषा में लोक प्रशासन से अभिप्राय उन क्रियाओं से है जो केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारों की कार्यपालिका शाखाओं द्वारा सम्पादित की जाती है", उक्त कथन है :
    (अ) हर्बर्ट साइमन (ब) डॉ. ए. एल. गांधी
    (स) अवस्थी एवं माहेश्वरी (द) विलोबी ( )

अति–लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रशासन से आपका क्या तात्पर्य है?
2. लोक प्रशासन की परिभाषा दीजिये।
3. लोक प्रशासन के प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण का आशय समझाइये।
4. लोक प्रशासन के एकीकृत दृष्टिकोण से आप क्या समझते हैं ?
5. लोक प्रशासन को किस विचारक ने कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना है ?
6. उन विचारकों का नाम बताइये जिनका मानना है कि लोक प्रशासन पहले से ही विज्ञान है।
7. लोक प्रशासन के क्षेत्र से संबंधित प्रमुख दो दृष्टिकोणों का उल्लेख कीजिये।
8. उन दो विचारकों के नाम बताइये जो सभी प्रशासनों को एक सा समझते है।
9. उस विचारक का नाम बताइये जो राजनीति और प्रशासन दोनों को पृथक्–पृथक् मानते है।
10. नव लोक प्रशासन में किन बिन्दुओं पर बल दिया जाता है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. लोक प्रशासन को परिभाषित कीजिये।
2. लोक प्रशासन के एकीकृत एवं प्रबन्धात्मक दृष्टिकोणों का मूल्यांकन कीजिये।
3. क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि लोक प्रशासन एक कला है?
4. क्या लोक प्रशासन विज्ञान है?
5. लोक प्रशासन के क्षेत्र के सम्बन्ध में पोस्डकॉर्ब दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिये।
6. लोक प्रशासन के क्षेत्र के सम्बन्ध में विषय सामग्री दृष्टिकोण का विश्लेषण कीजिये।
7. लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में प्रमुख अन्तर बताइये।
8. नव लोक प्रशासन की प्रमुख मान्यताओं का उल्लेख कीजिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोक प्रशासन की परिभाषा दीजिये। इसके क्षेत्र की व्याख्या कीजिये।
2. लोक प्रशासन विज्ञान है अथवा कला ?
3. राजनीति एवं प्रशासन में पारस्परिक सम्बन्धों का मूल्यांकन कीजिये।
4. नवीन लोक प्रशासन पर एक टिप्पणी लिखिये।

उत्तरमाला

(1) ब (2) अ (3) अ (4) अ (5) अ (6) स (7) द
(8) द (9) अ (10) अ

इकाई–I

अध्याय–2

लोक प्रशासन का महत्त्व एवं निजी प्रशासन से सम्बन्ध

(Importance of Public Administration and its relationship with Private Administration)

लोक प्रशासन का हस्तक्षेप हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ता जा रहा है। पिछली शताब्दी तक लोक प्रशासन का कार्य शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने तक ही सीमित था। परन्तु वर्तमान समय में लोक प्रशासन लोक कल्याणकारी कार्यों में अधिकाधिक रुचि लेने लगा है। अतः वह पुलिस राज्य से जन कल्याणकारी राज्य की ओर अभिमुख हुआ है। सरकार के सभी कार्यों का संचालन लोक प्रशासन द्वारा ही होता है, इसलिये आज राज्य को प्रशासकीय राज्य की संज्ञा दी जाने लगी है। जन्म से लेकर मृत्यु और मृत्यु पश्चात् भी लोक प्रशासन व्यक्ति के कल्याण के लिये कार्य करता है। भोजन, स्वास्थ्य, चिकित्सा, बेरोज़गारी, बाढ़, भूकम्प आदि के समय लोक प्रशासन व्यक्ति की सहायता करता है। आज लोक प्रशासन के बढ़े हुये कार्य एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसके महत्त्व को इंगित करते हुऐ डोनहम लिखते हैं कि "यदि हमारी सभ्यता असफल होती है तो ऐसा मुख्यतः प्रशासन के पतन के कारण होगा।"

लोक प्रशासन के महत्त्व को निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है –

(1) राष्ट्र की रक्षा, शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखने में

प्रायोजित आतंकवाद, नक्सलवाद, छात्र, मजदूर आन्दोलन आये दिन राज्य के समक्ष नित्य नयी चुनौतियाँ पैदा करते हैं। इन सबसे निपटना एवं कानून एवं व्यवस्था बनाये रखना सिविल प्रशासन का सर्वोपरि दायित्व है। शान्तिकाल में सीमाओं की रक्षा करते हुये राष्ट्र की आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था, अखण्डता, साम्प्रदायिक सौहार्द्र, समरसता बनाए रखना लोक प्रशासन का गुरुतर दायित्व है। न्याय, पुलिस, सशस्त्र बल, हथियार, निर्माण, अंतरिक्ष, परमाणु ऊर्जा, खनिज दोहन, विदेशी सम्बंध, गुप्तचर आदि ऐसी गतिविधियाँ है जो किसी राष्ट्र की बाहरी एवं आन्तरिक सुरक्षा को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। इन सब पर नियंत्रण एवं निर्देशन का कार्य लोक प्रशासन करता है।

(2) लोक कल्याण का माध्यम

वर्तमान में राज्य द्वारा अधिकाँश योजनाएँ, जनता के सुखी एवं खुशहाल जीवन के लिये संचालित की जाती हैं। राज्य शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, आवास आदि की विभिन्न योजनाओं का क्रियान्वयन करता है ताकि लोगों के जीवन स्तर में गुणात्मक परिवर्तन लाया जा सके। राज्य की अहस्तक्षेपवादी धारणा अब पुरानी हो चुकी है। आम जनता अब प्रशासन से अधिकाधिक सहयोग की आशा करती है । भारतीय संविधान के नीति निर्देशक तत्व, लोक कल्याणकारी राज्य को सशक्त आधार प्रदान करते हैं तथा सामाजिक सुरक्षा ,ग्रामीण विकास, गरीबी उन्मूलन, उद्योग, कुटीर उद्योग, सिंचाई, पशुपालन, संचार, सड़क, बिजली आदि मूलभूत सेवाओं के संचालन के लिये आवश्यक मंतव्यों को पूरा करने के लिये पथ प्रदर्शक का कार्य करते हैं। लोक कल्याणकारी दायित्वों की पूर्ति प्रशासन की प्रकृति पर निर्भर करती है। अतः वर्तमान राज्य को 'प्रशासकीय राज्य' से संज्ञापित किया जाता है।

(3) सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन का माध्यम

सामाजिक मान्यताओं, प्रथाओं, अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, कुरीतियों आदि में समयानुकूल परिवर्तन लाना सामाजिक परिवर्तन कहलाता है। लोक प्रशासन का दायित्व है कि वह उक्त परिवर्तन के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करे। लोक प्रशासन गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, बालश्रम, शोषण, महिला अत्याचार,, बाल अपराध, दहेज, छुआछूत, सती प्रथा के लिये उपयुक्त कानूनों के माध्यम से कार्य करता है। साथ ही देशवासियों के जीवन स्तर को उन्नत बनाना, विद्यमान विषमताओं को दूर करना, एकाधिकारी, कालाबाजारी को रोकना तथा देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के प्रयासों में लोक प्रशासन की महती भूमिका रहती है।

(4) प्रजातंत्र का प्रहरी

प्रजातंत्र की अवधारणा का क्रियान्वयन एक सजग एवं निष्पक्ष प्रशासनिक तंत्र के बिना असंभव है। मानवाधिकारों की रक्षा, सूचना का अधिकार, निष्पक्ष चुनाव, जन शिकायतों का निराकरण, राजनीतिक चेतना में वृद्धि एवं शासकीय कार्यों में जनसहभागिता में वृद्धि प्रशासन के सहयोग से ही संभव है।

(5) कला एवं संस्कृति का संरक्षक

संगीत, साहित्य, वास्तुकला, चित्रकला एवं लोक संस्कृति के संरक्षण एवं विकास का दायित्व राज्य पर है। राज्य यह कार्य प्रशासन के द्वारा सम्पन्न करवाता है। वह कला, साहित्य, संस्कृति की रक्षा एवं संवर्धन के लिये अनेक अकादमिक पुरस्कारों की स्थापना में सहयोग प्रदान करता है ताकि परम्परागत मूल्यों के प्रति जन सामान्य का आकर्षण बरकरार रहे। सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण में लोक प्रशासन सशक्त भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

(6) विकास एवं परिवर्तन के यंत्र के रूप में

आज लोक प्रशासन केवल नियामकीय कार्यों तक ही सीमित नहीं है बल्कि वह विकास के कार्यों में भी अत्यधिक रूचि लेने लगा है। वह समाज में सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन के लिये नियोजित रूप से सामूहिक प्रयास करता है। आज लोक प्रशासन लक्ष्योन्मुखी, परिणामोन्मुखी, परिवर्तनोन्मुखी, ग्राहकोन्मुखी होने लगा है। यद्यपि उद्योगों एवं आर्थिक क्षेत्र का एक बड़ा भाग निजी प्रशासन के अधीन है तथापि राष्ट्र के लिये महत्त्वपूर्ण उद्यमों यथा संचार, परिवहन, मौलिक शोध, रक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों के विकास एवं परिवर्तन के यंत्र के रूप में लोक प्रशासन ही क्रियाशील रहता है।

(7) अध्ययन के विषय के रूप में लोक प्रशासन का महत्त्व

लोक प्रशासन लोक कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों को सार्थक बनाता है। सरकार की विभिन्न योजनाओं एवं कार्यक्रमों की सफलता या असफलता प्रशासन पर ही निर्भर करती है। अतः अध्ययन विषय के रूप में लोक प्रशासन का स्वयं ही महत्त्व बढ़ जाता है। पश्चिमी देशों में लोक प्रशासन का अध्ययन 1887 से ही हो रहा है जबकि भारत में 1937 से ही इस दिशा में प्रयास प्रारम्भ हुए । लेकिन 1950 के पश्चात् ही लोक प्रशासन के व्यवस्थित अध्ययन को बढ़ावा मिला, फिर भी इस दिशा में अधिक प्रयासों की आवश्यकता है।

(8) प्रशासनिक उपकरण के रूप में महत्त्व

लोक प्रशासन का महत्त्व अध्ययन के विषय के रूप में ही नहीं बल्कि प्रशासनिक तंत्र के रूप में भी है। एक प्रशासनिक तंत्र के रूप में लोक प्रशासन सरकार के समस्त कार्यों को अंजाम देता है। चाहे यह कार्य नीति निर्धारण से, क्रियान्वयन से, नीति की समीक्षा से सम्बद्ध हो या व्यवस्था को बनाने, जीवन स्तर को उन्नत बनाने से सम्बद्ध हो, प्रशासन प्रशासनिक तंत्र के रूप में समाज में अपनी भूमिका अदा करता है।

(9) विद्यार्थियों के लिये महत्त्व

छात्रों के लिये भी लोक प्रशासन के अध्ययन का महत्त्व सर्वविदित है। विद्यार्थी के रूप में वह प्रशासन के विभिन्न सिद्धान्तों, कार्य रीतियों एवं सकारात्मक भूमिका की जानकारी प्राप्त करता है। इससे एक तरफ विद्यार्थियों को प्रशासन की जानकारी मिलती है वहीं दूसरी ओर अच्छे नागरिक के रूप में शासन की गतिविधियों में सहयोग देने की प्रवृत्ति का भी विकास होता है।

(10) नीति क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व

गोरवाला का मत है कि "लोकतंत्र में योजनाओं की सफलता के लिए कुशल एवं निष्पक्ष प्रशासन का होना आवश्यक है।" राज्य की नीतियों का क्रियान्वयन करने का दायित्व लोक प्रशासन का ही है। नीतियाँ चाहे कितनी भी अच्छी एवं व्यावहारिक क्यों न हो उनकी समाज में प्रभावशीलता, प्रशासकों की दक्षता, कुशलता एवं सत्यनिष्ठा पर ही निर्भर करती है। सरकार के कार्यक्रम एवं नीतियाँ एक आकार के रूप में होती हैं जिसे प्रशासक अपनी क्षमता एवं दक्षता से रंग रूप प्रदान कर समाज के लिये उपयोगी एवं व्यावहारिक बनाता है।

इस संदर्भ में मार्शल ई. डिमॉक का कथन महत्त्वपूर्ण है "प्रशासन प्रत्येक नागरिक के लिये महत्त्व का विषय है, क्योंकि जो सेवाएँ उसे मिलती हैं, जो कर , वह देता है और जिन व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं का वह उपयोग करता है, प्रशासन के सफल और असफल कार्यकरण पर निर्भर करती है।" आधुनिक युग की बहुत सी महत्त्वपूर्ण समस्याएँ, जैसे–स्वतत्रंता और संगठन में समन्वय कैसे हो, इत्यादि प्रशासन के इर्द–गिर्द घूमती रहती है। यही कारण है कि लोक प्रशासन राजनीतिक सिद्धान्त और दर्शन का मुख्य विषय बन गया है।

(11) प्रशासकीय राज्य की सार्थकता

मार्शल ई. डिमॉक की मान्यता है कि 'लोक प्रशासन सभ्य समाज का आवश्यक अंग तथा आधुनिक युग में जीवन का एक तत्व है। उसमें राज्य के उस स्वरूप ने जन्म लिया है जिसे प्रशासकीय राज्य कहा जाता है। प्रशासकीय राज्य में लोक प्रशासन जन्म से पूर्व एवं मृत्यु के पश्चात् भी व्यक्ति के जीवन से जुड़ा रहता है। गर्भवती स्त्री के समुचित आहार, चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करवाने से लेकर व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसका सरकारी अभिलेख करवाने तक लोक प्रशासन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। अकाल, महामारी आपदाओं में भी लोक प्रशासन के द्वारा प्रदत्त सहायता उसके महत्त्व को उत्तरोत्तर बढ़ाती है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि शासन की पद्धति या सरकार किसी भी प्रकार की हो लोक प्रशासन की भूमिका व महत्त्व में कमी नहीं आयेगी। यद्यपि बदलते परिवेश में उसकी भूमिका रूपान्तरित हो रही है परन्तु कम नहीं। आज लोक प्रशासन नीति निर्माण एवं उसके क्रियान्वयन, सामाजिक आर्थिक परिवर्तन, स्थायित्व, नागरिकों के अधिकारों की रक्षा, विकास एवं परिवर्तन को समयानुकूल बनाकर समाज को सही दिशा व दशा प्रदान करता है, इसलिये लोक प्रशासन को सभ्य जीवन का रक्षक तथा परिवर्तन एवं विकास का पथ प्रदर्शक माना जाता है।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन : विशेषताएँ, समानताएँ एवं अन्तर

(Public Administration and Private Administration : Features, Similarities and Differences)

प्राचीन काल से हमारे सामाजिक जीवन में प्रशासन किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहा है चाहे वह लोक प्रशासन के रूप में हो या निजी प्रशासन के रूप में।

सामान्य अर्थ में प्रशासन से तात्पर्य किसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु मिल–जुल कर कार्य करने से होता है अर्थात् किसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किया जाने वाला सहयोगात्मक प्रयास ही प्रशासन है। जब प्रशासन बहुसंख्यक लोगों के कल्याण से सम्बन्धित होता है तो वह लोक प्रशासन कहलाता है। अर्थात् लोक प्रशासन में सरकार द्वारा लोक कल्याण हेतु किये जाने वाले कार्य प्रतिबिम्बित होते हैं।

दूसरी ओर निजी प्रशासन है जो गैर सरकारी के समानार्थी है। निजी प्रशासन सीमित उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए पूर्णतः लाभ के लिये संचालित किया जाता है। लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन दोनों में प्रशासन शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि दोनों ही प्रशासन किसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु संगठित एवं प्रयत्नशील हैं।

लोक प्रशासन की विशेषताएँ
(Characteristics of Public Administration)

लोक प्रशासन सरकारी क्रिया कलापों का ही एक हिस्सा है। शासकीय नीति को क्रियान्वित करने के लिये लोक प्रशासन विभिन्न गतिविधियों, उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों का सहारा लेता है। लोक प्रशासन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं –

(i) लोक प्रशासन सरकारी तंत्र का ही एक हिस्सा है।

(ii) लोक प्रशासन विशेष रूप से कानून के क्रियान्वयन से जुड़ा है तथा सरकार की तीनों शाखाओं तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

(iii) लोक प्रशासन संवैधानिक एवं वैधानिक कानूनों के अन्तर्गत कार्य करता है।

(iv) लोक प्रशासन में पद सोपानिक व्यवस्था, आदेश की एकता जैसे सिद्धान्तों का कठोरता से पालन होता है।

(v) लोक प्रशासन में वित्तीय मामलों पर संसदीय नियंत्रण होता है। नीति निर्माण में महती भूमिका के कारण राजनीतिक प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

(vi) लोक प्रशासन का अन्तिम उद्देश्य जनता का सर्वत्र कल्याण है।

(vii) लोक प्रशासन पर राजनीतिक नेतृत्व का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष नियंत्रण रहता है।

(viii) बदलते समय में सेवा भावना मूल मंत्र की सिद्धि हेतु लोक प्रशासन निजी समुदायों एवं वर्गों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है।

(ix) समयानुकूल लोक प्रशासन मानवीय विचारधारा से भी अत्यधिक प्रभावित हुआ है।

(x) लोक प्रशासन वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के दौर में मानवीय विचारधारा के साथ–साथ कार्यकुशलता एवं मितव्ययता पर पुनः ध्यान दे रहा है।

निजी प्रशासन की विशेषताएँ
(Characteristics of Private Administration)

निजी प्रशासन व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा नियन्त्रित, निर्देशित एवं संचालित प्रशासन है जिसका प्रमुख उद्देश्य लाभ अर्जित करना है। निजी प्रशासन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं –

(i) निजी प्रशासन का प्रमुख एवं अन्तिम उद्देश्य लाभ अर्जित करना है।

(ii) निजी प्रशासन प्रायः छोटे एवं सरल प्रकृति के संगठनों द्वारा संचालित होता है।

(iii) निजी प्रशासन वैधानिक, संवैधानिक कानूनों की बजाय निजी नियमों से अधिक प्रभावित होता है।

(iv) निजी प्रशासन में कार्यकुशलता, मितव्ययता, लोचशीलता एवं समयानुरूप परिवर्तन की क्षमता अधिक होती है।

(v) इसका स्वरूप गैर राजनीतिक होता है।

(vi) यह उपभोक्ताओं के प्रति अधिक उत्तरदायी होता है।

(vii) इस प्रकार के प्रशासन में गोपनीयता अधिक पायी जाती है।

(viii) उपभोक्ताओं की रुचि, माँग एवं अपेक्षाओं के अनुरूप अपने उत्पादों, गतिविधियों में परिवर्तन इनकी प्रमुख आवश्यकता एवं विशेषता है।

(ix) इस प्रकार के संगठन का अस्तित्व स्थायी न होकर अस्थायी होता है।

(x) निजी प्रशासन में अधिक प्रतिस्पर्धा पायी जाती है। जन सम्पर्क माध्यमों एवं साधनों का प्रयोग अधिक किया जाता है।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में अन्तर्सम्बन्ध (Interrelation between Public Administration and Private Administration)

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में विभिन्न विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं – एक वह जो दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं मानता है, दूसरा वह जो लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन को पृथक् मानता है।

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में समानताएँ (Similarities between Public Administration and Private Administration)

हेनरी फेयोल, मेरी पार्कर फौलेट, एल उर्विक आदि विद्वान लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में अन्तर नहीं मानते हैं। इस मत के समर्थक विद्वान उन विषयों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं जो लोक प्रशासन व निजी प्रशासन में समान हैं । हेनरी फेयोल के अनुसार "अब हमारे समक्ष कई प्रशासनिक विज्ञान नहीं हैं बल्कि एक ही है जिसे लोक प्रशासन एवं व्यक्तिगत प्रशासन में समान रूप से लागू किया जा सकता है। योजना बनाना, संगठित करना, आदेश देना, समन्वय तथा नियंत्रण करना इत्यादि प्रक्रियाएँ सभी जगह समान हैं। अतः मैंने प्रशासन के विस्तृत अर्थ में केवल सार्वजनिक सेवाओं को ही नहीं बल्कि अन्य उद्योगों को सम्मिलित किया है।" मेरी पार्कर फौलेट तथा एल. उर्विक का कहना है "गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो यह सोचना कठिन होता है कि वह जीव रसायन (Bio-Chemistry) बैंकर्स का है , एक शरीर क्रिया विज्ञान अध्यापकों का है या एक मनोचिकित्सा विज्ञान (Psychopathology) राजनीतिज्ञों का है। किसी विशेष प्रकार के संस्थान के उद्देश्य के अनुसार प्रबन्धकीय अथवा प्रशासनिक अध्ययन का उपविभाजन करना अधिकतर विद्वानों की दृष्टि से गलत होगा।"

निश्चय ही लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में बहुत सी बातें समान हैं। अग्रलिखित विशेषताएँ लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में समान हैं।

(1) उद्देश्य हेतु संगठित जिस उद्देश्य के लिये संगठन का निर्माण किया जाता है उसकी प्राप्ति हेतु दोनों ही प्रशासन संगठित रूप से (उद्देश्य प्राप्ति हेतु) प्रयास करते हैं।

(2) प्रशासन की समान तकनीकें लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन दोनों में ही प्रशासन की समान तकनीकों का प्रयोग किया जाता है– फाइलों का रख रखाव, निस्तारण, आदेश प्रारूप, कार्य–प्रक्रियाएँ, आँकड़े उपलब्ध कराना, हिसाब–किताब रखना, रिपोर्ट तैयार करना आदि। लेखांकन (Accounts) एवं लेखा परीक्षण (Audit) के लिये समान प्रक्रियाएँ प्रयोग में ली जाती हैं।

(3) अनुसंधान एवं नवीन तकनीक लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन दोनों के लिये अनुसंधान व नवीन तकनीकों का प्रयोग आवश्यक है। बढते उत्तरदायित्वों एवं विकास को देखते हुए दोनों ही प्रशासन नवीन सिद्धान्तों, उपकरणों व विद्याओं का सहारा लेते हैं।

(4) अधिकारियों के दायित्व यद्यपि लोक प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है तथा निजी प्रशासन उपभोक्ताओं के प्रति। तथापि दोनों ही प्रशासन के अधिकारियों का यह उत्तरदायित्व होता है कि अपने लक्ष्य प्राप्ति में संगठन के उपलब्ध संसाधनों का अधिकतम उपयोग करें ।

(5) जनसम्पर्क आज के युग में जनसम्पर्क का महत्त्व सर्वविदित है। उपभोक्तावादी संस्कृति में निजी प्रशासन की तरह लोक प्रशासन भी जनता और उपभोक्ता के पास समस्त प्रशासनिक गतिविधियों, उपलब्धियों एवं उत्पादों को जनसम्पर्क के माध्यम से पहुँचाने का प्रयास करता है। यही वजह है कि लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में जनसम्पर्क को पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है।

(6) कार्मिक व्यवस्था लोक प्रशासन, निजी प्रशासन दोनों में ही भर्ती, प्रशिक्षण, आचार संहिता, एवं अभिप्रेरणा की आवश्यकता समान है।

(7) विकास एवं प्रगति कोई भी प्रशासन तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह विकासोन्मुख एवं प्रगतिशील न हो। चाहे लोक प्रशासन हो अथवा निजी प्रशासन दोनों के लिए परिवर्तित परिस्थितियों में अनुकूलन की आवश्यकता होती है। विकास एवं प्रगति के बिना लोक प्रशासन अधिक जनोपयोगी नहीं हो सकता और निजी प्रशासन अधिक लाभ प्राप्त नहीं कर सकता है।

(8) प्रशासनिक सिद्धान्त लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन दोनों में एक सी प्रबन्धकीय तकनीकों का उपयोग किया जाता है। दोनों ही प्रशासन में योजनाएँ बनाना, संगठित करना, समन्वय करना, नियन्त्रण करना, आदेश देना, इत्यादि प्रक्रियाएँ समान रूप से पायी जाती हैं दूसरे शब्दों में लूथर गुलिक के पोस्डकोर्ब (POSDCORB) सूत्र की मान्यता लोक प्रशासन व निजी प्रशासन दोनों के लिये समान रूप से लागू होती है।

इस प्रकार दोनों प्रकार के प्रशासनों में विभिन्न क्षेत्रों में समानताएँ पायी जाती हैं। वर्तमान समय में निजीकरण, वैश्वीकरण, उदारीकरण, कम्प्यूटर, सूचना प्रौद्योगिकी, तकनीकी विकास इत्यादि के कारण लोक प्रशासन और निजी प्रशासन के मध्य समानताएँ बढ़ रही है।

लोक प्रशासन व निजी प्रशासन में असमानताएँ (Dissimilarities between Public Administration and Private Administration)

लोक प्रशासन व निजी प्रशासन के मध्य अनेक बातों में समानताएँ होते हुए भी व्यापक असमानताएँ व्याप्त है। इस दृष्टिकोण के समर्थकों में हरबर्ट साइमन, सर जोसिया स्टाम्प, पॉल एच. एपीलबी, नीग्रो आदि प्रमुख हैं। हरबर्ट साइमन का कथन है – जन साधारण के मन में यह धारणा रहती है कि लोक प्रशासन की प्रकृति राजनीतिक व लालफीताशाही की है जबकि व्यक्तिगत प्रशासन गैर राजनीतिक होता है।'

प्रो. पॉल एच. एपल्बी ने तीन आधारों पर लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में अन्तर किया है –

(1) लोक प्रशासन का क्षेत्र, प्रभाव, विचार अपेक्षाकृत व्यापक होता है जबकि निजी प्रशासन छोटा व कम महत्त्वपूर्ण।

(2) लोक प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है जबकि निजी प्रशासन के लिये यह आवश्यक नहीं।

(3) लोक प्रशासन का चरित्र राजनीतिक होता है जबकि निजी प्रशासन का अराजनीतिक।

साइमन ने निम्नांकित आधारों पर भेद किया है –

(1) लोक प्रशासन का स्वरूप नौकरशाही होता है जबकि निजी प्रशासन व्यापारिक।

(2) लोक प्रशासन राजनीतिक वातावरण के समीप होता है जबकि निजी प्रशासन अराजनीतिक होता है।

(3) लोक प्रशासन में लालफीताशाही पायी जाती है जबकि निजी प्रशासन इससे मुक्त होता है।

सर जोसिया स्टाम्प ने दोनों के मध्य निम्न चार आधारों पर भेद किया है –

(1) सामान्यतः लोक प्रशासन में एकरूपता पायी जाती है जबकि निजी प्रशासन में विभिन्नताएँ व्याप्त रहती हैं।

(2) लोक प्रशासन पर बाह्य वित्तीय नियंत्रण पाया जाता है जबकि निजी प्रशासन में आन्तरिक नियंत्रण अर्थात् निजी प्रशासन के वित्तीय नियंत्रण में विधायिका हस्तक्षेप नहीं करती।

(3) लोक प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है जबकि निजी प्रशासन में इसका अभाव है।

(4) लोक प्रशासन का अन्तिम उद्देश्य जनकल्याण होता है जबकि निजी प्रशासन लाभ के उद्देश्य से संचालित किया जाता है।

लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में व्याप्त असमानताओं को निम्नांकित बिन्दुओं द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है :–

(1) विस्तृत कार्यक्षेत्र लोक प्रशासन सरकार का कार्यकारी अंग है इसलिये इसके कार्यकरण का क्षेत्र एवं प्रभाव व्यापक होता है जबकि निजी प्रशासन का क्षेत्र, विधिक नियंत्रण का अभाव, वित्तीय संसाधनों की कमी आदि के कारण सीमित होता है।

(2) राजनीतिक स्वरूप लोक प्रशासन का प्रमुख कार्य शासन की नीतियों की क्रियान्विति है। वह शासन के प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष नियंत्रण में कार्य करता है, अतः इसका स्वरूप राजनीतिक होता है जबकि निजी प्रशासन का स्वरूप गैर राजनीतिक होता है।

(3) उद्देश्य लोक प्रशासन का मूल लक्ष्य जन कल्याण करना होता है । लोक प्रशासन जन सेवा की भावना से ओत–प्रोत होता है तथा इसका सदैव प्रयत्न रहता है कि जनोपयोगी सेवाओं का निरन्तर विस्तार कर जन कल्याण को यथासंभव पूरा किया जाए जबकि निजी प्रशासन का उद्देश्य अधिकाधिक लाभ कमाना है।

(4) जन उत्तरदायित्व लोक प्रशासन का अन्तिम रूप से अपने कार्यों के लिये जनता के प्रति उत्तरदायित्व होता है जबकि निजी प्रशासन में ऐसा होना आवश्यक नहीं । निजी प्रशासन उपभोक्ता को केन्द्र बिन्दु मानकर कार्य करता है।

(5) प्रशासन पर नियंत्रण लोक प्रशासन पर संविधान, विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, जनता द्वारा अनेक साधनों द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है जबकि निजी प्रशासन पर इस प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं होता है। निजी प्रशासन अपने

कार्यकरण में स्वतंत्र होता है।

(6) संगठनात्मक प्रकृति लोक प्रशासन द्वारा गम्भीर प्रकृति के कार्यों का संचालन किया जाता है अतः उसके संगठनों का आकार विस्तृत व जटिल प्रकृति का होता है जबकि निजी प्रशासन तुलनात्मक रूप से छोटे एवं सरल होते हैं।

(7) एकाधिकारिक क्षेत्र कुछ कार्य क्षेत्र ऐसे होते हैं जिनके संचालन एवं नियंत्रण का एकाधिकार लोक प्रशासन को होता है तथा निजी प्रशासन को इन क्षेत्रों में प्रवेश की अनुमति नहीं दी जाती है जैसे – रक्षा संबंधी क्षेत्र।

(8) कठोर पदसोपानिक व्यवस्था लोक प्रशासन में कार्य करने वाले लोक सेवकों पर अनेक राजनीतिक व आधिकारिक नियंत्रण होते हैं अर्थात् निम्न कर्मचारियों व अधिकारियों को अपने से उच्च अधिकारियों के नियंत्रण व निर्देशन में कार्य करना पड़ता है जबकि निजी प्रशासन पर इस प्रकार का कठोर पद सोपानिक नियंत्रण व निर्देशन नहीं होता है।

(9) गोपनीयता लोक प्रशासन शीशे के मकान में रहता है अर्थात् लोक प्रशासन के सभी क्रिया–कलापों, गतिविधियों के बारे में आम जन को जानने का अधिकार है तथापि राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर कुछ कार्य ऐसे हैं, जिन्हे गोपनीय रखा जा सकता है। लेकिन निजी प्रशासन के अधिकाँश कार्य गोपनीय होते हैं।

(10) श्रेष्ठ नियोक्ता राज्य की श्रेष्ठ नियोक्ता की अवधारणा के अन्तर्गत लोक सेवक, निजी कार्मिकों की अपेक्षा अच्छा वेतन, उन्नत सेवा शर्तें, प्रतिष्ठित सामाजिक मान्यता एवं अच्छी कार्य की दशाएँ पाते हैं।

(11) वित्तीय नियंत्रण लोक प्रशासन पर बाह्य वित्तीय नियंत्रण पाया जाता है वित्त पर संसदीय नियंत्रण होता है तथा बिना सदन की अनुमति के लोक प्रशासन आय–व्यय नहीं कर सकता क्योंकि जनता के धन पर जनता का ही परोक्ष नियंत्रण रहता है। जबकि निजी प्रशासन पर इस प्रकार का कोई संसदीय नियंत्रण नहीं होता है, केवल आन्तरिक वित्तीय नियंत्रण होता है जो संचालक, नियंत्रक, स्वामित्वधारी के पूर्णतया नियंत्रण में होता है।

(12) राष्ट्र निर्माण में योगदान लोक प्रशासन का अन्तिम ध्येय जनता का हित है अतः लोक प्रशासन विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न गतिविधियों से राष्ट्र निर्माण में सर्वोच्च योगदान करता है। यद्यपि निजी प्रशासन भी ऐसा करता है लेकिन सीमित या मर्यादित क्षेत्र तक।

(13) नौकरशाही लोक प्रशासन में नौकरशाही के दोष यथा – लालफीताशाही, कठोरता, कार्य करने में अत्यधिक औपचारिकताएँ, कार्य में विलम्ब, आदि सर्वत्र पाये जाते हैं। इसके विपरीत प्रायः निजी प्रशासन कुशल, स्वतंत्र व लचीलापन लिए होता है।

(14) व्यवहार में असमानता निजी प्रशासन में व्यवहार की असमानता पायी जाती है। निजी प्रशासन सभी लोगों के साथ एक समान व्यवहार नही करता जबकि लोक प्रशासन में सभी लोगों के साथ समान व्यवहार किया जाता है। सरकारी प्रशासन में असमान व्यवहार जनता में आक्रोश व असंतोष को बढ़ावा दे सकता है जबकि निजी प्रशासन में असमान व्यवहार प्रायः स्वीकृत एवं मान्य मान लिया जाता है।

(15) कार्य कुशलता लोक प्रशासन में निजी प्रशासन की अपेक्षा कार्य कुशलता कम पायी जाती है। निजी प्रशासन का मुख्य ध्येय लाभ की प्राप्ति है अतः पूरा ध्येय न्यूनतम व्यय पर अधिकतम उत्पादन का रहता है जबकि लोक प्रशासन जन कल्याण को देख कर क्रियाशील रहता है।

(16) कानूनों व नियमों से आबद्ध लोक प्रशासन संवैधानिक एवं वैधानिक कानूनों से आबद्ध होता है। लोक प्रशासन कानूनों व नियमों से हटकर कार्य नही कर सकता है क्योंकि प्रत्येक कार्य के निर्धारित नियम व उपनियम होते है जबकि निजी प्रशासन का न तो कोई संवैधानिक आधार है और न ही कोई बाध्यकारी कानून।

(17) परिवर्तनोन्मुखी निजी प्रशासन दिन–प्रतिदिन प्रतिस्पर्धा का सामना करता है। अतः परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप संगठन, संरचनाओं, कार्यक्रमों, उद्देश्यों एवं गतिविधियों में आवश्यक परिवर्तन कर समय के अनुरूप क्रियाशील रहता है जबकि लोक प्रशासन में समय के अनुरूप परिवर्तन न केवल शनैः शनैः होते हैं बल्कि विलम्ब से भी।

(18) सेवाओं के स्थायित्व में अन्तर लोक प्रशासन में कार्यरत पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों के पद स्थायी होते हैं । बिना उचित प्रक्रिया के, बिना अभियोग चलाए तथा अपना मत रखने के अवसर दिये बिना अधिकारियों व कर्मचारियों को उनकी सेवा से मुक्त नहीं किया जा सकता। जबकि निजी प्रशासन में पद अस्थायी होते हैं। मालिक की इच्छानुसार ही कार्मिक अपने पद पर बना रहता है एवं उसकी इच्छा से पद मुक्त किया जा सकता है।

(19) राज सत्ता के आधार पर लोक प्रशासन को अपने कार्यों को पूर्ण करने के लिए संविधान, सेना, पुलिस, न्यायालय आदि विधिक सत्ता द्वारा आवश्यक सहयोग प्रदान किया जाता है जबकि निजी प्रशासन को अपने कार्यों के लिए इस प्रकार की

राजसत्ता प्राप्त नहीं है वह केवल कुशलता एवं व्यावहारशीलता से समाज में अपने कार्यों को अंजाम देता है।

(20) जनसम्पर्क के आधार पर लोक प्रशासन में जन–सम्पर्क को उतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है जितना कि निजी प्रशासन में। लोक प्रशासन का मुख्य ध्येय लोक कल्याण है न कि जनसम्पर्क। इसी मान्यता के आधार पर लोक प्रशासन में जन सम्पर्क इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि निजी लाभ के लिए निजी प्रशासन में।

(21) आचार संहिता का पालन निजी प्रशासन व लोक प्रशासन के मध्य आचार संहिता को लागू करने में भी अन्तर पाया जाता है। लोक प्रशासन में कठोरता पूर्वक आचार संहिता को क्रियान्वित किया जाता है, साथ ही नैतिकता एवं मूल्यों का न्यूनतम स्तर बनाये रखना अनिवार्य होता है, जबकि निजी प्रशासन नैतिकता एवं मूल्यों के बन्धनों से मुक्त रहता है जैसे जिस प्रकार के विज्ञापन, निजी प्रशासन द्वारा दिये जाते हैं वैसे लोक प्रशासन द्वारा नहीं दिये जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त संविधान का प्रभाव, सेवा भावना, परिवर्तित परिस्थितियों में अनुकूलन की स्थिति आदि के आधार पर लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में विभेद किया जा सकता है।

निष्कर्ष

लोक प्रशासन व निजी प्रशासन में उपर्युक्त आधारों पर असमानताएँ देखी जा सकती हैं। दोनों प्रशासनों के मध्य अन्तर केवल मात्रात्मक है, गुणात्मक एवं प्रकारात्मक नहीं। दोनों की सत्ता एक ही है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता। कई बातें दोनों प्रशासनों में समान दिखाई देती हैं। वर्तमान में अनेक विद्वान ऐसे हैं जो दोनों के मध्य समानताओं को अधिक महत्त्व देते हैं। हेनरी फेयोल का कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि सभी प्रकार के प्रशासनों को योजना, संगठन, आदेश, समन्वय, एवं नियंत्रण की आवश्यकता होती है और अपना कार्य भली भाँति सम्पन्न करने के लिये सभी को एक जैसे सामान्य सिद्धान्तों का पालन करना होता है।

लोक प्रशासन व निजी प्रशासन में असमानताएँ (Differences between Public Administration & Private Administration)

क्र.सं.	अन्तर का आधार	लोक प्रशासन	निजी प्रशासन
1.	कार्य क्षेत्र	विस्तृत	सीमित
2.	स्वरूप	राजनीतिक	अराजनीतिक
3.	उद्देश्य	जन कल्याण	लाभार्जन
4.	उत्तरदायित्व	जनता के प्रति	उपभोक्ता के प्रति
5.	नियंत्रण	संविधान, विधायिका आदि का प्रत्यक्ष व परोक्ष नियंत्रण	कार्य में अपेक्षाकृत स्वतंत्रता
6.	संगठनात्मक प्रकृति	विस्तृत एवं जटिल	छोटी एवं सरल
7.	एकाधिकारिक क्षेत्र	रक्षा आदि क्षेत्र सुरक्षित	प्रवेश नहीं
8.	पदसोपानिक व्यवस्था	कठोरतापूर्वक लागू	लचीलापन
9.	गोपनीयता	अपेक्षाकृत कम	प्रायः सभी कार्य गोपनीय रखे जाते हैं।
10.	नियोक्ता	श्रेष्ठ नियोक्ता के अनुरूप सुविधाऐं व वेतन	अपेक्षाकृत कम सुविधाएँ व वेतन
11.	वित्तीय नियंत्रण	बाहरी व संसदीय नियंत्रण	आन्तरिक व स्वामित्व पर निर्भर
12.	राष्ट्र निर्माण में सहयोग	सर्वोच्च योगदान	सीमित योगदान
13.	नौकरशाही	लालफीताशाही, कठोरता, विलम्बता, औपचारिकता का अधिक प्रभाव	प्रायः मुक्त
14.	व्यवहार (कार्यकरण)	सभी के साथ समान	समान हो आवश्यक नहीं
15.	कार्यकुशलता	अपेक्षाकृत कम	अपेक्षाकृत अधिक
16.	विधिक समस्या	कानूनों व नियमों से आबद्ध	निजी नियमों को अधिक महत्त्व
17.	परिवर्तनोन्मुखी	समयानुरूप, परिवर्तन प्रायः शनैः शनैः विलम्ब से	समयानुरूप परिवर्तन शीघ्रता से
18.	सेवाओं में स्थायित्व	पदाधिकारियों व कर्मचारियों के पद स्थायी	कर्मचारियों व पदाधिकारियों के पद स्थायी नहीं
19.	राज सत्ता के आधार पर	कार्य पूर्ण करने के लिए सेना, पुलिस, न्यायालय आदि का सहयोग प्राप्त होता है।	इस प्रकार की राज सत्ता का सहयोग नहीं
20.	जनसम्पर्क	जनसम्पर्क का महत्त्व नहीं	लाभ के लिये जनसम्पर्क आवश्यक व महत्त्वपूर्ण
21.	आचार संहिता का प्रयोग	कठोरता पूर्वक पालन किया जाता है।	लचीलापन लिए हुए।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- वर्तमान में लोक प्रशासन का महत्त्व अग्रलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है – 1. राष्ट्र की रक्षा, शान्ति, व्यवस्था बनाये रखने में 2. लोक कल्याण का माध्यम 3. सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन का माध्यम 4. प्रजातंत्र के प्रहरी के रूप में 5. विकास एवं परिवर्तन के यंत्र के रूप में 6. कला व संस्कृति का संरक्षक 7. अध्ययन के विषय के रूप में 8. प्रशासनिक उपकरण के लिए 9. विद्यार्थियों के लिए महत्त्व 10. नीति–क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व 11. प्रशासकीय राज्य की सार्थकता ।
- सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला सहयोगात्मक प्रयास ही प्रशासन है।
- प्रशासन के दो रूप यथा–लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन हैं।

- लोक प्रशासन सरकारी कार्यकलापों एवं गतिविधियों से सम्बन्धित है, जो लोक कल्याण की भावना से किये जाते हैं।
- व्यक्ति या व्यक्ति समूहों द्वारा लाभ की प्राप्ति हेतु संचालित किया जाने वाला प्रशासन निजी प्रशासन कहलाता है।

प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य निम्नांकित समानताएँ देखने को मिलती हैं– 1. दोनों प्रशासन किसी विशेष उद्देश्य हेतु संगठित होते हैं। 2. प्रशासन में समान तकनीके 3. अनुसंधान एवं नवीन तकनीकें 4. अधिकारियों के दायित्व 5. जनसम्पर्क 6. कार्मिक व्यवस्था 7. विकास एवं प्रगति 8. प्रशासनिक सिद्धान्त

- लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में निम्न आधारों पर असमानताएँ देखी जा सकती हैं– 1. कार्य क्षेत्र के आधार पर 2. स्वरूप के आधार पर 3. उद्देश्यों में अन्तर 4. उत्तरदायित्व 5. प्रशासन पर नियंत्रण 6. संगठनात्मक प्रकृति 7. एकाधिकारिक क्षेत्र 8. पदसोपानिक व्यवस्था 9. गोपनीयता 10. नियोक्ता 11. वित्तीय नियंत्रण 12. राष्ट्र निर्माण में सहयोग 13. नौकरशाही प्रवृत्ति 14. कार्यकरण का व्यवहार 15. कार्यकुशलता 16. विधिक समस्या 17. परिवर्तनोन्मुखी 18. सेवाओं में स्थायित्व 19. राज सत्ता का उपयोग 20. जन सम्पर्क 21. आचार संहिता का पालन

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. निम्नलिखित में से कौनसा विचारक लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन की समानता का प्रबल समर्थक है?

   (अ) हर्बर्ट साइमन (ब) पॉल एपीलबी

   (स) हेनरी फेयोल (द) सर जोसिया स्टाम्प ( )

2. "अब हमारे समक्ष कई प्रशासनिक विज्ञान नहीं बल्कि केवल एक है जिसे लोक एवं निजी दोनों ही प्रशासनों के लिये समान रूप से भली भाँति प्रयोग किया जा सकता है " यह कथन किस विचारक का है?

   (अ) हेनरी फेयोल (ब) एल. उर्विक

   (स) हरबर्ट साइमन (द) एम. पी. फौलेट ( )

3. इसमें से कौन सी विशेषता निजी प्रशासन की नहीं है ?

   (अ) गोपनीयता (ब) लोक उत्तरदायित्व

   (स) लाभ (द) अराजनीतिक स्वरूप ( )

4. यदि हमारी सभ्यता असफल होती है तो ऐसा मुख्यतः प्रशासन के पतन के कारण होगा, यह कथन है –

   (अ) एल. डी. व्हाइट (ब) साइमन

   (स) डॉनहम (द) मैम्स वेबर ( )

5. पिछली शताब्दी तक राज्य का कार्य स्वरूप था –

   (अ) पुलिस राज्य (ब) कल्याणकारी राज्य

   (स) विकासात्मक राज्य (द) गैर नियामकीय राज्य ( )

6. लोग प्रशासन व निजी प्रशासन में अन्तर करने वाले विद्वान हैं –

   (अ) साइमन (ब) एपीलबी

   (स) सर जोसिया स्टाम्प (द) उपर्युक्त सभी ( )

7. 'लोक प्रशासन व निजी प्रशासन में समानता है' इस मत के समर्थक है –

   (अ) फेयोल (ब) उर्विक

   (स) मेरी पार्कर फौलेट (द) उपर्युक्त सभी ( )

8. लोक प्रशासन व निजी प्रशासन में प्रमुख अन्तर है –

   (अ) लाभ प्राप्ति (ब) साधनों का प्रयोग

   (स) कार्यक्रम व योजनाएँ (द) क्षेत्र व स्वरूप ( )

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न –

1. लोक प्रशासन व निजी प्रशासन में अन्तर करने वाले प्रमुख विद्वान बताइये ।
2. लोक प्रशासन व निजी प्रशासन में समानताएँ है, कोई दो समानताएँ लिखिये ।
3. लोक प्रशासन को परिभाषित कीजिए ।
4. साइमन ने लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य किन आधारों पर अन्तर किया है ? कोई दो आधारों को उल्लेखित कीजिये ।
5. लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में अन्तर है, इस मत के समर्थक विद्वानों में से किन्हीं दो के नाम बताओ ।

6. ऐसे दो विद्वानों के नाम बताइये जो लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में अन्तर नहीं करते ।
7. लोक प्रशासन का वर्तमान में महत्त्व प्रकट करने वाले कोई दो बिन्दु बताइये ।
8. "हमारी सभ्यता असफल होती है तो ऐसा प्रशासन के पतन के कारण होगा" यह कथन किस विद्वान का है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :–

1. लोक प्रशासन व निजी प्रशासन में व्याप्त प्रमुख असमानताएँ बताइये ।
2. लोक प्रशासन व निजी प्रशासन में कोई पाँच समानताएँ लिखिए ।
3. लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के सम्बन्ध में साइमन द्वारा बतायी गयी असमानताओं को इंगित कीजिये ।
4. सर जोसिया स्टाम्प ने किन आधारों पर लोक प्रशासन और निजी प्रशासन के मध्य भेद किया है ?
5. जनसम्पर्क दोनों ही प्रशासन के लिए आवश्यक है, स्पष्ट कीजिये ।
6. लूथर गुलिक द्वारा प्रतिपादित पोस्डकोर्ब (POSDCORB) सूत्र दोनों ही प्रशासनों के लिए क्यों आवश्यक है, स्पष्ट कीजिये ?
7. लोक प्रशासन सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन का माध्यम है, स्पष्ट कीजिये ।
8. नीति का क्रियान्वन लोक प्रशासन का प्रमुख दायित्व है, स्पष्ट कीजिये।

निबंधात्मक प्रश्न :–

1. वर्तमान में लोक प्रशासन के महत्त्व की व्याख्या कीजिए ।
2. लोक प्रशासन व निजी प्रशासन के मध्य समानताओं व असमानताओं का उल्लेख कीजिये ।

उत्तरमाला

1.(स) 2.(अ) 3.(ब) 4.(स) 5.(अ) 6.(द) 7.(द) 8.(अ)

इकाई–II

अध्याय–3

लोक प्रशासन एवं अन्य सामाजिक विज्ञान
(Public Administration and Other Social Sciences)

ज्ञान एवं विवेक मानव को अन्य जीवधारियों से न केवल पृथक् करता है, वरन् विशिष्ट पहचान देता है। यदि ज्ञान का सम्बन्ध मानव समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, ऐतिहासिक, नैतिक आदि पक्षों से हो तो उसका अध्ययन सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है । लोक प्रशासन की तरह राजनीति विज्ञान, समाज शास्त्र, विधि, अर्थशास्त्र आदि विषय भी सामाजिक विज्ञान के अंग हैं ।

सेलिग मेन ने सामाजिक विज्ञान विश्व कोष में सामाजिक विज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "सामाजिक विज्ञान वे मानसिक या सांस्कृतिक विज्ञान हैं, जो मानव की एक समूह के सदस्य होने के नाते उसकी गतिविधियों का अध्ययन करते हैं ।"

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि लोक प्रशासन एक सामाजिक विज्ञान है । अतः यह स्वाभाविक है कि अन्य सामाजिक विज्ञानों से लोक प्रशासन का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य होगा । लोक प्रशासन के अध्ययन को सारगर्भित बनाने के लिए लोक प्रशासन व अन्य सामाजिक विज्ञानों के मध्य क्या सम्बन्ध है, यह जान लेना आवश्यक होगा ।

1. लोक प्रशासन एवं राजनीति विज्ञान
(Public Administration and Political Science)

अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में लोक प्रशासन व राजनीति विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है । लोक प्रशासन मानव जीवन के प्रशासनिक पहलू का अध्ययन करता है, वहीं राजनीति विज्ञान मानव के राजनीतिक पहलू का ।

परम्परागत विचारधारा के अनुसार, राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राज्य से माना जाता है जैसा कि गार्नर कहते है "राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ व अन्त, राज्य के साथ ही होता है।" इसी प्रकार गिलक्राइस्ट ने राजनीति विज्ञान को राज्य और सरकार की सामान्य संरचनाओं से सम्बद्ध किया है। किन्तु आधुनिक विचारधारा इसे शक्ति, सत्ता, राजनीतिक व्यवस्था तथा निर्णयन से सम्बन्धित विषय मानती है। सारतः राजनीति विज्ञान राज्य, सरकार, सत्ता एवं सार्वजनिक नीतियों से सम्बद्ध है ।

राजनीति विज्ञान, जहाँ राज्य की इच्छा का अध्ययन करता है वहीं लोक प्रशासन, राज्य की इच्छा को क्रियान्वित करता है। अर्थात् लोक प्रशासन लोक नीति को क्रियान्वित करता है ।

डिमॉक एवं डिमॉक के अनुसार, "राजनीति विज्ञान का ज्ञान, लोक प्रशासन को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं ।"

अन्तर्सम्बन्ध (Inter Relationship)

लोक प्रशासन व राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में दो प्रकार के दृष्टिकोण प्रचलित है । प्रथम, परम्परावादी एवं द्वितीय, आधुनिक । परम्परावादी दृष्टिकोण, लोक प्रशासन व राजनीति विज्ञान में भेद करता है । इस दृष्टिकोण के समर्थक लोक प्रशासन के प्रारम्भिक विद्वान वुडरो विल्सन, विलोबी, फिफनर एवं फ्रेंक. जे. गुडनाऊ इत्यादि हैं । आधुनिक दृष्टिकोण के समर्थकों में एपीलबी, व्हाइट वाल्डो, मेरियम, साइमन, मार्शल ई. डिमॉक प्रमुख हैं जो लोक प्रशासन एवं राजनीति विज्ञान के मध्य विभेद को व्यावहारिक नहीं मानते हैं। इनका मत है कि दोनों के मध्य विभेद न तो सरल है, न ही व्यावहारिक ।

घनिष्ठ सम्बन्ध

डोनाल्ड किंगस्ले के मतानुसार , "प्रशासन राजनीति की एक शाखा है ।" इसी प्रकार पॉल एपीलबी ने अपनी पुस्तक "नीति और प्रशासन" में ठीक ही लिखा है कि "सरकार के सारे शासन का सम्बंध राजनीति से होता है अतः नीति का निर्माण केवल उच्च स्तर पर ही नहीं अपितु सभी स्तरों के पदाधिकारियों द्वारा किया जाता है । प्रशासन, विधि द्वारा निर्धारित नीति को क्रियान्वित करने का कार्य करता है अतः प्रशासन को राजनीति से पृथक् नहीं किया जा सकता है ।

राजनीति विज्ञान व लोक प्रशासन के मध्य सम्बंधो की घनिष्ठता को निम्नांकित बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है:–

1. प्रशासन का नीति निर्माण करने में सक्रिय हाथ

यद्यपि नीति निर्माण राजनीतिज्ञों का कार्य है, लेकिन लोक सेवकों का विशेष ज्ञान, अनुभव, परामर्श, एकत्रित आँकड़े एवं आवश्यक सूचनाएँ मंत्रियों को नीति निर्माण करने में आवश्यक दिशा एवं दशा प्रदान करने में मदद करती है । इससे स्पष्ट होता है कि नीति निर्धारण में लोक प्रशासन की महती भूमिका रहती है। पॉल एपीलबी ने तो यहाँ तक कहा है कि "नीति का निर्माण ही लोक प्रशासन है ।"

2. प्रदत्त व्यवस्थापन

प्रदत्त व्यवस्थापन ने लोक प्रशासन व राजनीति विज्ञान के मध्य घनिष्ठता बढ़ाई है । समयाभाव, तकनीकी जटिलताएँ एवं अत्यधिक कार्य भार के कारण अधिकांश विधान मंडल विधेयकों की केवल रूपरेखा तैयार करती है तथा लोक सेवक ही इन विधेयकों को पूर्ण रूप देते हैं। इस विधि निर्माण की प्रक्रिया को प्रदत्त व्यवस्थापन कहते हैं । प्रदत्त व्यवस्थापन ने लोक प्रशासन एवं राजनीति विज्ञान के मध्य भेद को समाप्त करने का प्रयास किया है ।

3. सफलता परस्पर निर्भर

लोक प्रशासन एवं राजनीति विज्ञान दोनों की सफलता परस्पर एक दूसरे पर निर्भर करती है । जहाँ नीति निर्धारण में प्रशासन की महती भूमिका होती है, वहीं राजनीतिज्ञों द्वारा जारी नीतियों, कार्यक्रमों, एजेण्डों को लागू करना प्रशासन का उत्तरदायित्व है । यद्यपि नीति कितनी ही अच्छी क्यों न हो उसको ठीक ढ़ंग से लागू नहीं किया गया तो वांछित परिणाम प्राप्त नहीं होंगे । दूसरी तरफ आवश्यक वांछित सूचनाएँ व आँकड़ों के अभाव में उचित व्यावहारिक नीति नहीं बन सकती है ।

4. लोक प्रशासन का सैद्धान्तिक अध्ययन के रूप में जन्म

एक स्वतन्त्र तथा पृथक अध्ययन विषय के रूप में जन्म से पूर्व लोक प्रशासन लम्बे समय तक राजनीति विज्ञान का ही अंग रहा है । सैद्धान्तिक दृष्टि से राजनीति विज्ञान से पृथक् होते हुए भी व्यावहारिक एवं प्रक्रियागत स्थिति में दोनों विज्ञान आज भी घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है ।

5. उद्देश्यों में समानता

लोक प्रशासन व राजनीति विज्ञान दोनों का उद्देश्य लोक कल्याणकारी राज्य के मन्तव्यों को पूरा करना है । राज्य की कल्याणकारी अवधारणा के अनुरूप जनता की समस्याओं को इंगित कर सुलझाना, आवश्यक सुरक्षा व सुविधाएँ प्रदान करना दोनों शास्त्रों की आवश्यकता है । जहाँ सत्तारूढ़ राजनीतिज्ञ इस दिशा में आवश्यक नीति एवं कार्यक्रम घोषित करते हैं, वही प्रशासन उनकी उचित उपलब्धि हेतु आवश्यक प्रयत्न करता है।

6. स्थानीय स्वशासन

शासन के स्थानीय स्तर पर ग्राम पंचायत, पंचायत समिति, नगर पालिका आदि ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जा सकता है । उदाहरणार्थ, ग्राम पंचायत का सरपंच, राजनीतिक दृष्टि से जनप्रतिनिधि के रूप में तथा प्रशासन की दृष्टि से प्रशासक के रूप में कार्य करता है ।

7. संवैधानिक कानून

संवैधानिक कानून, लोक प्रशासन एवं राजनीति विज्ञान दोनों के विषय क्षेत्र में आते हैं । दोनों ही विषयों को दिशा एवं दशा प्रदान करते हैं ।

8. अन्तर्राष्ट्रीयता

आज के युग में वैश्वीकरण, निजीकरण, उदारीकरण ने विभिन्न राष्ट्रों को एक–दूसरे के नजदीक ला खड़ा किया है । अन्तर्राष्ट्रीयता के बढ़ते प्रभाव एवं अध्ययन ने मंत्रियों को लोक सेवकों पर निर्भर बना दिया है, वहीं दूसरी ओर लोक सेवकों को पहले से अधिक कार्यकुशल एवं दक्ष बनाने की राजनीतिज्ञों की पहल शुरु हुई है ताकि परस्पर सहयोग से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का कुशलता पूर्वक संचालन किया जा सके ।

राजनीति एवं प्रशासन में सहयोग आवश्यक है । इससे परस्पर टकराव को रोका जा सकता है । स्वस्थ परम्पराओं से मंत्री – लोक सेवकों के संबंधों में सुधार राष्ट्र की प्रगति का सूचक बन सकता है । जहाँ प्रशासन को अपनी पूरी योग्यता व क्षमता से नीतियों को निर्धारित करना चाहिए, वहीं मंत्रियो को स्वतन्त्र रूप से प्रशासकों के विचारों, सुझावों का आदर करना चाहिए ।

फिफनर ने राजनीतिज्ञों एवं प्रशासकों के मध्य दस भेद गिनाये हैं –

क्र.सं.	राजनीतिज्ञ	प्रशासक
1.	अव्यावसायिक	व्यावसायिक
2.	अप्राविधिक	प्राविधिक
3.	दलीय	अदलीय
4.	अस्थायी	स्थायी
5.	घनिष्ठ सार्वजनिक सम्पर्क	विरल सार्वजनिक सम्पर्क
6.	घनिष्ठ विधायी सम्पर्क	विरल विधायी सम्पर्क
7.	मुख्य नीति निर्माता	गौण नीति निर्माता

8.	निर्णय बहुल	परामर्श बहुल
9.	अधिक समन्वयकारी	अधिक क्रियान्वयन
10.	लोक मत से प्रभावित	आकड़ों व तथ्यों से प्रभावित

उपर्युक्त अन्तरों के आधार पर फिफनर ने लोक प्रशासन से राजनीति तथा राजनीतिज्ञों को प्रशासकों से अलग करने का प्रयास किया है लेकिन शासन संचालन के लिए परस्पर सहयोग को आवश्यक मानते हैं।

सारतः लोक प्रशासन और राजनीति विज्ञान के मध्य घनिष्ठ सम्बंध है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यद्यपि दोनों पूर्णतः अनुशासित एवं स्वतन्त्र विषय है तथापि दोनों के बीच इतनी अन्तः निर्भरता है कि दोनों अलग नहीं किये जा सकते हैं।

लोक प्रशासन और अर्थशास्त्र
(Public Administration and Economics)

लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा से पहले राज्य शान्ति, सुरक्षा एवं व्यवस्था बनाने जैसे सीमित कार्य ही करता था । लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप अनेक ऐसी समस्याओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका समाधान राज्य के सहयोग से ही सम्भव था । कार्य के घण्टे, श्रमिकों को उचित मजदूरी, कार्य की उत्तम दशाएँ, सभी क्षेत्रों का पूर्ण आर्थिक विकास ऐसे मुद्दे थे जिन्हें राज्य की देख – रेख में ही हल किया जा सकता था । अतः राज्य ने धीरे – धीरे आर्थिक क्षेत्र में दखल देना प्रारम्भ किया, लोक कल्याणकारी राज्य की उत्त्पत्ति से राज्य के आर्थिक कार्य क्षेत्र में ही वृद्धि नहीं हुई बल्कि लोक प्रशासन और अर्थशास्त्र के सम्बंधों में भी प्रगाढ़ता आई । आज लोक प्रशासन व अर्थशास्त्र न केवल एक दूसरे को प्रभावित करते हैं बल्कि एक दूसरे से प्रभावित भी हैं ।

अन्तर सम्बन्ध

लोक प्रशासन एवं अर्थशास्त्र के मध्य घनिष्ठ सम्बंधो को निम्नांकित बिन्दुओं से समझा जा सकता है –

1. प्रत्येक आर्थिक क्रिया का एक प्रशासकीय स्वरूप

प्रत्येक आर्थिक क्रिया का स्वरूप प्रशासकीय भी होता है । आर्थिक क्रियाओं की कुशलता पूर्वक सम्पन्नता तभी सम्भव है जबकि राज्य में शान्ति व्यवस्था दुरुस्त हो तथा प्रशासकीय अवरोध न हो । प्रशासन की जिम्मेदारी है कि वह इस दिशा में आवश्यक स्वस्थ, स्वच्छ एवं शान्तिपूर्ण वातावरण तैयार करे।

2. अनेक आर्थिक प्रश्न प्रशासन की परिधि में

कुछ आर्थिक प्रश्न ऐसे भी हैं जो प्रशासन की परिधि में हैं । जैसे कर, बजट, राष्ट्रीयकरण केवल आर्थिक प्रश्न ही नहीं बल्कि लोक प्रशासन के लिए भी गम्भीर व चुनौतीपूर्ण विषय हैं। वित्तीय प्रशासन एवं आर्थिक प्रशासन, लोक प्रशासन का प्रमुख अंग बन चुका है ।

3. आर्थिक प्रगति प्रशासन का कार्य

लोक कल्याणकारी राज्य में लोगों का आर्थिक स्तर उन्नत करना, आर्थिक विषमताओं को दूर करना, एवं निर्धनता समाप्त करना राज्य का प्रमुख दायित्व है । यह कार्य लोक प्रशासन के माध्यम से ही सफलतापूर्वक पूर्ण किया जा सकता है ।

4. आर्थिक सिद्धान्तों का महत्त्व

प्रशासन द्वारा लोक कल्याणकारी राज्य के दायित्वों की पूर्ति तभी सफलतापूर्वक की जा सकती है जबकि प्रशासक को आर्थिक क्रियाओं के साथ – साथ अर्थ– शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों, प्रवृत्तियों की पर्याप्त जानकारी हो ।

5. परस्पर विरोधी माँगें

लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में विभिन्न दबाव समूह, स्वहित समूह क्रियाशील रहते हैं । ये सभी अपनी – अपनी माँगे मनवाने का प्रयास करते हैं। उदाहरणार्थ, पूँजीपति अधिक उत्पादन एवं न्यूनतम मजदूरी तथा मजदूर अधिकतम मजदूरी व न्यूनतम उत्पादन के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। इसी तरह उपभोक्ता द्वारा न्यूनतम कीमत पर माल प्राप्त करना तथा उत्पादक द्वारा अधिकतम कीमत पर माल बेचना जैसी परस्पर विरोधी माँगे उठती रहती हैं जिसका उचित समाधान प्रशासन के सतर्क एवं संवेदनशील व्यवहार पर ही निर्भर करता है ।

6. प्रजातांत्रिक समाजवाद

आज समाजवाद का युग है । भारत ने प्रजातांत्रिक समाजवाद को अपनाया है । प्रजातांत्रिक समाजवाद के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु आवश्यक है कि प्रशासन द्वारा विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का आमजन तक विस्तार करते हुए सब को मूलभूत सुविधाएँ प्रदान की जाएँ । यह तभी सम्भव है, जब प्रशासनिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि क्रियाओं को कुशलतापूर्वक एवं समन्वित रूप से लागू किया जाए ।

7. अन्तर्राष्ट्रीयवाद

वैश्वीकरण, निजीकरण, उदारीकरण ने राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी आर्थिक तन्त्र को प्रभावित किया है । परिणामतः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक तन्त्र की स्थिति व स्वरूप में भारी बदलाव आया है । अतः आवश्यक होगा कि सरकार द्वारा विभिन्न मानव युक्त उद्योगों को संरक्षित किया जाए । नियम एवं लाइसेंस प्रणाली को समयानुकूल

बनाया जाए । आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु आर्थिक समस्याओं के साथ – साथ आर्थिक सिद्धांतों व उपकरणों की पूरी जानकारी प्राप्त कर आवश्यक कदम उठाये जाएँ ।

8. संसाधन प्रबन्ध

किसी भी लक्ष्य की पूर्ति हेतु वाछंनीय संसाधन होना आवश्यक है। संसाधन मनुष्य एवं सामग्री दोनों रूपों में प्रयुक्त होते हैं । यह दायित्व लोक– प्रशासन का है कि ऐसे उपाय सुनिश्चित किये जाएँ, जिससे मानवीय एवं भौतिक संसाधनो का सर्वोत्तम उपभोग हो सके । इसके लिए सर्वप्रथम मानवीय संसाधनों का कुशल प्रबन्ध किया जाए क्योंकि मानव संसाधन द्वारा ही भौतिक संसाधनों (पूँजी, मशीन, कच्चा माल आदि) का कुशलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है । प्रशासक अब निजी संगठनों की भाँति कुशलता एवं मितव्ययता को उद्देश्यपरक मानते हुए इस दिशा में प्रयत्नशील हैं ।

9. नवीन आर्थिक विचार

वैश्वीकरण, निजीकरण, उदारीकरण, नव प्रबन्धन आदि नवीन आर्थिक विचारों ने लोक प्रशासन के संगठनात्मक, संरचनात्मक स्वरूप को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि प्रशासन की गतिविधियों एवं कार्यरीतियों को भी प्रभावित किया है ।

10. पर्यावरणीय प्रभाव

लोक प्रशासन एवं अर्थशास्त्र के मध्य पारिस्थितिकीय प्रभाव देखा जा सकता है । किसी देश की प्रशासनिक व्यवस्था देश की अर्थ व्यवस्था की मजबूत स्थिति एवं उसके समयानुकूल परिस्थितियों पर निर्भर करती है । यदि किसी देश की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ है तथा लोगों का जीवन स्तर उन्नत है तो निश्चय ही प्रशासन की गतिविधियॉ एवं कार्यक्रम सफलता पूर्वक सम्पन्न होते हैं। इसी तरह प्रशासनिक भ्रष्टाचार एवं अकुशल प्रशासनिक तंत्र आर्थिक गतिविधियों एवं उपलब्धियों को दिशा भ्रमित करते हैं ।

सारतः यह स्पष्ट है कि लोक प्रशासन, अर्थशास्त्र के मध्य घनिष्ठ संबंध हैं । एक ओर लोक प्रशासन, अर्थशास्त्र को प्रभावित करता है, वहीं दूसरी ओर स्वयं प्रभावित भी होता है । यद्यपि यह सर्वविदित है कि बिना धन के कोई गतिविधियाँ सम्भव नहीं हैं लेकिन गतिविधियों के लिये भी आवश्यक है कि समाज में शान्ति व्यवस्था दुरुस्त हो ।

लोक प्रशासन एवं समाज शास्त्र
(Public Administration and Sociology)

समाज की समस्त गतिविधियों एवं सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन समाजशास्त्र की परिधि में आता है । विषय के रूप में 1838 में इसका प्रादुर्भाव हुआ लेकिन सामाजिक संस्था एवं उसकी गतिविधियों के रूप में पृथ्वी पर मानव की उपस्थिति के साथ ही विद्यमान रहा है । समाज शास्त्र एक विषय के रूप में समाज की स्थिति, सामाजिक समस्याओं , समाज की भूतकालिक स्थितियों के साथ – साथ भविष्यवर्ती सामाजिक व्यवस्था आदि से जुड़ा हुआ है अर्थात समाज शास्त्र मानव के उस व्यवहार से सम्बन्धित है जो एक सामाजिक प्राणी के रूप में या समूह के सदस्य के रूप में करता है । समाज शास्त्र व लोक प्रशासन में घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि समाज शास्त्र में संस्थाओं एवं समुदायों के बीच मानवीय सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है । लोक प्रशासन न केवल इन संस्थाओं एवं समूहों से प्रभावित होता है बल्कि इन्हें प्रभावित भी करता है ।

अन्तर्सम्बन्ध

लोक प्रशासन व समाज शास्त्र के मध्य अन्तर सम्बन्धों को निम्नांकित बिन्दुओं से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है :–

1. सामाजिक समस्याओं का समाधान

समाजशास्त्र में वर्तमान समाज की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है तथा लोक प्रशासन विभिन्न सामाजिक समस्याओं के समाधान का प्रयास करता है । कुशल प्रशासन के बिना इन समस्याओं का समाधान संभव नहीं है, वहीं प्रशासन को इन समस्याओं को सामाजिक पहलू से ही देखना होगा तभी इनका स्थायी समाधान होगा ।

2. प्रशासन का सामाजिक संदर्भ

प्रशासनिक व्यवस्था अपने आप में एक सामाजिक व्यवस्था भी है। अतः लोक प्रशासन के सामाजिक वातावरण एवं सामाजिक स्थितियों से प्रशासन प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । प्रशासन द्वारा अपराध रोकने, जेल प्रशासन एवं पुलिस प्रशासन में सुधार लाने, दण्ड व्यवस्था को सुचारू रूप से लागू करने के लिए सामाजिक वातावरण व स्थितियों का विशेष ध्यान रखा जाता है ।

3. सामाजिक घटनाएँ प्रशासनिक घटनाएँ भी

समाज में घटित होने वाली सामाजिक घटनाओं का समाज के साथ – साथ प्रशासन पर भी प्रभाव पड़ता है । इन घटनाओं से एक तरफ प्रशासन कुछ सीखता है तो दूसरी तरफ इनका अध्ययन – विश्लेषण कर समाज में सहयोग व सद्भाव का वातावरण बनाने हेतु विधिक एवं संस्थागत प्रयास करता है ।

4. दोनों शास्त्रों का आधार मनुष्य

समाज व लोक प्रशासन दोनों का केन्द्र बिन्दु मानव व उसका समुदाय है । समाज शास्त्र मनुष्य, समुदाय एवं

सामाजिक संस्थाओं के पारस्परिक सम्बंधों का अध्ययन करता है, वहीं लोक प्रशासन इनको नियमित करने हेतु कानून, नियम व उप नियम का निर्माण करता है ।

5. समाज प्रशासन का दर्पण

किसी भी देश का प्रशासन वैसा ही होता है, जैसा कि समाज । प्रशासन को समाज में ही अपना औचित्य सिद्ध करना होता है तथा प्रशासन में कार्यरत कार्मिक, समाज से ही आते हैं। भारत जैसे विकासशील देश में समाज रूढ़िवादी, निरक्षर, विभिन्न सामाजिक बुराइयों से युक्त तथा यथास्थिति बनाये रखने के पक्षधर होते हैं । इस प्रकार के समाज में प्रशासन के कार्य एवं उद्देश्य सामाजिक वातावरण व स्थितियों से प्रभावित रहते हैं । अतः प्रशासन को विभिन्न सामाजिक स्थितियों को परिवर्तनोन्मुखी, समयानुकूल बनाने के साथ – साथ स्वयं को भी समाज के अनुसार ढालना पड़ता है । अतः स्पष्ट है कि जैसा समाज होता है, वैसा प्रशासन होता है ।

6. समान विषय क्षेत्र

यद्यपि समाज शास्त्र में समुदाय, विभिन्न कबीलों, जातियों, वर्गों, सामाजिक संस्कृतियों आदि का अध्ययन किया जाता है तथापि लोक प्रशासन से भी इनका प्रत्यक्षतः संबंध है । इनका सम्यक् अध्ययन लोक प्रशासन की सफलता सुनिश्चित करता है ।

7. पारिस्थितिकीय प्रभाव

पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि व्यवस्था में एक कारक दूसरे कारक से न केवल प्रभावित होता है बल्कि दूसरे कारकों को प्रभावित भी करता है । अतः किसी देश का लोक प्रशासन अपने वातावरणीय कारकों अर्थात् आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक कारकों से न केवल प्रभावित होता है बल्कि इनको प्रभावित भी करता है । एक तरफ प्रशासन समाज की स्थिति, व्यवस्था, सहयोग एवं संघर्ष को व्यवस्थामय बनाता है वहीं दूसरी तरफ प्रशासन की संरचना, परिवेश व उसके कार्यकरण की रीतियाँ सामाजिक वातावरण के अनुरूप संचालित व नियमित होती है।

8. प्रशासन के लिए प्रेरणा

समाज लोक प्रशासन की प्रयोगशाला है । लोक प्रशासन लोक कल्याणकारी दायित्वों की पूर्ति समाज के लिए ही करता है । समाज में रह कर ही प्रशासनिक विकास को अंजाम देता है । विभिन्न समाज शास्त्रियों द्वारा समय – समय पर बाल अपराध रोकने, जेल एवं पुलिस प्रशासन में सुधार करने तथा प्रशासन के मानवीय तत्वों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव देकर प्रशासन को प्रेरणा प्रदान करते हैं ।

9. प्रशासन की उपादेयता

प्रशासन अपने बहुआयामी कार्यों को समाज में ही अंजाम देता है । प्रशासनिक उपलब्धियों की सफलता समाज की उन्नति में सहायक होती है । अतः समाज का जीवन स्तर, सोच आदि बातें प्रशासनिक कार्य, दक्षता एवं संवेदनशीलता पर निर्भर करती हैं । लेकिन प्रशासन के समस्त कार्यों की उपादेयता समाज द्वारा स्वीकृत होने पर ही सिद्ध होती है ।

निष्कर्षतः लोक प्रशासन एवं समाज शास्त्र के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है । जहाँ प्रशासन समाज को नवीन दिशा एवं दशा प्रदान करता है, वहीं समाज शास्त्र प्रशासन की संरचना, कार्यकरण के तरीकों व उसकी उपादेयता को प्रभावित करता है । यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि प्रशासन और समाज अन्योन्याश्रित है ।

लोक प्रशासन एवं विधि
(Public Administration and Law)

वर्तमान प्रजातांत्रिक सरकारों का आधार विधि अर्थात् कानून है । कानून को परिभाषित करते हुए गुडहर्ट लिखते हैं कि "कानून ऐसा कोई भी नियम है जो समुदाय के अधिकांश सदस्यों द्वारा अनिवार्य रूप से माना जाता है ।" विधि शब्द की व्याख्या भारतीय संविधान के अनुच्छेद – 13 में और अधिक स्पष्ट रूप से की गई है । अनुच्छेद – 13 के अधीन "विधि शब्द के अन्तर्गत कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, अधिसूचना, रूढियाँ, प्रथाएँ सम्मिलित की गई हैं ।" अनुच्छेद – 13 के अधीन वर्णित रीतियों के अतिरिक्त भी संविधि के अनुसार दिये जाने वाले समस्त आदेश भी विधि की श्रेणी में आते हैं ।

अन्तर्सम्बन्ध

लोक प्रशासन और विधि के मध्य अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि लोक प्रशासन व्यापक रूप से विधि व्यवस्था का प्रतीक है । इनके पारस्परिक सम्बन्धों को निम्नांकित बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है :–

1. लोक प्रशासन विधि के अन्तर्गत ही कार्य करता है

लोक प्रशासन की समस्त गतिविधियाँ एवं क्रियाकलाप विधि के अधीन संचालित होते हैं। लोक प्रशासन ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता जो विधि के प्रतिकूल हो । प्रशासन व प्रशासक के लिए कानून द्वारा निर्धारित सीमा लक्ष्मण रेखा का काम करती है, जिसे लांघा नहीं जा सकता ।

2. विधि निर्माण में लोक प्रशासन का हाथ

वर्तमान युग में सभी लोकतांत्रिक सरकारों में विधि निर्माण कार्य जन – प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है । लेकिन विधि निर्माण के लिये आवश्यक आँकड़े, वांछनीय तत्व, सूचनाएँ, व परामर्श प्रशासकों द्वारा मंत्रियों को दिया जाता है। प्रशासकों द्वारा प्रदत्त सूचनाओं एवं परामर्श के आधार पर ही विधि का निर्माण किया जाता है।

3. प्रदत्त व्यवस्थापन

समयाभाव एवं तकनीकी जटिलताओं के कारण किसी विषय पर विधान मण्डल आवश्यक रूप में विधान बनाते हैं तथा उसकी पूर्ति प्रशासक क्षेत्रीय परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार पूरा कर विधि प्रक्रिया को पूर्ण करता है । अर्थात् प्रदत्त व्यवस्थापन प्रशासकों को विधि निर्माण का एक अतिरिक्त दायित्व प्रदान करता है ।

4. लोक प्रशासन द्वारा कानून की क्रियान्विति

लोक प्रशासन का प्रमुख कार्य कानून को अर्थात् सार्वजनिक नीतियों को क्रियान्वित करना है । लोक प्रशासन के जनक वुडरो विल्सन के अनुसार, "लोक प्रशासन सार्वजनिक कानून के व्यवस्थित तथा विस्तृत क्रियान्वयन के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।"

5. विषय वस्तु की समानता

लोक प्रशासन व विधि दोनों के अध्ययन क्षेत्रों में काफी समानता है । राज्य के कानून, नियम, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, नियम, दण्ड विधि एवं संवैधानिक अधिकार विधि के साथ – साथ लोक प्रशासन से भी घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है।

6. विधि द्वारा प्रशासन को मर्यादित करना

कानून व्यक्ति के अधिकारों को भी संरक्षित करने का कार्य करता है । कानून यह बताता है कि प्रशासन के अधिकार कहाँ समाप्त होते है तथा जनता के अधिकार कहाँ प्रारम्भ होते हैं । यह स्पष्ट होता है कि कानून प्रशासन के असंयत व्यवहार व क्रिया कलापों से जनता के अधिकारों की रक्षा करता है ।

7. कानून प्रशासन पर अंकुश लगाता है

कानून द्वारा प्रशासन को उत्तरदायी बनाया जाता है । कानून वह मापदण्ड है जो यह निर्धारित करता है कि प्रशासन उचित ढंग से या उचित प्रक्रिया से कार्य कर रहा है अथवा नहीं । इसके लिए न्यायालय निर्णय करते हैं । संविधि निर्माण एवं विधिक क्रियान्विति द्वारा नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा करते हैं। संविधि निर्माण एवं विधिक क्रियान्विति का निर्धारण विभिन्न स्तरीय न्यायालयों द्वारा किया जाता है ।

8. लोक प्रशासन कानून की एक शाखा है

यूरोप के कई देशों में लोक प्रशासन को कानून के अन्तर्गत मानते हैं तथा कानून को लोक प्रशासन का भाग मान कर पढ़ाया जाता है ।

9. प्रशासकीय कानून

फ्रांस जैसे कई देशों में प्रशासकीय कानूनों की उपस्थिति प्रशासन को दोहरे कार्य करने के लिए अतिरिक्त दायित्व प्रदान करती है । भारत में प्रशासकीय न्यायाधिकरणों की अधिक क्रियाशीलता प्रशासकों को अधिक तालमेल व सामंजस्य के लिए प्रेरित करती है ।

10. संविधान सर्वोच्च कानून

संविधान सर्वोच्च कानून है, जिसके द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों एवं व्यक्ति की स्वतंत्रताओं की रक्षा की जाती है । लोक प्रशासन परोक्ष विधि निर्माण, प्रदत्त व्यवस्थापन, स्वविवेकीय शक्ति आदि के द्वारा व्यैक्तिक स्वतंत्रताओं व अधिकारों का दुरुपयोग न करे इसलिए आवश्यक उपबंध संविधान द्वारा उल्लेखित है ।

लोक प्रशासन व विधि शास्त्र के घनिष्ठ संबंधों की ओर प्रकाश डालते हुए वुडरो विल्सन लिखते हैं कि "दार्शनिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि प्रशासन का अध्ययन संवैधानिक सत्ता के समुचित वितरण के अध्ययन के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है ।"

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है । इनमें राजनीति विज्ञान, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र, विधि शास्त्र प्रमुख है। सामाजिक विज्ञानों के मध्य बढ़ती आत्मीयता एवं घनिष्ठता लोक प्रशासन को अन्तर अनुशासनात्मक विषय बनाने पर जोर देती है । यद्यपि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के साथ लोक प्रशासन के घनिष्ठ सम्बन्ध है तथापि लोक प्रशासन एक अनुशासन के रूप में स्वतंत्र एवं विकासशील है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- लोक प्रशासन के अध्ययन को सारगर्भित बनाने के लिए लोक प्रशासन व अन्य सामाजिक विज्ञानों के मध्य सम्बन्ध को जानना आवश्यक है।
- राजनीति विज्ञान राज्य की इच्छा का अध्ययन करता है, लोक प्रशासन राज्य की इच्छा को क्रियान्वित करता है।
- परम्परावादी दृष्टिकोण लोक प्रशासन व राजनीति विज्ञान में भेद करता है।

- आधुनिक दृष्टिकोण लोक प्रशासन व राजनीति विज्ञान के भेद को स्वीकार नहीं करता है।
- राजनीति विज्ञान व लोक प्रशासन के मध्य घनिष्ठता स्थापित करने वाले बिन्दु हैं :– 1. प्रशासन का नीति निर्माण में सक्रिय हाथ, 2. प्रदत्त व्यवस्थापन, 3. सफलता परस्पर निर्भर , 4. लोक प्रशासन का सैद्धांतिक अध्ययन के रुप में जन्म, 5. उद्देश्यों में समानता, 6. स्थानीय स्वशासन, 7. संवैधानिक कानून, 8. अन्तर्राष्ट्रीयता
- राजनीति एवं प्रशासन में परस्पर सहयोग अति आवश्यक है।
- आज के आर्थिक युग में प्रशासन की सफलता बहुत कुछ देश की आर्थिक उन्नति एवं प्रगति पर निर्भर करती है। अतः लोक प्रशासन व अर्थशास्त्र घनिष्ठ रुप से जुड़े हुए हैं।
- लोक प्रशासन एवं अर्थशास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्धों को व्यक्त करने वाले बिन्दु हैं:– 1. प्रत्येक आर्थिक क्रिया का एक प्रशासकीय स्वरूप, 2. अनेक आर्थिक प्रश्न प्रशासन की परिधि में, 3. आर्थिक प्रगति प्रशासन का कार्य 4. आर्थिक सिद्धान्तों का महत्त्व 5. परस्पर विरोधी माँगें 6. प्रजातान्त्रिक समाजवाद 7. अन्तर्राष्ट्रीयवाद 8. संसाधन प्रबन्ध 9. नवीन आर्थिक विचार 10. पर्यावरणीय प्रभाव
- लोक प्रशासन की कार्य स्थली समाज होने के कारण समाज की वर्तमान स्थिति, सामाजिक समस्याएँ, सामाजिक स्तर, संघर्ष, सहयोग आदि कारक लोक प्रशासन के सामाजिक, आर्थिक लक्ष्य ही नहीं निर्धारित करते बल्कि संरचनात्मक–कार्यात्मक बदलाव को प्रेरित करते हैं।
- लोक प्रशासन समाज को नवीन विचार, बदलाव, उन्नत एवं शांतिमय वातावरण उपलब्ध कराता है।
- लोक प्रशासन एवं समाज शास्त्र के सम्बन्ध को निम्न बिन्दुओं से अभिव्यक्त किया जा सकता है:– 1. सामाजिक समस्याओं का समाधान 2. प्रशासन का सामाजिक संदर्भ 3. सामाजिक घटनाएँ एवं प्रशासनिक घटनाएँ 4. दोनों शास्त्रों का आधार मनुष्य 5. समाज प्रशासन का दर्पण 6. समान विषय क्षेत्र 7. परिस्थितिकीय प्रभाव 8. प्रशासन के लिए प्रेरणा 9. प्रशासन की उपादेयता
- कानून लोक प्रशासन को निरंकुश होने से रोकता है तथा उत्तरदायी बनाये रखता है।
- लोक प्रशासन विधि निर्माण के साथ–साथ उसके क्रियान्वयन एवं समीक्षाओं से जुड़ा हुआ है।
- लोक प्रशासन एवं विधिशास्त्र के मध्य अन्तर सम्बन्धों को स्पष्ट करने वाले बिन्दु है :– 1. लोक प्रशासन विधि के अन्तर्गत कार्य करता है 2. विधि निर्माण में लोक प्रशासन का हाथ 3. प्रदत्त व्यवस्थापन 4. लोक प्रशासन द्वारा कानून की क्रियान्विति 5. विषय वस्तु की समानता 6. विधि द्वारा प्रशासक को मर्यादित करना 7. कानून प्रशासन पर अंकुश लगाता है 8. लोक प्रशासन कानून की शाखा का एक भाग है 9. प्रशासकीय कानून 10. संविधान सर्वोच्च कानून।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :–

1. राज्य, सत्ता, शासन, अधिकार किस सामाजिक विज्ञान का प्रमुख अध्ययन क्षेत्र है ?
   (अ) लोक प्रशासन (ब) राजनीति विज्ञान
   (स) विधि शास्त्र (द) समाज शास्त्र ( )
2. अध्ययन विषय के रूप में लोक प्रशासन का जन्म किस विषय से हुआ है ?
   (अ) विधि (ब) समाज शास्त्र
   (स) अर्थ शास्त्र (द) राजनीति विज्ञान ( )
3. उत्पादन, उपभोग, विनियोग व वितरण आदि किस विषय से सम्बन्धित क्षेत्र है ?
   (अ) अर्थ शास्त्र (ब) लोक प्रशासन
   (स) समाज शास्त्र (द) विधि ( )
4. सहयोग, संघर्ष, परिवर्तन, शक्ति का लोक प्रशासन पर प्रभाव पड़ता है यह सभी किस विषय के अध्ययन से जुड़े हुए है ?
   (अ) समाज शास्त्र (ब) राजनीति विज्ञान
   (स) विधि (द) लोक प्रशासन ( )
5. कर, बजट, आदि विषय किस सामाजिक विज्ञान से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं ?
   (अ) समाज शास्त्र (ब) विधि
   (स) अर्थ शास्त्र (द) राजनीति विज्ञान ( )
6. संविधान सर्वोच्च कानून है, इस आधार पर लोक प्रशासन का किस सामाजिक विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है ?
   (अ) अर्थशास्त्र (ब) लोक प्रशासन
   (स) समाज शास्त्र (द) विधि ( )

7. लोक प्रशासन को मर्यादित रखने व निरंकुश होने से रोकता है –
   (अ) समाज शास्त्र (ब) विधि
   (स) मनो विज्ञान (द) अर्थ शास्त्र ( )
8. लोक प्रशासन किसके अधीन कार्य करता है ?
   (अ) राजनीति विज्ञान (ब) अर्थ शास्त्र
   (स) समाज शास्त्र (द) कानून (विधि) ( )

अति–लघूत्तरात्मक प्रश्न :–

1. लोक प्रशासन का जन्म किस विषय से हुआ है ?
2. पिफनर द्वारा प्रशासक व राजनीतिज्ञो के मध्य बताये अन्तरो में से कोई दो अन्तर लिखिए ।
3. लोक प्रशासन प्रत्यक्षतः किसके अधीन कार्य करता है ?
4. " राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ व अन्त राज्य के साथ ही होता है।" यह कथन किस विद्वान का है ?
5. उस विद्वान का नाम बताइये जो यह कहता है कि " नीति का निर्माण ही लोक प्रशासन है । "
6. लोक प्रशासन एवं विधि के मध्य पारस्परिक संबंधों को इंगित करने वाले कोई दो बिन्दु बताइये ।
7. लोक प्रशासन एवं राजनीति विज्ञान में भेद नहीं करने वाले दो विद्वानों के नाम बताइये ।
8. लोक प्रशासन की मर्यादा एवं सीमा कौन सा विषय सुनिश्चित करता है ?
9. लोक प्रशासन व समाज शास्त्र के मध्य सम्बन्धों की व्याख्या करने वाले दो मुख्य बिन्दु बताइये ।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :–

1. लोक प्रशासन व राजनीति विज्ञान के मध्य संबंधो की संक्षेप में व्याख्या कीजिये ।
2. लोक प्रशासन व अर्थ शास्त्र के अन्तर्सम्बन्धों पर टिप्पणी लिखिए ।
3. कानून (विधि) किस प्रकार लोक प्रशासन को प्रभावित करता है ?
4. "समाज प्रशासन का दर्पण होता है।" टिप्पणी लिखिए ।
5. लोक प्रशासन एवं राजनीति विज्ञान के मध्य फिफनर द्वारा बतायी गयी असमानताएँ बताइये ।
6. विधि लोक प्रशासन के लिये सीमा व मर्यादा सुनिश्चित करती है, स्पष्ट करें।
7. आर्थिक विकास व प्रगति के लिये प्रशासनिक सहयोग आवश्यक है, स्पष्ट करें।
8. विधि निर्माण में लोक प्रशासन किस प्रकार सहयोग करता है ?

निबन्धात्मक प्रश्न :–

1. लोक प्रशासन व राजनीति विज्ञान के मध्य अन्तर घटता जा रहा है । विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. लोक प्रशासन एवं अर्थशास्त्र के मध्य पारस्परिक सम्बंधो की व्याख्या कीजिए ।
3. लोक प्रशासन एवं विधि के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है, व्याख्या कीजिए।
4. लोक प्रशासन एवं समाजशास्त्र के मध्य संबंधों की विवेचना कीजिए।

उत्तरमाला

1. (ब) 2. (द) 3. (अ) 4. (अ) 5. (स) 6. (द) 7. (ब) 8. (द)

अध्याय–4

संगठन : अर्थ, आधार एवं रूप
(Organisation : Meaning, Basis and Form)

किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सामूहिक रुप से किया गया योजनाबद्ध प्रयास 'प्रशासन' कहलाता है। यह आवश्यक है कि सामूहिक उद्देश्यों के लिए लोग ठीक प्रकार से संगठित हों, तभी वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। यह तब ही संभव हो सकता है, जब एक ठोस संगठन की संरचना की जाए, जिसके माध्यम से लोगों की सामुहिक शक्ति को ठीक प्रकार से सामान्य लक्ष्य–प्राप्ति के लिये व्यवस्थित किया जा सके। अतः संगठन को प्रत्येक प्रशासकीय कार्य की पहली कड़ी कहा जा सकता है।

वर्तमान समय में संगठन मानव की प्रत्येक गतिविधि के साथ जुड़ा हुआ है। अमिताई इटजिओनी के शब्दों में, ''कुशल संगठन के अभाव में हमारा जीवन स्तर, हमारी संस्कृति और हमारा प्रजातान्त्रिक जीवन कायम नहीं रह सकता।'' मानव कल्याण और संगठनात्मक विवेक एक सीमा तक साथ–साथ चलते हैं। मनुष्य संगठन के लक्ष्यों को अपने जीवन के मूल्यों के रूप में स्वीकार करते हैं। मनुष्यों का अधिकांश समय किसी–न–किसी संगठन में व्यतीत होता है। मनुष्यों की पहचान भी इसी आधार पर होती है कि वे कैसे संगठन के सदस्य हैं। डब्ल्यू. एच. व्हाइट का यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि हम '' संगठनात्मक मानव युग'' में रह रहे हैं।

संगठन का अर्थ : (Meaning of Organisation)

सामान्य अर्थ में संगठन का तात्पर्य किसी कार्य को योजनाबद्ध रूप से सम्पन्न करना है। संक्षिप्त ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार , संगठन शब्द का निर्माण '' टू ऑर्गनाइज'' से हुआ है, जिसका तात्पर्य, तैयार करना एवं चालू अवस्था में रखना है। संगठन शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया जा सकता है। प्रथम, संरचना का ढांचा तैयार करना एवं द्वितीय, उसका निर्माण करना तथा तृतीय, स्वयं संरचना है। इसी शब्दकोष के अनुसार ही संगठन का अर्थ ''किसी वस्तु के परस्पर आश्रित भागों को जोड़ने के कार्य को कहते हैं, जिससे प्रत्येक भाग को विशिष्ट कार्य मिल जाए और वह सम्पूर्ण भागों से सम्बन्ध रखता हुआ कार्य को सम्पन्न कर सके।''

एल. डी. व्हाइट के अनुसार, ''संगठन का अर्थ कर्मचारियों की उस अवस्था से है, जो निश्चित किए हुए विषयों की प्राप्ति के लिये कार्यों एवं उत्तरदायित्वों को विभाजित करके स्थापित की जाती है।''

गॉस ने संगठन की परिभाषा देते हुए लिखा है कि ''किसी एक कार्य में लगे हुए व्यक्तियों तथा समूहों के प्रयत्नों एवं क्षमताओं का सम्बन्ध ही संगठन है, जिससे कम से कम संघर्ष से वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके, जिनके लिये वह कार्य किया जा रहा है तथा जो उस उद्यम से सम्बन्धित है, उन्हें उससे अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो सके ।''

ग्लैडन के अनुसार , ''संगठन का सम्बन्ध किसी उद्यम में लगे हुए व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के आकार से है, जिनका निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे वे उस उद्यम कार्यों की पूर्ति कर सकें।''

जे. डी. मुने के अनुसार, ''संगठन सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय सहयोग है।'' मिल्वर्ड ने संगठन की परिभाषा देते हुए लिखा है, ''प्रत्यायोजित सत्ता रेखा से जुड़े हुए अन्तर्सम्बन्धित अंगों की व्यवस्था संगठन संरचना कहलाती है।'' एल. उरविक के अनुसार, ''संगठन में उन क्रियाओं का निर्धारण आता है, जो किसी भी कार्य या योजना के लिये आवश्यक है और उनकों ऐसे वर्गों में क्रमबद्ध करना है कि वे विभिन्न

व्यक्तियों को सौंपे जा सके'' साइमन ने संगठन की परिभाषा देते हुए बतलाया है कि, ''मनुष्यों के एक वर्ग में परस्पर व्यवहारों तथा सम्बन्धों की जटिल संचार व्यवस्था को ही संगठन कहा जाता है।'' सुल्जे के अनुसार ,''एक संगठन एक मानव सामग्री साधन, स्थान तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को क्रमबद्ध तथा प्रभावशाली ढंग से जुटाने को कहते हैं, जिससे वांछित लक्ष्य प्राप्त हो सके।''

संगठन की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर संगठन शब्द व्यापक अर्थ रखता है। संगठन के संरचनात्मक दृष्टिकोण से सम्बन्धित विद्धान संगठन का तात्पर्य आकार एवं निर्माण से लेते हैं जिसमें एक आकार तैयार किया जाता है और उस आकार के अनुरूप संगठन का ढांचा खड़ा किया जाता है, इकाइयों का उत्तरदायित्व निर्धारित किया जाता है तथा उचित व्यक्तियों की भर्ती की जाती है। इसमें मानवीय सम्बन्धों के पक्ष को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। डिमोक एवं डिमोक के शब्दों में — ''संगठन में संरचना तथा मनुष्य दोनों ही होते है।'' संगठन को केवल एक संरचना के रूप में ही देखना तथा मनुष्यों को, जो उसका निर्माण करते हैं और जिनकी सेवा में संगठन संलग्न होता है, उपेक्षा करना तथा उनका ध्यान न रखना सर्वथा अव्यावहारिक है।'' अतः आधुनिक विद्वानों ने संगठन में मानवीय पहलुओं को भी विशिष्ट स्थान दिया है। वे इसे एक जीव प्रक्रिया मानते हैं उनके अनुसार , संगठन एक जीवित प्राणी के समान है। इसमें सभी प्रक्रियाएँ दिखाई देती है, जिन्हें हम नाड़ी, हृदय धड़कन, रक्त संचार इत्यादि नामों से पुकारते हैं।

संगठन का कार्य लोगों के लिए साधनों एवं अवसरों की संख्या बढ़ाना है, जिनके लिये इसकी स्थापना की गई है। इसमें परिवर्तन की सम्भावना जुड़ी रहती है। ग्लेडन के अनुसार ,''कोई भी परिवर्तनरहित संगठन मरणासन्न है।'' साइमन के अनुसार , संगठन अपने सदस्यों को निम्नलिखित प्रकार से प्रभावित करता है–

1. कार्य विभाजन द्वारा,
2. प्रामाणिक प्रयोगों को निर्धारित करके,
3. नीचे, ऊपर तथा पार्श्वों में अपने निर्णयों को प्रसारित करके,
4. संचार व्यवस्था स्थापित करके जिसमें सभी प्रकार की सूचनाएँ उपलब्ध हों,
5. सदस्यों को प्रशिक्षण द्वारा।

संगठन सम्बन्धी दृष्टिकोण औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन

(Approach Towards Organization : Formal and Informal Organizations)

संगठन के सम्बन्ध में अलग–अलग व्यक्तियों का अलग–अलग दृष्टिकोण रहता है। संगठन से सम्बन्धित विद्वान संगठनों को दो प्रकार का मानते हैं– औपचारिक संगठन एवं अनौपचारिक संगठन । औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठनों को विभिन्न नामों से भी पुकारा जाता है, जैसे – औपचारिक संगठन को नौकरशाही, पदसोपानीय, यान्त्रिक एवं शास्त्रीय तथा अनौपचारिक संगठन को सामूहिक, प्रतिस्पर्धी, खुला बाजार, मानवीय, प्राकृतिक, एवं आंगिक कह कर पुकारा जाता है। दोनों प्रकार के संगठनों के मिश्रित स्वरूप से सम्बन्धित नये दृष्टिकोण को जेम्स थोम्पसन ने ''नयी परम्परा'' के नाम से पुकारा है।

औपचारिक संगठन (Formal Organisation)

औपचारिक संगठन का तात्पर्य ऐसे संगठन से है, जिसमें संगठन का ढांचा स्पष्टतया परिभाषित रहता है। संगठन पदसोपान एवं कार्य विभाजन के सिद्धान्तों पर आधारित रहते हुए अपने वांछित उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह संगठन का परम्परागत स्वरूप है जिसका लोक प्रशासन के विचारों पर पूरा प्रभाव पड़ा है। संगठन के औपचारिक स्वरूप को कई नामों से पुकारा जाता है। जैसे यान्त्रिक संगठन, नौकरशाही संगठन, पद–सोपानीय संगठन, परम्परागत संगठन, शास्त्रीय संगठन इत्यादि । औपचारिक संगठन के ढ़ाचें में वे रूप एवं पहलू आते हैं जो कि अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं तथा उनमें परिवर्तन धीरे–धीरे होता है। एल. डी. व्हाइट औपचारिक संगठन के बारे में लिखते हैं, ''यह सम्बन्धों की एक औपचारिक घोषित स्थिति है जो शासन में कानून तथा उच्चतम प्रबन्ध द्वारा निर्धारित की जाती है'' इसे चित्र या रेखाचित्र पर अंकित किया जा सकता है, भले ही यह परिपूर्ण न हो।'' एल. उरविक के अनुसार, ''संगठन से तात्पर्य वह औपचारिक ढांचा है जिसकी संरचना स्पष्ट सिद्धान्तों, नियमों तथा उपनियमों के आधार पर विशेषज्ञों द्वारा की जाती है।''

औपचारिक संगठन की विशेषताएं

औपचारिक संगठन की इन परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि औपचारिक संगठन का स्वरूप स्थाई एवं सुनिश्चित रहता है। ऐसा संगठन कार्य दक्षता पर अधिक जोर देता है। इसमें निर्वैयक्तिक्ता पायी जाती है। औपचारिक संगठन की निम्न विशेषताएँ बतलायी जा सकती है—

1. स्थायी दशाओं में नियमित कार्य सम्पन्न किया जाना ।
2. कार्य विशेषीकरण (कार्य विभाजन)
3. साधनों (कार्य करने के सही तरीकों) पर जोर दिया जाता है।
4. संगठन के आन्तरिक विभागों का निर्णय संगठन के उपरी अधिकारियों द्वारा किया जाता है।
5. उत्तरदायित्व (किसको क्या कार्य करना या औपचारिक कार्यों का वर्णन) पर जोर दिया जाता है।
6. प्रत्येक का प्राथमिक उत्तरदायित्व तथा निष्ठा उसकी संगठनीय उप–इकाई के प्रति रहती है।
7. संगठन का स्वरूप पदसोपानीय रहता है (संगठन पिरामिड की तरह दिखाई देता है।)
8. संगठन के बारे में ज्ञान केवल पद सोपान के शिखर पर रहता है। (केवल मुख्य कार्यपालिका ही प्रत्येक बात को जानता है।)
9. संगठन में मनुष्यों का आपसी व्यवहार लम्बवतीय होता है, एक ऊपर से आदेश प्राप्त करता है तथा अपने अधीनस्थ को प्रेषित करता है।
10. व्यवहार की प्रणाली आज्ञापालन, आदेश तथा सर्वोच्च अधीनस्थ सम्बन्धों द्वारा निर्देशित होती है।
11. संगठन में प्रतिष्ठा का अंकन व्यक्ति द्वारा धारित पद या कार्यालय से होता है।

औपचारिक संगठन सम्बन्धी दृष्टिकोण : (Formal Organization Approach)

औपचारिक संगठन से सम्बन्धित दृष्टिकोणों को तीन विचारधाराओं के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है।

1. नौकरशाही विचारधारा (Beaurocracy Ideology)

संगठन के सम्बन्ध में नौकरशाही की विचारधारा को केन्द्रीय मानते हुए जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित विचारधारा इस बात पर जोर देती है कि संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति करने के लिये नौकरशाही अनिवार्य है। यह आदर्श प्रारूप है। वेबर की इस विचारधारा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :–

1. पदसोपान
2. पदोन्नति व्यावसायिक कार्य कुशलता एवं योग्यता पर आधारित ।
3. नौकरशाही में जीवनवृत्ति की प्रवृत्ति पाई जाती है।
4. नियम के पालन पर जोर ।
5. संगठन के कर्मचारियों एवं सम्बन्धित व्यक्तियों के बीच निर्वैयक्तिक सम्बन्ध रहता है।

मैक्स बेबर की नौकरशाही विचारधारा को मानवीय सम्बन्धों पर जोर देने वाले विद्वान स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि यह विचारधारा यान्त्रिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे कठोर साधनों पर अधिक जोर देने तथा अमानवीय होने के कारण अव्यावहारिक माना जाता है।

2. वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा (Scientific Management Ideology)

संगठन के औपचारिक स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण वैज्ञानिक प्रबन्ध का है। बीसवीं सदी में विकसित यह विचारधारा मुख्यतया फ्रेडरिक टेलर की देन है जिसके अनुसार, प्रबन्ध सच्चा विज्ञान है जो सुनिश्चित विधियों, नियमों, सिद्धान्तों पर आधारित है। प्रबन्ध से तात्पर्य उन विभिन्न सिद्धान्तों से है जो सभी प्रकार के संगठनों पर समान रूप से लागू होते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य उत्पादन–वृद्धि में संगठनात्मक कार्य–कुशलता तथा मितव्ययता को प्राप्त करना है। वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा मनुष्य को मशीन के समकक्ष मानती हुई इस बात पर जोर देती है कि उसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों में मशीन की भांति कार्य कुशलता आये। वैज्ञानिक प्रबन्ध से सम्बन्धित विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से कुछ सिद्धान्तों का सामान्यीकरण किया गया है :–

1. कार्यों के तरीकों का मानकीकरण ।
2. मजदूरों का वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण ।
3. प्रबन्धकों एवं मजदूरों के बीच समान कार्य विभाजन ।
4. **प्रबन्धकों एवं मजदूरों में परस्पर विश्वास एवं सहयोग।**

वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा ने संगठनीय सिद्धान्तों को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया । अपने अनुभव एवं प्रयोगों द्वारा इसके प्रणेता फ्रेडरिक विन्सलो टेलर ने संगठन की कार्य कुशलता एवं मितव्ययता के लिये इस बात पर बल दिया कि प्रबन्ध को निर्धारित विधियों एवं सिद्धान्तों, जो सभी संगठनों में सार्वभौमिक रूप से लागू किये जा सकते हैं,पर आधारित होना चाहिए ।

यद्यपि वैज्ञानिक प्रबन्धक विचारधारा का काफी लम्बे समय तक लोक–प्रशासन में प्रचलन रहा, पर आलोचकों ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया कि मनुष्य मशीन के समान है।

3. प्रशासकीय प्रबन्ध विचारधारा (Administrative Management Ideology)

संगठन के औपचारिक दृष्टिकोण से जुड़ी तीसरी विचारधारा ''प्रशासकीय प्रबन्ध'' है। लूथर गुलिक, एल. उरविक, जे. डी. मूने एवं ऐलेन सी. रिले इसके प्रमुख प्रणेता हैं। यह विचारधारा यह मानती है कि प्रशासन, जहां भी है, वह अपनी शक्ति, प्रबन्ध के सिद्धान्तों के अनुसंधान में लगाता है, ये सिद्धान्त कहीं भी प्रयोग में लाये जा सकते हैं। गुलिक एवं उरविक ने इस सम्बन्ध में ''पोस्डकोर्ब'' का प्रचलन किया । मूने एवं रिले ने समन्वय, पदसोपान, कार्य– विभाजन एवं लाइन एवं सूत्र के सिद्धान्तों का प्रचलन किया। मेरी पार्कर फोलेट एवं हेनरी फियोल ने भी प्रशासकीय सिद्धान्त बतलाये। ये प्रशासकीय सिद्धान्त संगठन में कार्य कुशलता के लिये आवश्यक माने गये। इस विचारधारा ने औपचारिक संगठनों को जन्म दिया। यद्यपि मानवीय सम्बन्धों के पक्षधर तथा इस सिद्धान्त के आलोचक इन्हें कठोर, अमानवीय, अव्यावहारिक इत्यादि कह कर आलोचना करते हैं। हरबर्ट साइमन इन्हें ''कहावतें'' कहते हैं।

अनौपचारिक संगठन (Informal Organisation)

कोरसन एवं हैरिस लिखते हैं कि, ''किसी भी संगठन का वास्तविक चित्र हमें औपचारिकता में नहीं मिलता क्योंकि प्रत्येक संगठन में भिन्न–भिन्न एवं जटिल सम्बन्ध होते हैं, जिसका अध्ययन करना आवश्यक होता है। संगठन की औपचारिक योजना कार्यरूप में सदैव उससे भिन्न हो जाती है। संगठन की औपचारिक तस्वीर के आधार पर गहराई में नहीं पहुंच सकते। संगठन में अनेक प्रकार के अलिखित दबाव एवं प्रभाव होते हैं। हर्बर्ट साइमन के अनुसार, **''अनौपचारिक** संगठन से तात्पर्य, उन अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों से है, जो संगठन के निर्णयों को प्रभावित करते हैं, जिनका उल्लेख औपचारिक योजना में होने से रह गया है या उसके भाग के रूप में नहीं है।'' यह संगठन के सदस्यों के वास्तविक व्यवहार का रूप है। अनौपचारिक संगठन को कई नामों से पुकारा जाता है, जैसे ''कोलेजियल'', ''प्रतियोगी'', ''प्राकृतिक'', ''आंगिक'', ''खुला मॉडल'' इत्यादि।

एल. डी. व्हाइट ने अनौपचारिक संगठन की परिभाषा देते हुए यह लिखा है कि, '' यह अधिक उग्र होता है। सामाजिक एवं आर्थिक अन्तर, जाति या भाषा का अन्तर, शिक्षा का स्तर एवं वैयक्तिक रूचियां या अरूचियां इत्यादि संगठन पर प्रभाव डालती हैं। यह न तो लिखा हुआ होता है और न ही निर्मित बल्कि भावना प्रधान होता है।'' अनौपचारिक संगठन की निम्नलिखित विशेषताएं है :–

1. अस्थायी दशाओं के परिणामस्वरुप उत्पन्न कार्य ।
2. विशेषीकृत ज्ञान, सामान्य कार्यों की पूर्ति के लिए।
3. लक्ष्यों पर जोर।
4. संगठन के आन्तरिक विवादों का संगठन के मुखिया द्वारा परस्पर विचार विमर्श द्वारा निराकरण।
5. उत्तरदायित्वों का बिखराव ।
6. प्रत्येक की निष्ठा एवं उत्तरदायित्व सम्पूर्ण संगठन के प्रति।
7. संगठन की लचीली संरचना ।
8. संगठनीय ज्ञान प्रत्येक स्तर पर ।

9. संगठनीय मानवों में क्षितिजीय एवं लम्बवतीय क्रिया एवं प्रतिक्रिया।
10. संगठनीय क्रियाएं एवं प्रतिक्रियाएं परामर्श के रूप में ।
11. संगठन में प्रतिष्ठा का निर्धारण व्यक्तिगत, व्यावहारिक कार्यकुशलता एवं प्रतिष्ठा द्वारा ।

अनौपचारिक संगठन, औपचारिक संगठन की कार्यशीलता को प्रभावित करते है। अनौपचारिक संगठन के सदस्य अपने मानकीकरण स्थापित कर लेते हैं जो सामान्य हितों एवं विचारों के आदान–प्रदान पर आधारित रहते हैं। ऐसे संगठनों का मूल उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। बर्नार्ड के शब्दों में, ''औपचारिक संगठन सामाजिक संगठन में विद्यमान भावनाओं एवं मूल्यों का ध्यान नहीं रख सकता जिसके साथ व्यक्ति एवं व्यक्तियों के समूह अनौपचारिक रूप से जुड़े हुए होते हैं।'' यह बात समझ लेनी चाहिये कि अनौपचारिक संगठन, सामाजिक जीवन एवं उसके अस्तित्व का मूल रूप है। गोलेफ लिटरर के शब्दों में, ''ऐसे संगठन मानव जीवन के आवश्यक चलायमान भाग एवं अविच्छेदनीय अंग हैं। यह पूर्ण संगठन होता है।''

अनौपचारिक संगठन सम्बन्धी दृष्टिकोण या विभिन्न विचारधाराएँ

अनौपचारिक संगठन से सम्बन्धित निम्नलिखित तीन विचारधाराएँ महत्त्वपूर्ण हैं

अ. मानव सम्बन्ध विचारधारा (Human Relation Ideology)

अनौपचारिक संगठन से जुड़ी मानव सम्बन्ध विचारधारा अनौपचारिक सम्बन्ध, मानवीय भावनाएं तथा समूह व्यवहार को संगठन के क्रिया–कलापों का केन्द्र मानता है। एल्टन मेयो, फ्रिटज जे. रोथलिसबर्गर एवं डब्ल्यू. जे. डिक्सन द्वारा किये गए प्रयोगों के आधार पर यान्त्रिक या औपचारिक विचारधारा के सिद्धान्तों को अव्यावहारिक बताते हुए, संगठन के बारे में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया। ये प्रयोग ''हाथोर्न प्रयोग'' के नाम से विख्यात हैं। मानव सम्बन्ध विचारधारा के अन्तर्गत निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए—

1. मानव श्रमिक मशीन के समकक्ष नहीं है।
2. श्रमिक द्वारा उत्पादन, सुविधापूर्ण भौतिक दशाओं पर निर्भर नहीं करता है।
3. उत्पादन का स्तर संगठन में समूह द्वारा निर्धारित किया जाता है ।
4. व्यक्तिगत सन्तुष्टि और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति का कार्य की दशाओं पर प्रभाव पड़ता है।

इस विचारधारा का बाद के संगठनीय विचारकों पर भी प्रभाव पड़ा। अभिप्रेरण एवं कार्य सन्तोषीकरण से सम्बन्धित अनुसन्धान इस विचारधारा से प्रभावित रहे। ए. एच. मैसलो, फ्रेडरिक हजबर्ग इत्यादि ने इसी विचारधारा से प्रेरणा ली ।

ब. संगठनीय विकास (Organisational Development)

संगठनीय विकास विचारधारा महत्त्वपूर्ण विचारधारा है, जो व्यवहारिक ज्ञान के आधार पर संगठन की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए ऊपर से किया गया योजनाबद्ध संगठनीय प्रयास है। इस प्रयास में बाहरी परामर्श की सहायता ली जा सकती है। इस विचारधारा की निम्नलिखित विशेषताएं है:–

1. प्रत्येक सदस्य की दूसरों के साथ दक्षता में वृद्धि,
2. संगठन में मानवीय भावनाओं की वैधानिकता,
3. सदस्यों में परस्पर विश्वास का विस्तार,
4. तनाव में कमी,
5. ''टीम प्रबन्ध'' एवं अन्तर्समूह सहयोग को बढ़ावा,
6. गैर सत्तात्मक एवं परस्पर क्रियाओं द्वारा संघर्षों के समाधान की तकनीक का विकास और
7. कम संरचित एवं आर्थिक आंगिक संगठन।

कुर्त लेविन, लिपिट, मैक ग्रेगर, बैले इत्यादि विद्वानों ने इस विचारधारा को विकसित किया ।

स. संगठन अपने परिवेश में एक इकाई के रूप में (Organisation as a part of its Ecology)

चेस्टर बर्नार्ड, डेविड़ सेल्जनिक तथा बर्टन क्लार्क ने संगठन को विश्लेषण की एक पूर्ण इकाई मानते हुए यह बतलाया है कि संगठनीय दबाव एवं तनाव पर्यावरण से आते हैं तथा संगठन को एक व्यूह रचना तैयार करनी चाहिए, जिससे वह पर्यावरण द्वारा उत्पन्न समस्याओं का मुकाबला कर सके। संगठन के सदस्य सामाजिक एवं मानसिक दृष्टि से पर्यावरण से प्रभावित होते हैं।

औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठनों में अन्तर

अन्तर का आधार	औपचारिक संगठन	अनौपचारिक संगठन
1. संगठनीय पर्यावरण	स्थायी, नियमित	अस्थायी
2. मानव की प्रकृति	सिद्धान्त पर बल	व्यवहार पर बल
3. कार्यों का आधार	आदेश एवं आशा, नियम	मानववाद, संचार खुलापन, नवोन्मेषण
4. संगठन की सामाजिक– नागरिक एवं नौकरशाही		नागरिक के रूप में ही नौकरशाही की भूमिका

औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन में पूर्व वर्णित अन्तर होते हुए भी एक दूसरे के विरोधी या विकल्प के रूप में नहीं है। कोई भी औपचारिक योजना, चाहे वह कितनी कुशलता के साथ बनायी गई हो, पूर्ण नहीं हो सकती है, उसमें शून्यता आ जाती है । जिसकी पूर्ति अनौपचारिक संगठन के द्वारा ही की जा सकती है। यह असमानता बढ़ती जाती है क्योंकि रेखाचित्रों की निर्धारित बातें, सामाजिक तथा आर्थिक भाषाओं के अन्तर, शिक्षा सम्बन्धी स्तर, जाति, विचार इत्यादि को ध्यान में रखकर संशोधित एवं परिवर्तित हो जाती है। चेस्टर बर्नार्ड के शब्दों में ''अनौपचारिक संगठन कोई बुराई नहीं है, अगर वह पहले से अस्तित्व में नहीं है तो इसकी रचना करनी होगी।''

ये दोनों विचारधाराएँ आपस में एक दूसरे का विकल्प भी नहीं हैं। ये संगठन के कार्यों के दो भिन्न पहलुओं से सम्बन्ध रखती है। अतः इन पहलुओं के आन्तरिक सम्बन्धों को ध्यान में रखकर ही संगठनीय समस्याओं का समाधान ढूंढना पड़ता है। औपचारिक संगठन सिद्धान्ततः अनुपयुक्त व अपूर्ण हो सकता है, जब तक इसमें अनौपचारिक संगठन के सिद्धान्तों से सुधार नहीं कर लिया जाता । साथ ही अनौपचारिक संगठन पर ज्यादा जोर दिया जाता है तो इससे श्रम विभाजन, कार्य, पृथक्करण एवं उत्तरदायित्व निर्धारण की समस्याएँ पैदा हो जाएगी । संगठन के विद्यार्थियों के लिए यह स्पष्टः चुनौती है कि केवल एक ही सिद्धान्त को कैसे प्रयोग में लाया जाए।

निष्कर्ष (Conclusion)

औपचारिक एवं अनौपचारिक विचारधाराओं का मूल्यांकन करते हुए एक यह पक्ष प्रस्तुत किया जाता है कि औपचारिक स्वरूप को प्राथमिकता दी जाये। अगर ऐसा नहीं होता है तो संगठन में निर्दयता, निरर्थकता एवं अकार्यकुशलता की प्रवृत्तियाँ विकसित हो जायेंगी, जो संगठन के उद्देश्य प्राप्ति में रूकावटें पैदा करेंगी। दूसरा दृष्टिकोण, प्रबन्धकीय संस्थाओं के औपचारिक एवं अनौपचारिक सम्मिश्रण को उपयुक्त मानता है। फिफनर एवं प्रेस्थस लिखते हैं कि '' एक प्रबन्धकीय संस्था जिसमें औपचारिक और अनौपचारिक संगठन मुख्य रूपरेखा से मेल खाते हैं, स्वस्थ एवं प्रसन्न है।'' संश्लेषित विचारधारा के समर्थक बर्नार्ड, साइमन, थॉमसन, इत्यादि विद्वानों ने यह बताया है कि संगठन का प्रारम्भ औपचारिक रूप से हो, परन्तु आगे कार्य संचालन में संगठनीय व्यवहार एवं उसके पर्यावरण को भी स्वीकार किया जाए। अतः निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन में अन्तर होते हुए भी एक दूसरे के विरोधी या विकल्प के रूप में नहीं है। संगठन के लिये किसी एक ही सिद्धान्त को प्रयोग में लाना कठिन है। अतः दोनों का सम्मिश्रण उपयुक्त होगा।

संगठन के आधार
(Basis of Organisation)

संगठनीय उद्देश्य की प्राप्ति और कार्यकुशलता के लिए यह आवश्यक है कि संगठन का निर्माण किसी आधार पर किया जाए। विद्वानों ने संगठन के गठन के आधारों को खोजने का प्रयास किया है। यूनानी विद्वान अरस्तू ने संगठन के दो आधार बताए थे– 1. मनुष्यों की संख्या के आधार पर, और 2. सेवा या उद्देश्य के अनुसार कार्य का विभाजन। सरकारी तन्त्र सम्बन्धी हॉलडेन समिति (1918) की सिफारिशों के अनुसार, विभागों का गठन दो आधारों पर किया जाना चाहिए– 1. सेवित व्यक्ति तथा 2. की जाने वाली सेवाएँ

विभिन्न संगठनों के अध्ययन से संगठन के चार विभिन्न आधार प्रकट होते हैं। जो है :– 1. कार्य या प्रयोजन (Purpose), 2. प्रक्रिया (Process), 3. व्यक्ति (Person or Clientele) 4. क्षेत्र (Place) । लूथर गुलिक ने भी संगठन के यही चार आधार बताए हैं और इन्हें ''चार P'' (Four Ps) कहा है। संगठन के इन चार आधारों को निम्नांकित चार्ट से स्पष्ट किया गया है:–

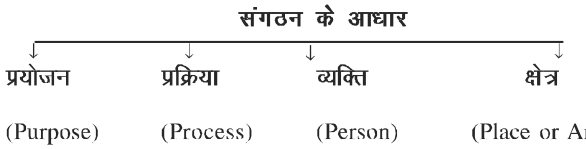

संगठन के उपर्युक्त प्रत्येक आधार का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है:–

प्रयोजन (Purpose)

प्रयोजन के आधार पर संगठन का निर्माण किया जाता है। प्रयोजन से तात्पर्य, उस अन्तिम लक्ष्य या उद्देश्य से है जिसे प्राप्त करने के लिए संगठन का निर्माण किया जाता है। वर्तमान में विभिन्न देशों की सरकारें शिक्षा, यातायात, प्रतिरक्षा आदि विभिन्न उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न संगठनों का निर्माण इसी आधार पर करती हैं।

गुण (Merits)

वालेस ने प्रयोजन के आधार पर गठित संगठन के निम्न गुण बताए हैं :–

1. कार्यकुशलता में वृद्धि एक प्रयोजन की प्राप्ति में सहायक सभी व्यक्तियों, के एक ही संगठन में, एक ही अध्यक्ष के नेतृत्व में मिलजुल कर कार्य करने से संगठन की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

2. दोहरेपन का निवारण एक प्रयोजन से सम्बन्धित सभी कार्य, एक ही संगठन द्वारा किये जाने के कारण कार्य का दोहराव नहीं होता है।

3. निश्चित उत्तरदायित्व प्रयोजन की प्राप्ति के लिए गठित संगठन का उत्तरदायित्व निश्चित होता है।

4. नागरिकों को सुविधा प्रयोजन के आधार पर गठित विभागों के कारण नागरिकों को अपने कार्यों को करवाने में आसानी रहती है। वे सरलता से अपने कार्य के प्रकार के आधार पर समझ लेते हैं, कि उन्हें किस विभाग में जाना है।

दोष (Demerits)

वालेस ने गुणों के साथ इस प्रकार के संगठनों के दोषों का भी वर्णन किया है। जो निम्न हैं:–

1. विभागीकरण की प्रवृत्ति संगठन के सदस्य एक ही विभाग में कार्य करने के कारण विभागीकरण की प्रवृत्ति के शिकार हो जाते हैं। वे केवल संगठन से सम्बन्धित बातों पर ध्यान देते हैं, संगठन के बाहर की बातें नहीं सोच पाते ।

2. कार्यों की उपेक्षा व्यापक प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए गठित विभाग में छोटे–छोटे कार्यों की उपेक्षा कर दी जाती है।

3. पुनरावृत्ति इससे विभिन्न संगठनों के कार्यो में दोहरापन आ जाता है जैसे सार्वजनिक निर्माण विभाग भी भवनों का निर्माण करवाता है और रेल्वे विभाग भी अपने लिए स्वयं भवनों का निर्माण करवाता है।

विभागीकरण के इस आधार की संस्तुति ब्रिटेन की हॉल्डेन कमेटी (1918–1919), अमेरिका के प्रथम हूवर कमीशन (1949–1950) और प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल (1966–70) द्वारा की गयी है।

प्रक्रिया (Processs)

प्रक्रिया से अभिप्राय तकनीकी व्यवसाय या किसी विशेष कार्य की निपुणता से होता है। जब संगठन का गठन प्रक्रिया के आधार पर किया जाता है, तो उन सभी लोगों को जो एक ही प्रक्रिया काम में लेते हैं। एक ही संगठन के अन्तर्गत लाया जाता है, जैसे चिकित्सा, लेखा विभाग, कानूनी परामर्श आदि। इस प्रकार के विभागों में विशेषज्ञ कर्मचारी रखे जाते हैं। इस आधार पर संगठित विभागों के उदाहरण हैं – कानून विभाग, परमाणु ऊर्जा विभाग आदि।

गुण (Merits)

प्रक्रिया के आधार पर गठित विभागों में निम्न गुण दृष्टिगोचर होते हैं

1. विशेषीकरण तथा दक्षता में वृद्धि विशेषज्ञ और तकनीकी व्यक्तियों के एक साथ, एक ही संगठन में कार्य करने से विशेषीकरण तथा दक्षता में वृद्धि होती है। इससे विशेषीकरण तथा तकनीकी दक्षता का सम्पूर्ण उपयोग सम्भव है।

2. मितव्ययी होना विशेषज्ञ और तकनीकी व्यक्तियों के एक ही स्थान पर कार्य करने से उनके कार्य निष्पादन में आवश्यक महँगे उपकरणों को एक ही स्थान पर समायोजित करने से भारी बचत होती है। अगर विशेषज्ञों को अलग–अलग विभागों से सम्बद्ध कर दिया जाऐ तो कार्य निष्पादन का स्तर भी गिरेगा और महँगे उपकरणों का प्रत्येक स्थान पर उपयोग भी सम्भव न हो पायेगा।

3. एकरूपता और समन्वय एक प्रकार की सेवाएँ प्रदान करने वाले विशेषज्ञ, एक ही संगठन में कार्य करते हैं। अतः इससे संगठन के कार्यों में एकरूपता आती है और समन्वय बढता है।

4. उन्नति के अधिक अवसर इस प्रकार के संगठनों में विशेषज्ञ व्यक्तियों को अपने व्यावसायिक जीवन में उन्नति के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं।

दोष (Demerits)

वालेस ने प्रक्रिया के आधार पर गठित संगठनों के दोषों को बताया है। जो निम्न हैं।

1. संकुचित दृष्टिकोण (Narrow View) केवल तकनीकी और विशेषज्ञ कार्यों के निष्पादन से सम्बन्धित रहने के कारण सामान्य और गैर विशेषज्ञतापूर्ण कार्यों की उपेक्षा हो जाती है। इस प्रकार के संगठन में कार्यरत विशेषज्ञ केवल अपने विषय क्षेत्र में ही ध्यान देते हैं, अतः उनका दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है। इसलिए इस प्रकार की व्यवस्था सम्पूर्ण प्रशासन के लिए हानिकारक होती है।

2. साधनों पर अनुचित बल इस प्रकार के संगठनों में उद्देश्यों की अपेक्षा साधनों पर अधिक बल दिया जाता है। अतः इस प्रशासन का मुख्य लक्ष्य जनता की सेवा करना, भुला दिया जाता है।

3. संघर्षों की वृद्धि विशेषज्ञों के एक साथ कार्य करने से, प्रक्रिया आधारित संगठनों में, विशेषज्ञों के मध्य व्यावसायिक अहम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह व्यवसायिक अहम आपसी ईर्ष्या–द्वेष और संघर्षों को बढावा देता है।

4. व्यक्ति (Person) कभी–कभी व्यक्तियों को भी संगठन का आधार बनाया जाता है। किसी विशेष व्यक्ति समूह के कल्याण अथवा उन्हें विशिष्ट सेवाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से विभागों का गठन किया जाता है। इस आधार पर गठित विभागों को व्यक्ति आधारित विभाग कहा जाता है। इस प्रकार के संगठन जिस विशेष वर्ग समूह के लिए गठित किये जाते है उसे अनेक प्रकार की सेवाएँ प्रदान करने का प्रयास करते हैं। उस वर्ग के उत्थान एवं उन्नति के लिए प्रयासरत रहते हैं।

गुण (Merits)

इस आधार पर संगठन गठित करने के निम्न लाभ हैं:–

1. समन्वय इस प्रकार के संगठन में एक निश्चित वर्ग को सेवाएँ प्रदान की जाती है। अतः प्रदान की जानी वाली सेवाओं के मध्य समन्वय स्थापित करने में सुविधा रहती है।

2. निश्चितता इस आधार पर गठित संगठन से यह निश्चित हो जाता है कि किस संगठन द्वारा किस वर्ग को सेवाएँ प्रदान करनी है। सेवित व्यक्ति समूह भी सम्बन्धित संगठन से सीधा सम्पर्क स्थापित करने में समर्थ होता है।

3. समस्याओं का समाधान इस प्रकार से गठित संगठन द्वारा व्यक्ति की समस्त समस्याओं के निराकरण का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार के संगठन का सेवित व्यक्तियों के समूह से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

4. विभागीय उन्नति में दिलचस्पी इस प्रकार के संगठन से लाभ प्राप्त करने वाले समूह संगठन की विभागीय उन्नति में गहन आस्था रखते हैं और अपना सम्पूर्ण समर्थन इसे प्रदान करते हैं क्योंकि वे जानते है कि विभागीय उन्नति से संगठन उनके हित में अधिक बेहतर कार्य कर पायेगा।

दोष (Demerits)

व्यक्ति समूह के आधार पर विभागों का गठन करने के कुछ दोष भी हैं । जो निम्नलिखित हैं:–

1. अत्यधिक विभागों के होने का भय व्यक्ति समूह के आधार पर विभागों का गठन करने से छोटे–छोटे अनेक विभागों का निर्माण हो जायेगा क्योंकि एक समाज में अनेक समूहों का अस्तित्व होता है। हॉल्डेन कमेटी ने इस प्रकार के छोटे–छोटे विभागों को 'लिलिपूटियन प्रशासन' (Lilliputian Administration) कहा है।

2. कार्यक्षेत्र निर्धारण में कठिनाई विभिन्न व्यक्ति समूहों के हित कई क्षेत्रों में समानताएँ रखते हैं। अतः ऐसी स्थिति में विभागों के कार्यक्षेत्र का निर्धारण करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

3. विशेषीकरण का विरोध व्यक्ति समूह के हित में बहुआयामी कार्यक्रमों का आयोजन करने के कारण इस प्रकार के संगठन विशेषीकरण के सिद्धान्त के विरोधी होते है।

4. राजनीतिक दबाव इस प्रकार के संगठन व्यक्ति समूहों के आधार पर निर्मित होने के कारण राजनीतिक दबाव से प्रभावित होते हैं। राजनैतिक उतार चढ़ावों का इस

प्रकार के संगठनों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

क्षेत्र (Place, Area or Territory)

क्षेत्र अर्थात वह स्थान जहाँ पर कार्य किया जाता है, संगठन का आधार होता है। इस सिद्धान्त का आधार यह विश्वास है कि प्रत्येक क्षेत्र विशेष की अपनी अलग समस्याएँ होती हैं। इन अलग–अलग समस्याओं का सामाधान करने के लिए प्रत्येक क्षेत्र विशेष को एक अलग विभाग की आवश्यकता होती है। इस प्रकार जब कोई संगठन एक क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं के आधार पर निर्मित किया जाता है तो इसे क्षेत्रीय या भौगोलिक संगठन कहा जाता है। भारत में क्षेत्र के आधार पर जिलों का निर्माण किया गया है।

गुण (Merits)

क्षेत्र के आधार पर गठित विभाग में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं।

1. समन्वय ऐसे संगठनों में समन्वय स्थापित करने में सुविधा होती है। एक निर्धारित क्षेत्र में विभिन्न सेवायें प्रदान करने में समन्वय स्थापित करने में सुविधा रहती है।

2. अनुकूलन ऐसे संगठनों के माध्यम से राष्ट्रीय योजनाओं और कार्यक्रमों को क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं के अनुसार अनुकूलित करने में आसानी रहती है।

3. कार्य में सुविधा क्षेत्रीय संगठनों में कर्मचारी स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों से सुपरिचित होते हैं, इसलिए कार्य करने में सुविधा होती है। संगठन का जनता से सीधा सम्पर्क स्थापित हो पाता है।

4. दूरस्थ क्षेत्रों में प्रशासन सम्भव इस प्रकार के आधार पर प्रशासनिक संगठनों का निर्माण कर दूरस्थ क्षेत्रों में प्रशासन संचालित करने में सुविधा रहती है। लम्बी दूरी, यातायात और संचार के साधनों के अभाव के बावजूद भी प्रशासन चलाया जा सकता है।

दोष (Demerits)

क्षेत्रीय आधार पर गठित संगठनों में निम्नलिखित दोष होते हैं।

1. राष्ट्रीय नीति में एकरूपता का अभाव इस आधार पर गठित विभागों द्वारा क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुसार कार्य किया जाता है। अतः राष्ट्रीय नीति के अनुरूप एकरूपता का अभाव मिलता है।

2. क्षेत्रियता तथा फूट की भावनाओं को प्रोत्साहन क्षेत्र विशेष के लिए अलग संगठन होने के कारण लोगों में संकीर्ण मनोवृत्ति विकसित होती है। इस कारण क्षेत्रीय आधार पर गठित विभाग स्थानीयता तथा फूट की भावनाओं को प्रोत्साहन देने में योगदान करते हैं।

3. राजनैतिक दबाव क्षेत्रीय आधार पर गठित विभाग आसानी से क्षेत्रीय राजनीति के शिकार हो जाते हैं। क्षेत्रीय नेता उन्हें अपने प्रभाव में ले लेते हैं। इस प्रकार ऐसे संगठनों में राजनैतिक दबाव, अन्य संगठनों की अपेक्षा अधिक मिलता है।

4. श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण का अभाव क्षेत्रीय आधार पर गठित विभाग क्षेत्र विशेष के लिए अनेक कार्य करते हैं। अनेक प्रकार के कार्यों को करने के कारण क्षेत्रीय संगठनों में कार्यविभाजन एवं विशेषीकरण का अभाव मिलता है।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों आधारों के अपने–अपने गुण एवं दोष हैं। इनमें से कोई भी आधार अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है जिसे सार्वभौम रीति से लागू किया जा सके। इस प्रकार संगठन के निर्माण के लिए आधार का चयन परिस्थितियों के अनुसार किया जाना चाहिए। आवश्यकतानुसार एक या दो आधारों का आपस में सम्मिश्रण कर संगठन का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार संगठन के निर्माण में निहित उद्देश्य को ध्यान में रखकर संगठन के आधार को निश्चित करना चाहिए।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु :

- संगठन मानव सामग्री, साधन, स्थान तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को क्रमबद्ध तथा प्रभावशाली ढंग से जुटाने को कहते हैं, जिससे वांछित लक्ष्य प्राप्त हो सके, औपचारिक संगठन में संगठन का ढांचा स्पष्टतः परिभाषित रहता है।
- औपचारिक संगठन से सम्बन्धित विचारधाराएँ हैं– नौकरशाही विचारधारा, वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा, प्रशासकीय प्रबन्ध विचारधारा।
- अनौपचारिक संगठन से तात्पर्य उन अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों से है, जो संगठन के निर्णयों को प्रभावित करते हैं।

यह संगठन के वास्तविक व्यवहार का रुप है।

- अनौपचारिक संगठन के विभिन्न नाम हैं – ''कोलेजियल'', प्रतियोगी, प्राकृतिक, आंगिक, खुला मॉडल ।
- अनौपचारिक संगठन से सम्बन्धित विचारधाराएं हैं– मानव सम्बन्ध विचारधारा, संगठनीय विकास विचारधारा, परिवेशीय विचारधारा ।
- संगठनीय उद्देश्य की प्राप्ति और कार्यकुशलता के लिए यह आवश्यक है कि संगठन का निर्माण किसी आधार पर किया जावे।
- अरस्तु ने संगठन के दो आधार बताये हैं – 1. मनुष्यों की संख्या के आधार पर 2. सेवा या उद्देश्य के आधार पर।
- हॉल्डेन कमेटी ने दो आधार बताए हैं।

  1. सेवित व्यक्ति 2. की जाने वाली सेवाएँ
- संगठन के चार आधार हैं–

  1. कार्य या प्रयोजन 2. प्रक्रिया 3. व्यक्ति 4. क्षेत्र
- गुलिक ने संगठन के चार आधारों को Four Ps कहा है।
- प्रयोजन के आधार पर गठित विभागों के दोष हैं :–

  1. विभागीकरण की प्रवृत्ति 2. कार्यों की उपेक्षा 3. पुनरावृत्ति
- प्रक्रिया के आधार पर गठित विभागों के गुण हैं।

  1. विशेषीकरण तथा दक्षता में वृद्धि 2. मितव्ययिता

  3. एकरुपता और समन्वय 4. उन्नति के अधिक अवसर ।
- प्रक्रिया के आधार पर गठित विभागों के दोष हैं 1. संकुचित दृष्टिकोण 2. साधनों पर अनुचित बल 3. संघर्षों की वृद्धि
- व्यक्ति के आधार पर गठित विभागों के गुण हैं।

  1. समन्वय 2. निश्चितता 3. समस्याओं का सम्पूर्ण समाधान 4. विभागीय उन्नति में दिलचस्पी
- व्यक्ति के आधार पर गठित विभागों के दोष हैं।

  1. अत्यधिक विभागों के होने का भय 2. कार्यक्षेत्र निर्धारण में कठिनाई 3. विशेषीकरण का विरोध 4. राजनीतिक दबाव
- क्षेत्र के आधार पर गठित विभागों के गुण हैं।

  1. समन्वय 2. अनुकूलन 3. कार्य में सुविधा 4. दूरस्थ क्षेत्रों में प्रशासन सम्भव
- क्षेत्र के आधार पर गठित विभागों के दोष हैं :–

  1. राष्ट्रीय नीति में एकरूपता का अभाव 2. क्षेत्रियता तथा फूट 3. राजनीतिक दबाव 4. श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण का अभाव
- संगठन के निर्माण के लिए आधार का चयन परिस्थितियों के अनुसार किया जाना चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. प्रशासन कहा जाता है।

   (अ) अनिश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करना

   (ब) निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनिश्चित रुप से कार्य करना ।

   (स) निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भ्रमित होकर कार्य करना।

   (द) निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सामूहिक रुप से योजनाबद्ध प्रयास करना। ( )
2. औपचारिक संगठन में

   (अ) संगठन का ढाँचा स्पष्टतः परिभाषित रहता है।

   (ब) संगठन पदसोपान एवं कार्य विभाजन के सिद्धान्तों पर आधारित रहता है।

   (स) संगठन का परम्परागत स्वरुप है।

   (द) उपर्युक्त सभी। ( )
3. औपचारिक संगठन सम्बन्धी विचारधारा है।

   (अ) नौकरशाही विचारधारा

   (ब) मानव सम्बन्ध विचारधारा

   (स) केवल ब में (द) अ और ब दोनों ( )
4. अनौपचारिक संगठन सम्बन्धी विचारधाराएँ हैं।

   (अ) नौकरशाही विचारधारा

   (ब) मानव सम्बन्ध विचारधारा

   (स) वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा

   (द) प्रशासकीय प्रबन्ध विचारधारा ( )
5. अरस्तु ने संगठन के कितने आधार बताए हैं।

   (अ) 1 (ब) 2 (स) 3 (द) 4 ( )

6. संगठन के चार आधारों को चार P (Four Ps) कहा है।
   (अ) अरस्तु (ब) हॉल्डेन कमेटी
   (स) गुलिक (द) उर्विक ( )
7. प्रयोजन के आधार पर विभागीकरण की सिफारिश की है।
   (अ) हॉल्डेन कमेटी ने
   (ब) प्रथम हूवर कमीशन ने
   (स) प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल ने
   (द) उपर्युक्त सभी ने ( )
8. व्यक्ति के आधार पर निर्मित संगठनों को लिलिपूटियन संगठन कहा है।
   (अ) हॉल्डेन कमेटी ने
   (ब) प्रथम हूवर कमीशन ने
   (स) प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल ने
   (द) उपर्युक्त सभी ने ( )
9. राष्ट्रीय नीति में एकरुपता का अभाव किस आधार पर निर्मित संगठन का दोष है।
   (अ) प्रयोजन (ब) प्रक्रिया
   (स) व्यक्ति (द) क्षेत्र ( )

अति–लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. संगठन से क्या तात्पर्य है ?
2. औपचारिक संगठन किसे कहते हैं ?
3. अनौपचारिक संगठन किसे कहते हैं ?
4. औपचारिक संगठन से सम्बन्धित विचारधाराएँ कौन–कौनसी हैं ?
5. अरस्तु ने संगठन के कौन से दो आधार बताए हैं ?
6. हॉल्डेन कमेटी ने संगठन के कौन से दो आधार बताए हैं ?
7. लुथर गुलिक के चार पी (Four Ps) क्या हैं ?
8. प्रयोजन के आधार पर निर्मित संगठन के कोई दो गुण बताइये।
9. प्रक्रिया के आधार पर गठित संगठन के कोई दो दोष बताइये।
10. क्षेत्र के आधार पर गठित संगठन के कोई दो दोष बताइये ।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. संगठन का महत्त्व बताइये ?
2. औपचारिक संगठन से आप क्या समझते हैं ?
3. अनौपचारिक संगठन से आप क्या समझते हैं ?
4. औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन के मध्य सम्बन्ध को संक्षेप में बताइये ?
5. औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन के मध्य अन्तर संक्षेप में बताइये।
6. विभागीकरण के आधार से आप क्या समझते हैं ?
7. व्यक्ति के आधार पर निर्मित संगठन के गुण बताइये ?
8. लूथर गुलिक द्वारा बताए गये चार विभागीकरण के आधार बताइये ?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. संगठन का अर्थ बतलाते हुए औपचारिक और अनौपचारिक संगठन का विस्तार से वर्णन कीजिये।
2. औपचारिक संगठन और अनौपचारिक संगठन में अन्तर स्पष्ट कीजिये।
3. विभागीय संगठन के आधारों पर संक्षिप्त लेख लिखिए।
4. गुलिक द्वारा प्रस्तावित विभागीय संगठन के आधारों के गुण दोष संक्षेप में बताइये।

उत्तरमाला

1. (द) 2. (द) 3. (अ) 4. (ब) 5. (ब)
6. (स) 7. (द) 8. (अ) 9. (द)

इकाई–III

अध्याय–5

संगठन के सिद्धान्त

(Principles of Organization)

जैसा कि एल. डी. व्हाइट ने कहा है कि मान्य सिद्धान्त आचरण के वे कार्य नियम हैं जो विस्तृत अनुभव के कारण सर्व स्वीकृत होते हैं। फेयोल भी सिद्धान्तों की विश्वसनीयता उनके प्रमाणित होने के आधार पर निश्चित करते हैं। किसी भी औपचारिक संगठन के व्यवस्थित कार्यकरण हेतु कुछ निश्चित प्रक्रियाओं, नियमों एवं सर्वस्वीकृत आधारशिलाओं की आवश्यकता होती है, जिसके अभाव में संगठन दिशाहीन एवं अवरुद्ध हो जाते हैं। संगठन के इतिहास पर दृष्टि डालें तो जब से संगठन की अवधारणा का विकास हुआ, तभी से संगठन के सर्वमान्य सिद्धान्तों की तलाश भी प्रारम्भ हुई और इस दिशा में विशेषतः शास्त्रीय युग और उसके पश्चात् अनेक सिद्वान्तों को खोज निकाला गया। शास्त्रीय युग के अनेक चिन्तकों यथा–लूथर गुलिक, उर्विक, मूने, रैले, फेयोल, टेलर, फॉलेट आदि के इस सम्बन्ध में किये गये प्रयासों को नहीं भुलाया जा सकता।

औपचारिक संगठन के सिद्धान्तों में पदसोपान, आदेश की एकता, नियंत्रण का क्षेत्र, समन्वय, पर्यवेक्षण, विकेन्द्रीकरण, प्रत्यायोजन एवं सूत्र एवं स्टॉफ का सिद्वान्त प्रमुख है। इस अध्याय में इनमें से प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत विश्लेषण किया जा रहा है –

पदसोपान (Hierarchy)

औपचारिक संगठन का सबसे महत्त्वपूर्ण तथा आधारभूत यदि कोई सिद्धान्त है तो वह है पद सोपान। यह 'पदानुक्रम का सिद्धान्त', सीढ़ीनुमा प्रक्रिया', 'पद श्रृंखला का सिद्धान्त' आदि नामों से भी जाना जाता हैं। प्रत्येक संगठन किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित होता है। संगठन की स्थापना के साथ संगठन की सम्पूर्ण कार्यपालिका शक्ति उसके मुख्य कार्यकारी में निहित कर दी जाती है। चूंकि मुख्य कार्यपालिका एकल रूप में सभी कार्यों और उत्तरदायित्व का निर्वहन नहीं कर सकती इसलिए विशिष्टीकरण के आधार पर कई इकाइयों और उप–इकाइयों के बीच कार्य एवं उत्तरदायित्व का विभाजन करती है। संगठन को व्यवस्थित रूप देने एवं सुगमतापूर्वक कार्य संचालन हेतु इन इकाइयों और उप–इकाईयों को उच्च अधीनस्थ श्रृंखला में व्यवस्थित किया जाता है, जिसके कारण संगठन में आदेश देने एवं पालन करने के तथा उत्तरदायित्व के कई स्तर निर्मित हो जाते हैं, परिणामस्वरूप इन स्तरों पर कार्य करने वाले अधिकारियों के बीच उच्च–अधीनस्थ सम्बन्धों की एक श्रृंखला विकसित हो जाती है जिसे पदसोपान कहते हैं। पदसोपान के कारण संगठन में शीर्ष पर कर्मचारियों की संख्या कम तथा तल पर कर्मचारियों की संख्या अधिक होती है, जिससे संगठन पिरामिड आकार का रूप ग्रहण कर लेता है। मूने एवं रैले इसे सीढ़ीनुमा प्रक्रिया (Scalar Process) की संज्ञा देते हैं।

पदसोपान का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Hierarchy)

पदसोपान अंग्रेजी के 'Hierarchy' का हिन्दी रूपान्तरण है। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार, इसका शाब्दिक अर्थ है ''निम्न पर उच्च का नियंत्रण या सत्ता''। पद सोपान को अनेक विद्वानों ने व्यवस्थित रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया है जो अग्रलिखित है :–

एल.डी.व्हाइट –

''पदसोपान संरचना में ऊपर से नीचे तक उत्तरदायित्वों के कई स्तरों के कारण उत्पन्न वरिष्ठ – अधीनस्थ का वह सम्बन्ध है, जो सब जगह लागू होता है।''

जे.डी.मिलेट –

''पदसोपान एक ऐसी पद्धति है, जिससे विभिन्न लोगों के प्रयासों को आपस में जोड़ दिया जाता है।''

अर्ल लाथम –

''यह ऊँचे और नीचे पदों की एक ऐसी सुनियोजित व्यवस्था है, जो नीचे से ऊपर तक फैली हुई है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है

कि लोक प्रशासन में पदसोपान का अर्थ एक ऐसे बहुस्तरीय संगठन से है, जिसमें उच्च अधीनस्थ श्रृंखला में जुड़े हुए क्रमवार कई स्तर होते हैं।

पदसोपान की विशेषताएँ (Characteristics of Hierarchy)

1. पद सोपान संगठन के सभी क्रिया कलापों को विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन के आधार पर इकाइयों और उप इकाइयों में विभाजित करता है।
2. यह पद्धति संगठन को पिरामिडनुमा आधार प्रदान करती है, जिसमें संगठन का शीर्ष नुकीला और तल फैला हुआ होता है ।
3. पद सोपान संगठन को बहुस्तरीय बनाता है।
4. ये संगठन के विभिन्न स्तरों पर कार्यरत सभी कार्मिकों को उच्च–अधीनस्थ श्रृंखला में जोड़ता है।
5. पदसोपान सुगम कार्य सम्पादन हेतु संगठन के प्रत्येक स्तर में पर्याप्त सत्ता निहित करता है ।
6. यह सिद्धांत संगठन के प्रत्येक स्तर पर सत्ता एवं उत्तरदायित्व का समुचित तालमेल भी स्थापित करता है।
7. पद सोपान पर आधारित संगठन उचित माध्यम से कार्य सिद्धान्त का पालन करता है। सभी आदेश तथा सूचनाएं सभी स्तरों से क्रमवार रूप में गुजरती हैं और किसी भी स्तर की अनुल्लंघनीयता स्वीकार नहीं होती।
8. यह सिद्धान्त आदेश की एकता के सिद्धान्त को समाहित करता है।

पदसोपान प्रणाली

पुलिस विभाग में व्याप्त पद सोपान प्रणाली के उदाहरण के आधार पर इसे आसानी से समझा जा सकता है, जो इस प्रकार है–

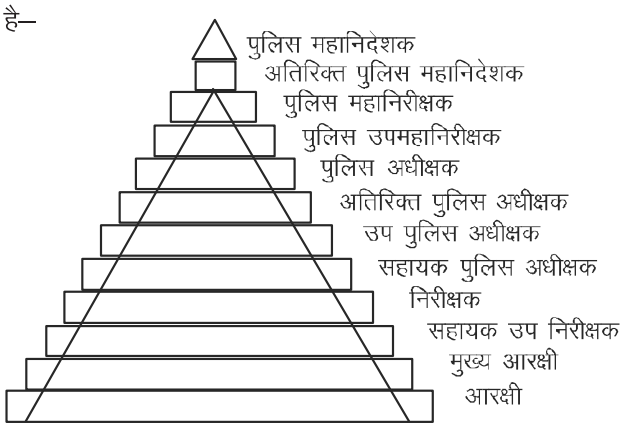

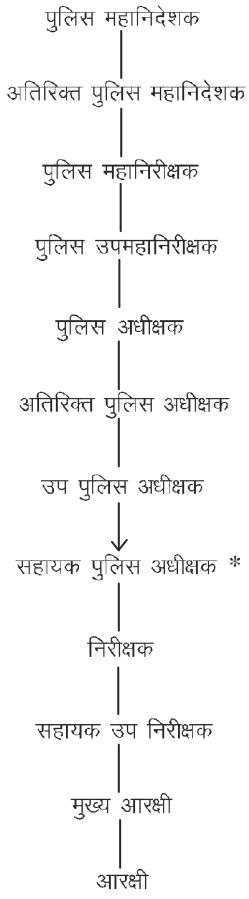

* प्रशिक्षू अथवा नवनियुक्त आई.पी.एस. इस पद पर कार्य करता है।

पद सोपान के आधार एवं प्रकार –

संगठन को पदसोपानिक आधार पर व्यवस्थित करने के लिए निश्चित आधारों की आवश्कता होती है। विश्व में प्रचलित विभिन्न संगठनों के औपचारिक स्वरूप के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि संगठन को पद सोपानिक स्वरूप में व्यवस्थित करने के भिन्न–भिन्न आधार अपनाए जाते हैं। ये आधार सामान्यतः चार रूपों में मिलते हैं यथा–कार्य, कुशलता, प्रतिष्ठा और वेतन। व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो संगठन के किसी भी औपचारिक स्वरूप को किसी एक आधार पर व्यवस्थित न कर, एक से अधिक आधारों को अपनाया जाता है।

शायद इन्हीं आधारों को ध्यान में रखते हुए पिफनर और शेरवुड ने पद सोपान के चार प्रकार अथवा प्रणालियों की ओर इशारा किया है जो इस प्रकार हैं –

(1) कार्यात्मक पद सोपान (Task Hierarchy)

यह पद सोपान को व्यवस्थित करने की वह प्रणाली है,

जिसमें कार्य को आधार बनाया जाता है। कार्य का सीधा सम्बन्ध अधिकार और उत्तरदायित्वों से भी होता है। इस प्रणाली में जो व्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उत्तरदायी कार्य सम्पन्न करता है, उसके पद को उच्च स्तर पर तथा ज्यों–ज्यों कार्य की महत्ता और उत्तरदायित्व घटता जाता है, उसके अनुरूप उन्हें घटते हुए क्रम में व्यवस्थित किया जाता है।

(2) प्रतिष्ठा पद सोपान (Rank Hierarchy)

पद सोपान की इस प्रणाली में पदों की स्थिति, उनके कार्य तथा उत्तरदायित्व के आधार पर व्यवस्थित न किया जाकर , पदों को पूर्व निर्धारित, कुछ प्रतिष्ठाओं पर व्यवस्थित किया जाता है । यह प्रणाली मुख्यतः सैन्य संगठनों में अपनाई जाती है। आजकल इसका प्रचलन असैनिक संगठनों में भी हो रहा है। इस प्रणाली में पद स्थिति का सम्बन्ध कार्य एवं उत्तरदायित्व से न होकर पूर्व निर्धारित मान्यताओं पर आधारित होता है।

(3) कुशलता पद सोपान (Skill Hierarchy)

पद सोपान की इस प्रणाली में कर्मचारियों की योग्यता एवं दक्षता को आधार न बनाकर केवल कार्य कुशलता को ही पद अनुक्रम का आधार बनाया जाता है। इसमें अधिक कुशल कार्मिकों को उच्च स्तर पर तथा कम कार्य कुशल कर्मचारियों को निम्न स्तर पर व्यवस्थित किया जाता है।

(4) वेतन आधारित पद सोपान (Pay Hierarchy)

पद सोपान की इस प्रणाली में पद सोपानिक व्यवस्था का गठन वेतन के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार गठित होने वाले पद सोपान में उच्च वेतन पाने वाले कर्मचारियों को ऊँचे पदों पर तथा निम्न वेतन पाने वाले को निचले स्तरों पर व्यवस्थित किया जाता है।

पद सोपान के लाभ एवं महत्त्व (Usefulness of Hierarchy & its Importance)

पद सोपान के सिद्धान्त की सार्वभौमिकता एवं महत्ता को स्पष्ट करते हुए मूने ने स्पष्ट किया कि जहाँ कहीं भी वरिष्ठ और अधीनस्थों के सम्बन्धों से बना लोगों का संगठन होगा वहीं सीढ़ीनुमा सिद्धान्त भी लागू होगा। पद सोपान के लाभों एवं महत्त्व को निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है –

(1) यह सिद्धान्त संगठन की विभिन्न इकाइयों को एकीकृत कर संगठन को अविभाज्य बनाता है। प्रो० एम० पी० शर्मा ने ठीक ही कहा है कि पद सोपान, वह धागा है, जिसके द्वारा संगठन के विभिन्न अंगों को एक साथ पिरोया जाता है।

(2) उर्विक के अनुसार पद सोपान संगठनात्मक समन्वय एवं एकजुटता का माध्यम है। यह संगठन के ढाँचे से उसी तरह सम्बन्धित है, जिस प्रकार सीमेंट अथवा गारा किसी भवन के ढाँचे से सम्बन्धित होता है।

(3) प्रत्येक संगठन उद्देश्य की एकरूपता पर आधारित होता है, जिसकी प्राप्ति पदसोपानिक व्यवस्था से ही सम्भव है।

(4) पद सोपान सत्ता के प्रत्यायोजन एवं विकेन्द्रीकरण को सम्भव बनाता है।

(5) यह सिद्धान्त संगठन में सम्प्रेषण की व्यवस्थित प्रणाली स्थापित करता है।

(6) यह सिद्धान्त कार्य प्रक्रियाओं के कठोर अनुपालन को आश्वस्त करता है, तथा मध्यस्थ सम्पर्कों की अवहेलना कर लघु कार्य प्रणाली को रोकता है।

(7) पद सोपान का सिद्धान्त संगठन के शीर्ष पर स्थित मुख्य कार्यपालिका के कार्यभार को कम कर विकेन्द्रीकृत निर्णय–निर्माण प्रक्रिया को प्रोत्साहित करता है। पद सोपान संगठन के प्रत्येक स्तर एवं पद में उत्तरदायित्व निश्चित कर उन्हें जवाबदेय बनाता है।

(8) पद सोपान व्यवस्था संगठन में प्रत्यायोजन को सुविधाजनक बनाता है।

(9) पद सोपान संगठन में आदेश की एकता के सिद्धान्त को क्रियान्वित करने की राह आसान बनाता है।

(10) यह सिद्धान्त उचित प्रक्रिया के माध्यम से कार्य के सिद्धान्त के आधार पर कार्य निष्पादन की व्यवस्थित प्रणाली स्थापित करता है, जो संगठन में सम्प्रेषण की एक व्यवस्थित प्रणाली को प्रोन्नत करता है।

(11) यह सिद्धान्त कार्मिकों के मध्य संगठन के प्रति अपनत्व की भावना विकसित करने में भी सहायक है।

पद सोपान के दोष

पद सोपान सिद्धान्त की अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। पद सोपान के दोषों की ओर संकेत करते हुए अर्लाथम ने

संकेत दिया, कि इस प्रणाली के कारण उच्चाधिकारी बिना सोचे– समझे अधिकारों का प्रयोग करते हैं। वहीं नीग्रो ने स्पष्ट किया कि पद सोपान, संगठन में औपचारिक सम्बन्धों को महत्त्व देता है एवं अनौपचारिक सम्बन्धों की अवहेलना करता है। पद सोपान सिद्धान्त के अन्य आलोचकों में हेनरी फेयोल, एम० पी० फोलेट, टेलर, उर्विक आदि प्रमुख हैं।

पद सोपान सिद्धान्त में निम्नलिखित दोष हैं :–

(1) यह सिद्धान्त संगठन में अनावश्यक कठोरता लाता है तथा गत्यात्मक मानवीय सम्बन्धों की अवहेलना करता है।

(2) पद सोपान का सबसे गम्भीर दोष यह है, कि यह कार्य निष्पादन में अनावश्यक देरी लाता है।

(3) पद सोपान का सिद्धान्त संगठनों में लालफीताशाही को प्रोत्साहित करता है, जिसकी परिणति भ्रष्टाचार में होती है।

(4) यह सिद्धान्त संगठन को यांत्रिक स्वरूप प्रदान करता है तथा मानवीय संवेगों, इच्छाओं, भावनाओं और बाध्यताओं के लिए कोई स्थान नहीं रखता।

(5) यह सिद्धान्त संगठन में रूढ़िवादिता, कठोर नियमबद्धता को प्रोत्साहित करता है, जिससे पहल न करने की भावना जन्म लेती है।

(6) यह सिद्धान्त सांगठनिक व्यवस्था में कार्यरत कार्मिकों के बीच उच्च–निम्न का भेद उत्पन्न करता है, जिससे असहयोग एवं अलगाववादी प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं।

(7) यह प्रणाली आकस्मिक एवं अत्यावश्यक कार्यों के लिए अनुपयुक्त है।

स्पष्ट है कि पद सोपान प्रणाली के कारण संगठन अनेक दोषों एवं बुराइयों से ग्रसित हो जाता है जो संगठन की कार्यकुशलता, मितव्ययता एवं उद्देश्य प्राप्ति में बाधक हैं।

इन सभी उपर्युक्त दोषों के उपरान्त भी पदसोपान के सिद्धान्त का संगठन में अपना महत्त्व है। कोई भी औपचारिक संगठन इस सिद्धान्त की शायद ही उपेक्षा कर सके। आवश्यकता केवल इस सिद्धान्त को सही रूप में क्रियाशील बनाने की है। इस दृष्टि से उर्विक का यह कथन प्रासंगिक प्रतीत होता है, कि प्रत्येक संगठन में पदसोपान व्यवस्था ठीक उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार घर में नाली, परन्तु इस माध्यम को संचार के एक मात्र माध्यम के रूप में प्रयोग में लाना, उसी प्रकार अनावश्यक है, जिस प्रकार नाली में समय व्यतीत करना।

आदेश की एकता

(Unity of Command)

पद सोपान प्रणाली में व्यवस्थित प्रत्येक औपचारिक संगठन उच्च–अधीनस्थ सम्बन्धों की शृंखला में बंधा होता है, जो न केवल उच्च– अधीनस्थ के कार्यों एवं उत्तरदायित्वों की व्याख्या करता है, बल्कि उनके परस्पर सम्बन्धों को भी निर्धारित करता है। यह व्यवस्था अपेक्षा करती है कि उच्चाधिकारी को आदेश देने का अधिकार है तथा अधीनस्थ द्वारा उनकी अनुपालना आवश्यक है।

एक मानवीय संगठन के सभी कार्यों तथा उत्तरदायित्व का सहज संचालन करने हेतु प्रत्येक कर्मचारी को यह ज्ञात हो कि उसका तात्कालिक उच्च अधिकारी कौन है? संगठन में वह किसके प्रति उत्तरदायी है? आदेश की अनुपालना का प्रतिवेदन किसे प्रस्तुत करना है? ऐसे प्रश्नों को हल करने वाला संगठन का सिद्धान्त, आदेश की एकता है जो निश्चित करता है कि किसी भी अधीनस्थ को आदेश केवल एक उच्चाधिकारी द्वारा प्राप्त होने चाहिए। इस अवधारणा का विकास सर्वप्रथम सैनिक संगठनों में हुआ और बाद में असैनिक संगठनों में इसे एक पवित्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया।

अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning & Definition)

आदेश की एकता का शाब्दिक अर्थ है कि एक आदेश का होना अर्थात् एक व्यक्ति–एक स्वामी। जैसा कि साइमन ने कहा है कि आदेश की एकता दो प्राधिकारी आदेशों के परस्पर टकराव की स्थिति में एक निश्चित व्यक्ति का निर्धारण करना है जिसकी कि अधीनस्थ आज्ञा मानें। संगठन में यदि किसी कर्मचारी को दो परस्पर विरोधी आदेश प्राप्त होंगे तो उसके सम्मुख भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी जो अन्ततः कार्यों में अकुशलता को उत्पन्न करेगी। आदेशों का स्रोत एक होने के कारण इसे आदेश की एकता का सिद्धान्त कहते हैं।

हेनरी फेयोल "यह वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि किसी कर्मचारी को केवल एक उच्चाधिकारी द्वारा ही आदेश दिये जाने चाहिए।"

फिफनर और प्रेस्थस "आदेश की एकता की अवधारणा का

तात्पर्य यह है कि किसी संगठन के प्रत्येक सदस्य को एक और केवल एक नेता के प्रति ही उत्तरदायी होना चाहिये।''

इन परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि आदेश की एकता का सिद्धान्त निर्धारण करता है, कि संगठन के प्रत्येक स्तर पर किसी भी कर्मचारी को आदेश केवल एक ही अधिकारी से प्राप्त होने चाहिए और उसी के प्रति कर्मचारी उत्तरदायी होना चाहिए।

विशेषताएँ :–

(1) यह सिद्धान्त पदसोपान व्यवस्था से निकट रूप से जुड़ा हुआ है।

(2) दो परस्पर विरोधाभासी आदेश की स्थिति में केवल एक निर्धारित व्यक्ति के आदेश की अनुपालना पर जोर देता है।

(3) यह सिद्धान्त प्रत्येक कर्मचारी की अपने उच्चाधिकारी के प्रति जवाबदेयता का निर्धारण करता है।

(4) उच्च–अधीनस्थ सम्बन्धों की प्रणाली में प्रभावपूर्ण नियंत्रण स्थापित करताहै।

आदेश की एकता की आवश्यकता एवं लाभ

जैसा कि हेनरी फेयोल ने इस सिद्धान्त की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दो सिर वाला जीव मानव एवं पशु जगत में अशुभ माना जाता है तथा वह जीवन जीने में कठिनाई महसूस करता है। ठीक उसी तरह आदेश की एकता के सिद्धान्त के उल्लंघन से सत्ता निर्बल हो जाती है, अनुशासन संकट में पड़ जाता है और संगठन के स्थायित्व को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इस सिद्धान्त से संगठन को अनेक लाभ होते हैं। जो इस प्रकार हैं –

(1) यह सिद्धान्त ,प्रत्येक संगठन में सत्ता के सूत्रों का स्पष्टीकरण करता है अर्थात् आदेश कौन देगा, अनुपालना कौन करेगा तथा कौन कर्मचारी किसके प्रति जवाबदेय होगा आदि प्रश्नों का निर्धारण करता है।

(2) यह सिद्धान्त, एक व्यक्ति–एक स्वामी के सिद्धान्त को संगठन में प्रभावी बनाता है जिससे संगठन में अनुशासन एवं नियंत्रण की व्यवस्थित पद्धति स्थापित होती है।

(3) यह संगठन में परस्पर उत्पन्न होने वाले अन्तर्विरोधों को कम कर सकता है।

(4) संगठन के उद्देश्य में एकरूपता की प्राप्ति आदेश की एकता से ही सम्भव है।

(5) यह सिद्धान्त, संगठन में कार्यकुशलता, मितव्ययता तथा दक्षता लाता है।

(6) यह सिद्धान्त, इस ब्रिटिश कहावत का समर्थन करता है कि दो अच्छे सेनापतियों के बजाय एक बुरा सेनापति अच्छा होता है, जिससे संगठन में कर्मचारियों को उलझन, भ्रम, आशंका तथा अस्पष्टता से मुक्ति मिलती है।

(7) यह सिद्धान्त, संगठन में समन्वय के कार्य को सुविधाजनक बनाता है तथा संगठन की एकजुटता में सहायक है।

कमियाँ एवं आलोचना

(1) आदेश की एकता का सिद्धान्त विशिष्टीकरण का विरोधी है, जैसा कि साइमन ने स्पष्ट किया है कि आदेश की एकता और विशिष्टीकरण दो भिन्न दशाएँ हैं।

(2) यह सिद्धान्त, संगठन में सैनिक संगठन की चौधराहट पैदा करता है, जिससे उच्चाधिकारी अधीनस्थों पर बिना सोचे समझे आदेश चलाते हैं।

(3) आदेश की एकता का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है तथा सार्वभौमिक रूप से सभी जगह समान रूप से लागू भी नहीं होता है।

(4) सहायक अभिकरणों के विकास ने इस सिद्धान्त की खोखली उपयोगिता को समाप्त कर दिया है।

(5) यह सिद्धान्त आदेश के कठोर अनुपालन पर जोर देता है जिससे संगठन में कठोरता आती है।

(6) यह सिद्धान्त, संगठन के कार्मिकों में पहलपन की भावनाओं का विकास नहीं करता तथा संगठन को लकीर का फकीर और रूढ़िवादी बनाता है।

(7) आदेश की एकता में व्याप्त कमियों को उजागर करते हुए सैकलर–हड़सन कहते हैं, ''एक व्यक्ति एक अधिकारी की पुरानी अवधारणा वर्तमान जटिल शासकीय परिस्थितियों में सत्य नहीं है। आदेश की सरल सीधी रेखा के बाहर अनेक अन्तर् सम्बन्ध विद्यमान हैं।''

आदेश की एकता को प्रभावित करने वाले तत्त्व

20 वीं शताब्दी के मध्य तक आदेश की एकता का सिद्धान्त एक पवित्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता था, किन्तु इस सदी के उत्तरार्द्ध में विकसित अनेक तत्वों ने इस सिद्धान्त को क्रान्तिकारी रूप से प्रभावित किया है। ये तत्व निम्नलिखित हैं

(1) सहायक अभिकरणों का विकास एवं उसके बढ़ते प्रचलन ने इस सिद्धान्त की उपयोगिता समाप्त कर दी है।

(2) विशेषज्ञ अभिकरणों की बढ़ती आवश्यकता एवं कार्यों की पनपती अनवरत् तकनीकी प्रवृत्ति ने आदेश की एकता के स्थान पर विशिष्टीकरण को बढ़ावा दिया है।

(3) संगठनों के पर्यावरणीय सरोकारों एवं बाह्य सम्बन्धों के बढ़ते प्रभाव ने आदेश की एकता को अप्रत्याशित रूप से प्रभावित किया है।

(4) संगठनों में बहुल कार्यपालिका के विकसित होते अनेक स्वरूपों ने इसकी प्रासंगिकता समाप्त कर दी है।

(5) विकास प्रशासन की अवधारणा ने इसकी अनुपयुक्तता को सिद्ध किया है क्योंकि विकास एक बहुआयामी अवधारणा है जो अनेक स्रोतों से आदेश स्वीकार करने पर जोर देता है।

नियंत्रण का क्षेत्र
(Span of Control)

बहुस्तरीय रूप में गठित प्रत्येक औपचारिक संगठन जहाँ उच्च–अधीनस्थ की एक व्यवस्थित श्रृंखला स्थापित करता है वहीं उच्चाधिकारी को आदेश देने और अधीनस्थों से पालन करवाने की व्यवस्था को भी पुख्ता बनाता है। कोई भी संगठन अपने लक्ष्यों को कार्यकुशलता एवं मितव्ययता के आधार पर प्राप्त करने में तभी सफल होता है, जब संगठन के विभिन्न स्तरों पर कार्यरत कर्मचारियों का कार्य एवं व्यवहार संयमित एवं सन्तुलित हो। यह तभी सम्भव है जब संगठन में नियंत्रण की एक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया जाये। प्रत्येक कार्य संगठन के विभिन्न स्तरों पर कार्यरत प्रत्येक कर्मचारी को कार्य एवं उत्तरदायित्व के साथ पर्याप्त मात्रा में सत्ता भी प्रदान की जाती है ताकि वह अपने अधीनस्थों को आदेश देकर उसका पालन करवा सकें। एक उच्चाधिकारी कितने अधीनस्थों को आदेश देकर उसका सक्रिय पालन करवा सकता है, इसकी एक निश्चित सीमा होती है। इस सीमा को लोक प्रशासन में नियंत्रण के क्षेत्र के सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त को नियंत्रण की सीमा, विस्तार की सीमा, विस्तार का क्षेत्र आदि संज्ञाएँ भी दी जाती हैं।

अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning & Definition)

नियंत्रण का क्षेत्र अंग्रेजी के "Span of Control" का हिन्दी रूपान्तरण है। जो दो शब्दों से मिलकर बना है Span अर्थात् विस्तार और Control अर्थात् नियंत्रण। Span का शाब्दिक अर्थ, वह दूरी है, जो किसी व्यक्ति के अंगूठे और कनिष्ठ अंगुली को फैलाने से बनती है। जबकि Control (नियंत्रण) शब्द का अर्थ, आदेश–निर्देश या कर्मचारियों के आचार–व्यवहार एवं कार्यकरण को संयमित करने वाली सत्ता से है। लोकप्रशासन में नियंत्रण के क्षेत्र का अर्थ, उन अधीनस्थ कर्मचारियों की संख्या से हैं, जिन पर उच्चाधिकारी कारगर ढंग से नियंत्रण रख सकता है।

परिभाषाएँ

डिमॉक के अनुसार, ''किसी उद्यम में उसके प्रमुख अधिकारी और उसके मुख्य सह अधिकारियों के बीच सीधे और नियमित संचार संपर्क को नियंत्रण का क्षेत्र कहते हैं।''

प्रो. जियाउद्दीन खान के अनुसार, ''नियंत्रण की सीमा उन मातहतों की या कार्य इकाइयों की संख्या है जिनका संचालन उच्चाधिकारी स्वयं कर सकता है।''

नियंत्रण क्षेत्र की विशेषताएँ
(Features of Span of Control)

1. नियंत्रण का क्षेत्र संगठन की पद सोपान व्यवस्था तथा आदेश की एकता से निकट रूप से जुड़ा होता है तथा उसी पर आधारित भी है।
2. यह सिद्धान्त संगठन में आदेश देने एवं उसके पालन करवाने की औपचारिक सीमा रेखाओं से सम्बन्धित है।
3. नियंत्रण के क्षेत्र द्वारा संगठन के उद्देश्यों के सन्दर्भ में मातहतों की संख्या निर्धारित होती है।
4. नियंत्रण का क्षेत्र अनेक औपचारिक और अनौपचारिक तत्वों से प्रभावित होता है।
5. नियंत्रण के क्षेत्र का कार्य की गुणवत्ता से सीधा सम्बन्ध होता है।

नियंत्रण के क्षेत्र का निर्धारण
(Determination of Span of Control)

पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि नियंत्रण का क्षेत्र एक तरह से अधीनस्थों की संख्या का निर्धारण है। संगठन में अधीनस्थों की संख्या के बारे में विभिन्न विद्वान एकमत नहीं हैं । संगठन में उच्चाधिकारी एक समय में एक साथ कितने अधीनस्थो पर अच्छा नियन्त्रण रख सकता है इस पर विभिन्न

विद्वानों ने अलग–अलग मत व्यक्त किए हैं जो इस प्रकार हैं :–

हेमिल्टन के अनुसार	–	3 से 4
फेयोल के अनुसार	–	5 से 6
ग्रेकुनाज के अनुसार	–	5 या 6
पी. देवराज के अनुसार	–	8 या 10
रामास्वामी शेखरन के अनुसार	–	12

प्रसिद्ध विद्वान उर्विक नियंत्रण के क्षेत्र की व्याख्या उत्तरदायित्व की मात्रा से जोड़कर करते हैं । उनके अनुसार, उच्च उत्तरदायित्व नियंत्रण के क्षेत्र को कम करता है तथा उत्तरदायित्व की कमी नियंत्रण के क्षेत्र को विस्तृत बनाती है यही कारण है कि उन्होंने संगठन के विभिन्न स्तरों पर नियंत्रण का क्षेत्र अलग–अलग इंगित किया है। उनके अनुसार–

उच्च स्तर	–	4 से 6
मध्य स्तर	–	6 से 8
निम्न स्तर	–	8 से 12

उर्विक, नियंत्रण की आदर्श संख्या 4 मानते हैं, वहीं ग्रेकुनाज के अनुसार, आदर्श संख्या 5 है ।

नियंत्रण के क्षेत्र को अनेक तत्व प्रभावित करते हैं, इसलिए विद्वानों में इस क्षेत्र में मत विभिन्नताएँ मिलती हैं ।

नियंत्रण के क्षेत्र को प्रभावित करने वाले कारक

(Factors Affecting Span of Control)

(अ) परम्परागत कारक

(Traditional Factors)

(1) व्यक्तित्व

(Personality)

उच्चाधिकारी का व्यक्तित्व, नियंत्रण के क्षेत्र को प्रभावित करता है। उच्चाधिकारी यदि प्रभावशाली व्यक्तित्व का धनी है, तो वह अधिक व्यक्तियों को नियंत्रित कर सकता है तथा कम प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का उच्चाधिकारी कम अधीनस्थों को।

(2) स्थान

(Place)

संगठन का फैलाव भी नियंत्रण के क्षेत्र को प्रभावित करता है। संगठन की इकाइयाँ यदि एक ही छत के नीचे या आस पास स्थित हों तो उच्चाधिकारी के नियंत्रण की सीमा बढ़ जाती है, किन्तु यदि संगठन की इकाइयाँ फैली हुई और दूर–दूर स्थित हैं तो उसके नियंत्रण का क्षेत्र सीमित हो जाता है ।

(3) अवधि **(Period)**

संगठन की आयु भी नियंत्रण के क्षेत्र को सक्रिय रूप से प्रभावित करती है। संगठन जितना पुराना होगा, उतनी ही संगठन की कार्य प्रणाली, प्रक्रियाएँ, नियम, स्पष्ट होंगे तथा अधीनस्थ उनसे पूर्णतः परिचित होंगे। नए संगठन में ये स्थिति ठीक विपरीत होगी। अतः संगठन जितना पुराना होगा, उच्चाधिकारी के नियंत्रण की क्षमता भी उतनी ही अधिक होगी। नए संगठनों में उच्चाधिकारियों के नियंत्रण की सीमा कम होगी।

(4) उद्देश्य अथवा कार्य की प्रकृति

(Objectives or Nature of Work)

कार्य की प्रकृति भी नियंत्रण के क्षेत्र को प्रभावित करती है। संगठन में होने वाले कार्य एक ही प्रकृति के होते हैं तथा अधीनस्थ एक ही तरह का कार्य करते हैं, तो उच्चाधिकारी उन पर आसानी से नियंत्रण रख सकता है और अधीनस्थों की संख्या भी अधिक होगी। लेकिन यदि अधीनस्थों के कार्य की प्रकृति अलग–अलग होती है, तो उच्चाधिकारी कम अधीनस्थों पर नियंत्रण रख सकता है।

(5) पारिवारिक परिस्थितियाँ

(Family Circumstances)

पारिवारिक परिस्थितियाँ भी उच्चाधिकारियों को प्रभावित करती हैं, यदि उच्चाधिकारी अपनी पारिवारिक समस्याओं में उलझा होता है, तो वह अपने अधीनस्थों पर ढंग से नियंत्रण नही कर पाता है। यदि अधिकारी अपनी पारिवारिक समस्याओं से मुक्त रहता है तो उच्चाधिकारी का नियंत्रण क्षेत्र अधिक होता है, वह अधिक अधीनस्थों पर नियन्त्रण रख सकता है।

(6) पर्यवेक्षण की तकनीक

(Techniques of Supervision)

यदि उच्चाधिकारी को सभी उच्च आधुनिक तकनीकें प्राप्त हो तो वह अधिक संख्या में अधीनस्थों पर नियन्त्रण कर सकता है। इसके विपरीत तकनीकें उपलब्ध न होने पर वह कम संख्या में अधीनस्थों पर नियंत्रण कर पाता है। ,

(7) प्रत्यायोजन की सुविधा

(Facility of Delegation)

प्रत्यायोजन की सुविधा उपलब्ध होने पर अपने कुछ अधिकारों तथा कार्यों को अन्य को हस्तांतरित कर सकता है।

जिससे उसका कार्यभार कम हो जाता है और वह अधीनस्थों पर आसानी से नियंत्रण रख सकता है । इसके विपरीत यदि प्रत्यायोजन की सुविधा उपलब्ध नहीं होती है, तो सारा कार्य उसे ही करना पड़ता है और अधिक मात्रा में वह अधीनस्थों पर नियंत्रण नहीं कर सकता है।

(ब) नवीन कारक

(New Factors)

आधुनिक युग विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का युग है। विज्ञान एवं तकनीकी में आए क्रांतिकारी परिवर्तनों से नियंत्रण का क्षेत्र भी प्रभावित हुआ है। हाल ही में संगठन के क्षेत्र में कुछ नवीन तत्वों का प्रवेश हुआ है जिन्होंने नियंत्रण के क्षेत्र को प्रभावित करने वाले परम्परागत तत्वों के प्रभाव को समाप्त कर दिया है। अब नियंत्रण का क्षेत्र अत्याधुनिक संगठनों में निम्न कारकों से निर्धारित होता है।

(1) स्वचालन का प्रयोग

(Use of Automation)

जो संगठन कार्य निष्पादन हेतु स्वचालित यंत्रों, उपकरणों का उपयोग करता है उसमें उच्चाधिकारियों के नियंत्रण का क्षेत्र विस्तृत होता है और इन तकनीकी उपकरणों के अभाव में नियंत्रण की सीमा घट जाती है।

(2) सम्प्रेषण की प्रक्रियाएँ एवं सूचना क्रांति

(Process of Communication and Information Revolution)

आज के युग में सम्प्रेषण एवं सूचना प्राप्त करने के साधनों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है यथा – फैक्स, टैलेक्स, इन्टरनेट, सेलफोन आदि। जो संगठन इन सहसाधनों से सुसज्जित होता है, उसमें उच्चाधिकारियों के नियंत्रण की क्षमता अधिक और सूचना प्राप्ति के परम्परागत साधनों एवं सम्प्रेषण की पुरानी तकनीकों पर आश्रित संगठनों में नियंत्रण की सीमा कम होती है।

(3) विशेषज्ञों का उपयोग

(Use of Specialists)

आज का युग विशिष्टीकरण का युग है। विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेशपूर्व प्रशिक्षण के माध्यम से कर्मचारी संगठन में आने से पूर्व दक्षता हासिल कर लेता है। इसके अलावा सांगठनिक कार्य एवं प्रक्रियाएँ दिन–प्रतिदिन इतनी तकनीकी प्रकृति की होती जा रही हैं, कि उनका सम्पादन विशेषज्ञों द्वारा करवाना आवश्यक सा हो गया है। जो संगठन अपने कार्य निष्पादन में विशेषज्ञों का उपयोग करता है, उनमें उच्चाधिकारियों के नियंत्रण की सीमा बढ़ जाती है, क्योंकि विशेषज्ञों को अतिरिक्त नियंत्रण करने की आवश्यकता महसूस नहीं की जाती और एक उच्चाधिकारी अनेक विशेषज्ञों का नियंत्रण आसानी से कर सकता है। विशेषज्ञों का उपयोग न करने वाले संगठनों में नियंत्रण का क्षेत्र सीमित होता है।

नियंत्रण के क्षेत्र पर ग्रेकुनाज के विचार

प्रसिद्ध विद्वान वी. ए. ग्रेकुनाज ने 1933 में अपने एक लेख में नियंत्रण के सिद्धान्त को मनोविज्ञान के सिद्धान्त 'ध्यान की सीमा' के आधार पर विश्लेषित किया कि विभिन्न गतिविधियों पर ध्यान रखने की एक सीमा होती है। संगठन में अधीनस्थों को नियंत्रित करने का अर्थ, उच्च अधीनस्थों के बीच उत्पन्न होने वाले विभिन्न सम्बन्धों पर ध्यान रखने से है।

ग्रेक्रुनाज के अनुसार, किसी भी संगठन में कार्यरत उच्चाधिकारी और अधीनस्थ के बीच तीन तरह के सम्बन्ध विकसित होते हैं। वे हैं :–

1. प्रत्यक्ष इकहरे सम्बन्ध – (Direct Single Relationship) DSR
2. प्रत्यक्ष समूह सम्बन्ध – (Direct Group Relationship) DGR
3. त्रियक सम्बन्ध – (Cross Relationship) C.R.

उपर्युक्त तीनों ही प्रकार के सम्बन्ध उच्च अधीनस्थ के बीच कुल सम्बन्धों की गणना करने के लिए ग्रेक्रुनाज ने चार गणितीय सूत्र बताए हैं:–

प्रत्यक्ष इकहरे सम्बन्धों की संख्या = 'n'

प्रत्यक्ष समूह सम्बन्धों की संख्या $= n\left(\frac{2^n}{2} - 1\right)$

त्रियक सम्बन्धों की संख्या = n (n – 1)

कुल सम्बन्धों की संख्या $= n\left(\frac{2^n}{2} + n - 1\right)$

ग्रेकुनाज के अनुसार नियंत्रण के क्षेत्र तथा सम्भावित सम्बन्धों का विवरण

अधीनस्थों की संख्या	प्रत्यक्ष इकहरे सम्बन्ध	प्रत्यक्ष समूह सम्बन्ध	त्रियक सम्बन्ध	कुल सम्बन्ध
1	1	–	–	1
2	2	2	2	6
3	3	6	9	18
4	4	12	28	44
5	5	20	75	100
6	6	30	186	222
7	7	42	441	490
8	8	56	1016	1080
9	9	72	2295	2376
10	10	90	5110	5210

ग्रेकुनाज की मान्यता है कि अधीनस्थों की संख्या में संख्यात्मक वृद्धि होने पर उच्च–अधीनस्थों के बीच विकसित होने वाले सम्बन्धों की संख्या में ज्यामितीय वृद्वि होती है। अपने सूत्रों के माध्यम से उसने स्पष्ट किया कि किसी भी उच्चाधिकारी के 5 अधीनस्थों को बढ़ाकर यदि 6 किए जाते हैं, तो उच्च–अधीनस्थ के बीच विकसित होने वाले सम्बन्धों की संख्या में 122 प्रतिशत वृद्धि हो जाती है। यह छठा अधीनस्थ, उच्चाधिकारी के कार्य में मात्र 23 प्रतिशत ही सहयोग करता है, जबकि उच्चाधिकारी के कार्य को 122 प्रतिशत बढ़ा देता है। यह बढ़ोतरी उच्चाधिकारी के कार्य पर नकारात्मक प्रभाव डालती है तथा ग्रेकुनाज ने यह सिद्व करने की कोशिश की कि अधीनस्थों की आदर्श संख्या 5 ही होनी चाहिए और कोई भी कर्मचारी 5 अधीनस्थों की स्थिति में 100 सम्बन्धों पर सक्रिय रूप से ध्यान दे सकता है।

समन्वय (Coordination)

आधुनिक युग बड़े संगठनों का युग है। बड़े संगठनों के उद्देश्य भी व्यापक होते जा रहे हैं। संगठनों के इस विस्तार तथा उनके द्वारा सम्पादित कार्यों की जटिल होती प्रकृति ने अनेक समस्याओं को खड़ा कर दिया है।

जैसा कि पूर्व अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि कोई भी संगठन अनेक प्रत्ययों, अवयवों और इकाइयों का मेल अथवा संयोजन है। संगठन के इन अवयवों के बीच परस्पर सकारात्मक सहयोग की अपेक्षा की जाती है। अतः संगठन में विभिन्न इकाइयों के मध्य तालमेल स्थापित करना पड़ता है, जिसे समन्वय कहते हैं।

अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition)

साधारण शब्दों में समन्वय से तात्पर्य है, किसी भी संगठन की विभिन्न गतिविधियों में तालमेल बिठाना।

किन्तु विद्वानों ने समन्वय की व्याख्या दो दृष्टियों से की है, जो समन्वय की निषेधात्मक दृष्टि से व्याख्या करते हैं उनके अनुसार, समन्वय संगठन में कार्यो के दोहराव को रोकने की क्रिया है, किन्तु जो विद्वान विधेयात्मक दृष्टि से समन्वय की व्याख्या करते हैं, वे समन्वय को संगठन के विभिन्न कर्मचारियों में मिलजुलकर सहयोगपूर्वक कार्य करने की प्रवृत्ति के विकास के रूप में देखते हैं। वर्तमान सन्दर्भ में दोनों ही दृष्टियाँ अतिवादी हैं, बल्कि वास्तविकता तो यह है कि समन्वय दोनों ही दृष्टियों का मेल है। समन्वय की विभिन्न विद्वानों ने जो परिभाषाएँ दी हैं, वे इस प्रकार हैं:–

हेनरी फेयोल – ''समन्वय किसी संगठन की सभी क्रियाओं में समरसता स्थापित करता है, ताकि उसका कार्य सुविधाजनक ढंग से सफलतापूर्वक चलता रहे।''

सेकलर हडसन – ''समन्वय कार्य के विभिन्न हिस्सों के बीच तालमेल स्थापित करने की महत्त्वपूर्ण गतिविधि है।''

मूने और रैले – ''किसी सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति हेतु की जाने वाली विभिन्न क्रियाओं के मध्य एकता बनाए रखने के उद्देश्य से सामूहिक प्रयत्नों में सुव्यवस्था स्थापित करने को समन्वय कहते हैं।''

नीग्रो – ''समन्वय से तात्पर्य है कि संगठन के विभिन्न अंग एक साथ मिलकर प्रभावकारी रूप से कार्य करते हैं और संघर्ष, अतिराव तथा पुनरावृत्ति के बिना काम चलता रहता है।''

मेकफारलैण्ड – ''समन्वय एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक कार्यकारी अधिकारी अपने अधीनस्थों में सामूहिक प्रयास का एक सुव्यवस्थित स्वरूप विकसित करता है तथा सामूहिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु क्रियाओं से सम्बन्धित एकता स्थापित करता है।''

न्यूमैन – ''समन्वय प्रयत्नों की ऐसी व्यवस्थित समकालिकता है, जिसमें किसी कार्य के उचित निष्पादन का उचित परिणाम, समय तथा निर्देशन प्राप्त होता है, जिसके फलस्वरूप निर्धारित उद्देश्य के लिए सामंजस्यपूर्ण तथा एकीकृत क्रियाएँ सम्भव होती हैं।''

चार्ल्सबर्थ – ''उद्यम के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये संगठन के कुछ भागों का सामंजस्यपूर्ण एकीकरण ही समन्वय कहलाता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समन्वय संगठन में कार्यों की पुनरावृत्ति को रोकते हुए विभिन्न इकाइयों में परस्पर सहयोग पूर्वक कार्य करने की प्रवृत्ति का विकास करता है।

समन्वय की विशेषताएँ :–

उपर्युक्त वर्णित परिभाषाओं के आधार पर समन्वय की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं –

1. समन्वय संगठन की एक सतत् एवं अनवरत् रूप से चलने वाली क्रिया है। यह किसी समय विशेष पर की जाने वाली क्रिया नहीं बल्कि हर क्षण, हर पल की जाती है।
2. समन्वय एक गत्यात्मक प्रक्रिया है। जो समय, स्थान व परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ अपना समायोजन करती रहती है।
3. समन्वय का प्रत्यक्ष सम्बन्ध संगठन के उद्देश्यों से होता है, न कि सांगठनिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति हेतु।
4. समन्वय में निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों ही क्रियाओं का मेल होता है।
5. समन्वय संगठन की कोई पृथक क्रिया नहीं बल्कि संगठन के विभिन्न स्तरों के साथ स्वतः जुड़ी हुई क्रिया है।
6. समन्वय संगठन के विभिन्न भागों के सामंजस्यपूर्ण एकीकरण की क्रिया है, जिसमें प्रयत्नों की एकरूपता निहित होती है और यही तत्व समन्वय को सहयोग से पृथक करता है। जैसा कि टैरी ने कहा है कि ''सहयोग किसी सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति का दूसरे या दूसरों के साथ सामूहिक कार्य है। समन्वय, सामूहिक कार्य से कहीं अधिक है ओर इसका (समन्वय) अर्थ है – प्रयत्नों की समकालिकता अर्थात् प्रयत्न एक ही समय में होने चाहिए।''

समन्वय के प्रकार

(Types of Coordination)

1. लम्बरूप समन्वय (Vertical Coordination) इस प्रकार के समन्वय में सत्ता एवं पदसोपान का विशेष महत्त्व है। उच्चाधिकारी अपनी सत्ता को तत्कालीन अधीनस्थ अधिकारी या कर्मचारी से समन्वय स्थापित करता है।

एक पदसोपान व्यवस्था में इस प्रकार का समन्वय उत्पन्न करने के लिये शक्तियों का प्रत्यायोजन करना पड़ता हैं। इसके लिये निरीक्षण, नियंत्रण तथा निर्देशन आदि तकनीकी बातों को ध्यान में रखा जाता है। उच्च पदाधिकारी को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों में विश्वास एवं आदान–प्रदान की भावना का विकास उत्पन्न करना पड़ता है। समन्वय की प्रायोजित व्यवस्था में सत्ता लम्बरूप में ऊपर से नीचे की ओर क्रमिक रूप से चलती है, मध्य में बाधा उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को कार्य से पृथक् कर दिया जाता है।

2. क्षैतिजिक समन्वय (Horizontal Coordination) समतल प्रकार का समन्वय, प्रबन्ध के समान स्तरों पर किया जाता है। यदि समान स्तर के पदाधिकारियों के मध्य समन्वय स्थापित किया जा सके तो प्रशासन की गति ही रूक जायेगी। इस प्रकार की समन्वय की व्यवस्था में पदाधिकारी एक–दूसरे पर अपनी सत्ता लादने की कोशिश नहीं करते। वे समान स्तर पर स्वयं ही समन्वय स्थापित कर लेते हैं।

3. आन्तरिक समन्वय (Internal Coordination) आन्तरिक समन्वय संगठन की विविध इकाइयों के मध्य किया जाता है। यह कर्मचारियों के मध्य होता है और बाह्य तत्वों से प्रभावित नहीं होता।

4. बाह्य समन्वय (External Coordination) जब कभी समन्वय जनमत, राजनीतिक दल, शासकीय नीतियों तथा अन्य व्यक्तिगत समस्याओं द्वारा प्रभावित होता है, उसे हम बाह्य प्रकार का समन्वय कहते हैं। यदि संगठन में बाह्य संस्थाओं के साथ तालमेल उत्पन्न न किया जावे, तो वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में असफल हो जायेगा और प्रशासन में विविध प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न होंगी।

समन्वय की आवश्यकता एवं महत्त्व (Importance and Need of Coordination)

1. परस्पर विरोध की भावनाओं को दूर करने हेतु समन्वय आवश्यक है। एक संगठन में विभिन्न योग्यताओं, भिन्न रूचियाँ, भिन्न सामाजिक पृष्ठभूमियों और मूल्यों तथा विभिन्न प्राथमिकताओं वाले लोग कार्य करते है। संगठन में कार्य करते समय प्रतिस्पर्द्धा, विरोधीभाव, अहंकार की भावना आदि से शक्ति एवं सत्ता के लिए झगड़े उत्पन्न होते हैं।

2. समन्वय द्वारा संगठन की विभिन्न इकाइयों के बीच परस्पर सामंजस्यपूर्ण भावना का विकास किया जाता हैं।
3. समन्वय संगठन की विभिन्न इकाइयों के बीच प्रयत्नों की एकरूपता को स्पष्ट करता है जिससे कार्यों की पुनरावृति नहीं होती, जिससे संगठन मितव्ययी एवं कार्यकुशल बनता है।
4. समन्वय संगठन की विभिन्न इकाइयों में सहयोग की अपेक्षा करता है, जिससे संगठन की सभी इकाइयाँ क्रमबद्ध रूप से जुड़ी रहती है और संगठन एकीकृत इकाई के रूप में अपनी पहचान बनाता हैं।
5. समन्वय संगठन की विभिन्न इकाइयों तथा उनके विभिन्न कर्मचारियों के बीच सकारात्मक एवं व्यवस्थित सहयोग विकसित करता है, परिणामस्वरूप उद्देश्य की राह आसान हो जाती है।
6. आज के तकनीकी युग में प्रत्येक संगठन विशेषीकृत इकाइयों का समुच्च्य बन चुका है एवं उनके प्रयत्नों के बीच तालमेल बिठाना आज के समय की महती आवश्यकता है।
7. मितव्ययता एवं कार्यकुशलता की दृष्टि से भी समन्वय का अपना महत्व है।

समन्वय के साधन – (Means of Coordination)

प्रशासनिक संगठन में समन्वय स्थापित करने के बहुत से साधन हैं। इन साधनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

I. औपचारिक साधन

II. अनौपचारिक साधन

I. औपचारिक साधन (Formal Means)

संगठन अपनी विभिन्न इकाइयों एवं गतिविधियों में समन्वय स्थापित करने में निम्न एक से अधिक औपचारिक साधनों को, एक समय में उपयोग में लाता है। वे हैं –

1. नियोजन
2. पर्यवेक्षण
3. सत्ता के माध्यम से
4. सांगठनिक प्रयासों द्वारा यथा–सम्मेलन, संगोष्ठियाँ, अन्तर्विभागीय सम्मेलन आदि।
5. सम्पर्क व्यक्ति की नियुक्ति के द्वारा
6. केन्द्रीकृत गृहपालन क्रियाओं की स्थापना के माध्यम से
7. लिखित सम्प्रेषण की व्यवस्थित पद्धति स्थापित कर
8. सामूहिक निर्णय प्रक्रिया अर्थात् सहभागिता द्वारा
9. क्रियाविधियों के मानकीकरण द्वारा
10. मुख्य कार्यपालिका द्वारा विभिन्न इकाइयों के बजट निर्धारण के माध्यम से।

II अनौपचारिक साधन (Informal Means)

संगठनों की विभिन्न गतिविधियों में उचित तालमेल स्थापित करने हेतु औपचारिक साधनों के साथ–साथ कई अनौपचारिक साधनों का भी सहयोग लिया जाता है, वे हैं –

1. व्यक्तिगत नेतृत्व क्षमताओं का सहयोग लेकर
2. अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के माध्यम से
3. सामूहिक भोज, सामूहिक खेल आयोजन, भ्रमण, समारोहों और चाय पार्टियों के माध्यम से भी समन्वय किया जाता है।
4. समन्वय में उच्चाधिकारी की भावुक अपीलें भी सम्मिलित होती हैं।
5. सहभागी निर्णय–निर्माण प्रक्रिया भी समन्वय में सहयोग करती है।

अच्छे समन्वय की पूर्व शर्तें –

1. पद सोपान की रचना पूर्ण स्पष्ट हो तथा यह पिरामिड की तरह लगता भी हो। इसमें सत्ता एवं उत्तरदायित्व की स्पष्ट व्यवस्था हो।
2. संगठन का प्रत्येक कार्मिक अपनी इकाई के मुखिया के प्रति उत्तरदायी हो।
3. बड़े मुख्य विभागों के अधीन तुरंत उप विभागों का गठन, उद्देश्य, कार्य तथा आवश्यकता के आधार पर होना चाहिए।
4. जहाँ तक सम्भव हो सके, प्रत्येक विभाग स्वावलम्बी हो तथा उनकी एकीकरण प्रक्रिया समन्वय की आवश्यकताओं के अनुकूल हो।
5. विभागों की संख्या कम होनी चाहिए, ताकि मुख्य कार्यपालिका प्रभावी ढंग से उन पर नियंत्रण रख सके।
6. प्रबन्ध तथा समन्वय के लिए सामान्य और सहायक स्टाफ सेवाएँ गठित की जानी चाहिये।

7. बड़ें संगठनों की सहायक क्रियाएँ, जैसे कार्मिक प्रबन्ध तथा वित्तीय प्रबन्ध मुख्य कार्यकारी के अधीन होने चाहिये।
8. सूत्र और स्टाफ अभिकरणों के भेद को किसी व्यावहारिक नियम के अन्तर्गत पुनर्गठित किया जाना चाहिए।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- संगठन के इतिहास के प्रारम्भ से ही संगठन के सर्वस्वीकृत मान्यताओं, नियमों और आधारशिलाओं जिन्हें सिद्धान्त कहा जाता है कि आवश्यकता महसूस हुई।
- शास्त्रीय युग में जिन नियमों और सिद्धान्तों को खोज निकाला गया वे है –पदसोपान, नियंत्रण का क्षेत्र, आदेश की एकता, समन्वय, पर्यवेक्षण, केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण, प्रत्यायोजन आदि।
- संगठन का प्रथम सिद्धान्त पद सोपान माना जाता है।
- संगठन में लम्बवत् रूप में उच्च–अधीनस्थ सम्बन्धों की एक श्रृंखला को पद सोपान कहते हैं, जिससे संगठन कई स्तरों व सीढ़ियों में विभाजित होता है।
- पद सोपान का गठन चार आधारों पर किया जाता है वे हैं – कार्य, प्रतिष्ठा, वेतन एवं कार्यकुशलता।
- पद सोपान संगठन के अनेक रूपों में लाभकारी सिद्धान्त है, पर वर्तमान में इसमें अनेक दोष व्याप्त हो गए हैं जिन्हें दूर करने के लिए हेनरी फेयोल ने गैंग–प्लैंक अथवा पूल व्यवस्था की वैकल्पिक व्यवस्था सुझायी है।
- आदेश की एकता के सिद्धांत के अनुसार, संगठन के बहुस्तरीय स्वरूप में प्रत्येक स्तर पर कार्यरत व्यक्ति यह अपेक्षा करता है, कि उन्हें आदेश देने वाला एक ओर केवल एक उच्चाधिकारी हो।
- एक उच्चाधिकारी कितने अधीनस्थों पर एक साथ नियन्त्रण रख सकता है, इसकी एक निश्चित सीमा होती है। इस सीमा को नियन्त्रण के क्षेत्र का सिद्धान्त कहते हैं।
- उच्चाधिकारी के नियंत्रण की सीमा को प्रभावित करने वाले तत्व हैं – कार्य की प्रकृति, व्यक्तित्व, स्थान अवधि, प्रत्यायोजन की सुविधा, पारिवारिक परिस्थितियाँ, पर्यवेक्षण की तकनीकें आदि ।
- नियंत्रण की सीमा को प्रभावित करने वाले हाल ही में कुछ नये कारक भी पनपे हैं, वे हैं – स्वचालन का उपयोग, सूचना क्रांति एवं संचार साधन और विशेषज्ञों का प्रचलन रहा है।
- संगठन के उद्देश्य प्राप्ति हेतु विभिन्न इकाइयों, गतिविधियों के बीच उचित समन्वय एवं तालमेल स्थापित करना आवश्यक होता है।
- समन्वय विभिन्न इकाइयों के बीच कार्य के दोहराव को रोकते हुए सामंजस्यपूर्ण सहयोग की भावना विकसित करना है, जो संगठन की सतत् एवं गत्यात्मक प्रत्येक स्तर से जुड़ी हुई क्रिया है।
- समन्वय लम्बवत्, समतल, आन्तरिक एवं बाह्य हो सकता है।
- समन्वय स्थापित करने हेतु दो प्रकार के साधन प्रयोग में लाये जाते हैं – औपचारिक और अनौपचारिक।
- संगठन में परस्पर संघर्ष को दूर करने, कर्मचारियों में सहयोग पूर्ण भावनाओं का विकास करने, कार्यों की पुनर्रावृत्ति को रोकने, कार्यकुशलता एवं मितव्ययता लाने के उद्देश्य से साधनों के दुरूपयोग को रोकने तथा संगठन की इकाइयों में क्रमबद्धता स्थापित करने हेतु समन्वय अति आवश्यक है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न –

1. पदसोपान व्यवस्था को सीढ़ीनुमा (स्केलर) नाम किसने दिया है ?
   (अ) साइमन एवं थाम्पसन (ब) गुलिक एवं उर्विक
   (स) बर्नार्ड (द) मूने एवं रैली ( )
2. पद सोपान में विभाजन होता है ?
   (अ) पदों का (ब) स्तरों का
   (स) सत्ता का (द) उपर्युक्त सभी ( )
3. प्रशासन में पिरामिड किस सिद्धान्त से मेल खाता है ?
   (अ) आदेश की एकता (ब) सत्ता का प्रत्यायोजन
   (स) क्रमिक प्रक्रिया का हित सिद्धान्त
   (द) समन्वय ( )
4. आदेश की एकता का आशय है ?
   (अ) एक अधिकारी केवल एक अधीनस्थ को आदेश दे।

(ब) एक अधीनस्थ – एक उच्चाधिकारी

(स) परिस्थिति के अनुरूप सत्ता का विभाजन

(द) उपर्युक्त सभी ( )

5. "किसी कर्मचारी को केवल एक उच्चाधिकारी द्वारा ही आदेश दिए जाने चाहिए" यह परिभाषा दी है ?

(अ) मूने (ब) फेयोल

(स) मिलेट (द) गुलेट ( )

6. आदेश की एकता का लाभ यह है कि –

(अ) इससे कार्यकुशलता बढ़ती है

(ब) भ्रम एवं दुविधा की स्थिति नहीं रहती

(स) उत्तरदायित्व निश्चित हो जाते हैं

(द) उपर्युक्त सभी ( )

7. समन्वय के लिए 'तनाव सिद्धान्त' प्रतिपादित किया है ?

(अ) क्लिवलैण्ड (ब) सेक्लर हडसन

(स) पिफनर (द) साइमन ( )

8. समन्वय तथा सहयोग में अन्तर है ?

(अ) स्वेच्छा का (ब) तारतम्यता का

(स) व्यवस्थीकरण का (द) उपर्युक्त सभी ( )

9. नियंत्रण का क्षेत्र से आशय है ?

(अ) अधीनस्थों को नियंत्रित करना

(ब) निरीक्षण द्वारा नियंत्रण प्रक्रिया संचालित करना

(स) अधीनस्थों की क्षमता सुधारना

(द) उच्चाधिकारी की वह क्षमता जितना वह अधीनस्थों को नियंत्रित कर सकता है। ( )

10. ग्रेकुनाज के अनुसार एक अधिकारी कितने अधीनस्थों पर नियंत्रण रख सकता है ?

(अ) 5 – 6 (ब) 10–12

(स) 7 – 8 (द) 3 – 4 ( )

अति–लघूत्तरात्मक प्रश्न :–

1. पद सोपान का शाब्दिक अर्थ बताइए।
2. संगठन का पिरामिडनुमा आकार किस सिद्धान्त का परिचायक है ?
3. पद सोपान की परिभाषा दीजिए।
4. 'एक कार्मिक – एक अधिकारी' किस सिद्धान्त के क्रम में है ?
5. आदेश की एकता सिद्धान्त के घोर विरोधी विद्वान का नाम बताइए ?
6. आदेश की एकता को परिभाषित कीजिए ?
7. समन्वय से आप क्या समझते हैं ?
8. 'तनाव सिद्धान्त' किसने दिया ?
9. 'नियंत्रण के क्षेत्र' की आदर्श संख्या कितनी हो सकती है ?
10. नियंत्रण के क्षेत्र में समग्र सम्बन्धों की संख्या ज्ञात करने हेतु ग्रेकुनाज द्वाराप्रस्तुत सूत्र को लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :–

1. पद सोपान सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. पद सोपान की प्रमुख प्रणालियों का उल्लेख कीजिए।
3. पद सोपान व्यवस्था के लाभ या गुणों का परीक्षण कीजिए।
4. 'आदेश की एकता' की अवधारणा समझाइए।
5. 'आदेश की एकता' की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
6. 'आदेश की एकता' के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
7. समन्वय की प्रमुख विशेषताएँ वर्णित कीजिए।
8. समन्वय की पूर्व शर्तों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।
9. नियंत्रण के क्षेत्र को प्रभावित करने वाले कारकों की चर्चा कीजिए।
10. ग्रेकुनाज सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न :–

1. पद सोपान से आप क्या समझते हैं ? पद सोपान के गुण एवं दोषों पर प्रकाश डालते हुए हानियों को कम करने के तरीके सुझाइये।
2. 'पद सोपान प्रशासनिक संगठन की प्राथमिक आवश्यकता है' व्याख्या कीजिए।
3. 'आदेश की एकता' से क्या अभिप्राय है ? क्या आज विशेषीकरण के युग में इस सिद्धान्त को प्रशासनिक संगठनों में कठोरता से लागू किया जा सकता है ?

4. 'समन्वय' की अवधारणा से क्या अभिप्राय हैं ? एक प्रशासनिक संगठन में समन्वय की आवश्यकता के प्रमुख कारण बताइये साथ ही समन्वय की तकनीकों का उल्लेख कीजिए।

5. नियंत्रण का क्षेत्र क्या है ? उसे प्रभावित करने वाले कारकों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तरमाला

1. द 2. द 3. ब 4. ब 5. ब

6. द 7. अ 8. द 9. द 10. अ

अध्याय–6

संगठन के अन्य सिद्धान्त

(Other Principles of Organization)

इस अध्याय में संगठन के चार अन्य प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा रहा है –

I सूत्र एवं स्टाफ अभिकरण

(Line and Staff Agencies)

संगठन के सर्वोच्च पर मुख्य कार्यपालिका होती है जिसे अपने कार्यों एवं कर्त्तव्यों के क्रियान्वयन के लिए विस्तृत सत्ता प्रदान की जाती है। इसकी सहायता करने के लिए अधिकारी तंत्र होता है। इनमें कुछ अधिकारियों का कार्य नीति निर्माण से संबंधित होता है और कुछ का क्रियान्वयन से संबंधित नीति–निर्माण में सहायता के लिए मंत्रणा देने वाला होता है। जिसके कार्य केवल परामर्श भरे होते हैं, आदेशात्मक नहीं। जिसका संबंध नीति सम्बन्धी कार्यों से होता है उसे हम सूत्र (Line) अभिकरण कहते हैं। जो नीति क्रियान्वयन में केवल मंत्रणा आदि देकर सहायता करता है, उसे स्टाफ (Staff) अभिकरण कहा जाता है।

अतः मुख्य कार्यपालिका को सहायता तथा परामर्श उपलब्ध कराने के संबंध में दो प्रकार के प्रशासनिक अभिकरण कार्य करते हैं –

1. सूत्र अभिकरण (Line Agencies)
2. स्टाफ अभिकरण (Staff Agencies)

वस्तुतः यह दोनों शब्द सैनिक प्रशासन से लिए गए हैं। सेना में सर्वोच्च पद से नीचे सैनिक तक लाइन अभिकरण में आते हैं। मुख्य सेनापति के अधीन जनरल, कर्नल, मेजर, कैप्टन आदि अधिकारी, लाइन अधिकारी कहे जाते हैं। इनका कार्य संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करना है अर्थात् युद्ध के क्षेत्र में ये अधिकारी आदेश देते हैं। उसका संचालन एवं नेतृत्व करते हैं, अर्थात् संगठन की सफलता इन अधिकारियों पर निर्भर करती है। लोक प्रशासन में भी लाइन अभिकरणों के पास वास्तविक सत्ता रहती है, जिसका कार्य आज्ञा देना होता है। सैनिक प्रशासन में लाइन अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य अधिकारी और कर्मचारी भी होते हैं, जिन्हें युद्धरत सेना के लिए यातायात, रसद, चिकित्सा सहायता आदि उपलब्ध करवाते हैं। इन सब कार्यों की देखरेख स्टाफ इकाइयाँ करती हैं तथा इसी सहायता की वजह से सेना युद्ध में क्रियाशील रहती है।

लोक प्रशासन में लाइन अभिकरण की समय व शक्ति की सीमा के कारण उत्पन्न विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिए विभिन्न प्रकार की सहायता की आवश्यकता पड़ती है तथा सहायता के लिए जो व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं तथा उनका कार्य भी सैनिक प्रशासन के स्टाफ अभिकरण की भाँति मिलता–जुलता है। इसलिए इन्हें स्टाफ अभिकरण कहा जाता है।

1. सूत्र अभिकरण (Line Agencies)

सूत्र अभिकरण का सम्बन्ध नीति–निष्पादन से होता है। इनके हाथ में शक्ति होती है, जिसके आधार पर ये निर्णय ले सकते हैं। ये सरकार के प्राथमिक लक्ष्यों को पूरा करते हुए जनता से सीधा व्यवहार करते हैं। दूसरे शब्दों में लाइन अभिकरण उसको कहते हैं, जो संगठन के मुख्य कार्यपालन की आज्ञा को निरूपित करता है तथा सफलता के लिए प्रयास करता है।

एल.डी. व्हाइट के अनुसार, "सूत्र अभिकरण उन प्राथमिक उद्देश्यों से सम्बन्धित रहते हैं, जिनके लिए शासन स्थापित किया गया है।"

लेपावस्की के अनुसार, "सूत्र संगठन में सत्ता एवं उत्तरदायित्व की सेवाएँ ऊपर से नीचे तक फैली रहती है।"

सूत्र अभिकरण मुख्यतः तीन प्रकार के पाये जाते हैं:–

1. **विभाग** – रेलवे, कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा, संचार, परिवहन, डाक, गृह उद्योग तथा वाणिज्य इत्यादि।
2. **लोक निगम** – भारतीय रिजर्व बैंक, भारतीय जीवन बीमा निगम, दामोदर घाटी निगम, इण्डियन एयर लाइन्स, एयर इण्डिया इत्यादि।
3. **स्वतन्त्र संख्या** – अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान आदि।

विशेषताएँ तथा कार्य

1. सरकार के प्राथमिक उद्देश्यों को पूरा करना।
2. जनता से सीधा सम्पर्क तथा उन्हें सेवा उपलब्ध करना।
3. विधायिका द्वारा निर्धारित कार्यक्रम को पूरा करना।
4. अंतिम निर्णय लेना तथा आदेश प्रसारित करना।
5. यह मुख्य कार्यपालक के सीधा नियंत्रण में होता है।

विलोबी ने सूत्र अभिकरणों को प्राथमिक या कार्यात्मक नाम दिया है।

स्टाफ अभिकरण (Staff Agencies)

मुख्य कार्यकारी को सहायता, परामर्श तथा सूचना उपलब्ध करवाने वाले कर्मचारी स्टाफ अभिकरण में आते हैं, अर्थात् स्टाफ अभिकरण से अर्थ है उस कर्मचारी वर्ग से, जो शासन में प्राथमिक कार्यों को न करके द्वितीयक प्रकार के कार्य करते हैं। विभिन्न लेखकों ने अलग–अलग प्रकार से स्टाफ अभिकरण को परिभाषित किया है –

मुने के अनुसार – '' स्टाफ अभिकरण, मुख्य कार्यपालिका के व्यक्तित्व का ही विस्तार है, जो उसके लिए अधिक ऑखें, अधिक कान तथा अधिक हाथों का कार्य करते हैं, ताकि योजना–निर्माण और क्रियान्वयन में सहायता मिले।''

हेनरी फेयोल ने– स्टाफ अभिकरण को ''प्रबंध के विचारों का विस्तार'' बताया था।

प्रो. एल. डी. व्हाइट ने स्टाफ अभिकरण को '' उच्चाधिकारियों को परामर्श देने वाला अभिकरण माना है,'' जिनके क्रियात्मक दायित्व नहीं होते।

एक ब्रिटिश कहावत के अनुसार – ''स्टाफ सेवाएँ वे खच्चर हैं, जो युद्ध लड़ने वाले खच्चरों के लिए सामग्री ढोते हैं।''

इस प्रकार स्टाफ अभिकरण सूत्र अभिकरण को किसी भी नीति एवं योजना को बनाने एवं क्रियान्वित करने में सहायता देता है।

स्टाफ अभिकरण के प्रकार (Types of Staff)

फिफनर व प्रेस्थस के अनुसार, स्टाफ अभिकरण को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है –

1. **सामान्य स्टाफ** (General Staff)
2. **तकनीकी स्टाफ** (Technical Staff)
3. **सहायक स्टाफ** (Auxiliary Staff)

1. सामान्य स्टाफ –

सामान्य स्टाफ संगठन में उच्च स्तरीय अधिकारी को नीतिगत एवं प्रशासनिक समस्याओं पर सलाह देता है। उसके लिए तथ्यों को एकत्रित करता है, इसको प्रायः प्रशासकीय अनुभव होता है। फिफनर ने सामान्य स्टाफ को छलनी व कीप कहा है क्योंकि मुख्य कार्यपालिका के लिए आवश्यक तथ्यों को छलनी की भाँति ग्रहण करता है तथा आवश्यक सूचनाओं को कीप की तरह, उन्हीं चीजों को मुख्य कार्यपालिका के पास भेजता है। इसका उदाहरण है ,''यू. एस.ए. का राष्ट्रपति कार्यालय''। ब्रिटेन में 'राजकोष' सामान्य स्टाफ है। भारतवर्ष में मंत्रिमण्डल सचिवालय, योजना आयोग, प्रधानमंत्री का कार्यालय, राष्ट्रीय विकास परिषद्, मंत्रिमण्डलीय समितियॉ और वित्त मंत्रालय में बजट एवं आर्थिक मामलों का भाग, संघ लोक सेवा आयोग आदि सामान्य स्टाफ के उदाहरण हैं।

2. तकनीकी स्टाफ –

ये तकनीकी अधिकारी होते हैं। तकनीकी विषयों से संबंधित आवश्यक सहायता मुख्य कार्यपालिका को उपलब्ध करवाते हैं, क्योंकि मुख्य कार्यपालिका को सामान्य ज्ञान तो होता है, किन्तु तकनीकी ज्ञान का अभाव होने के कारण वर्तमान आधुनिक युग में तकनीकी सहायता की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार के स्टाफ में चिकित्सक, अभियन्ता, वित्तीय एवं व्यापारिक विशेषज्ञ, अणु वैज्ञानिक आदि आते हैं। ये विषय विशेषज्ञ अपने बहुमूल्य परामर्शों की सहायता से मुख्य कार्यपालिका के कार्यों को सुगम बना देते हैं।

3. सहायक स्टाफ –

ये सूत्र अभिकरणों के मुख्य कार्यों को करने में सहायता

देते हैं। ये विभागों की सेवा करते हैं किन्तु किसी विभाग से इनका सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् इनकी सेवा प्रधान न होकर गौण है। सरकारी विभागों को कुछ वस्तुओं की आवश्यकता होती है। कार्यालय में फर्नीचर, भवनों की देखभाल, सामान खरीद, कागज, मुद्रण आदि। ये सभी विभागों में एक जैसी होती हैं, इसलिए इसे सहायक स्टाफ कहते हैं। सहायक स्टाफ को विलोबी ने 'संस्थात्मक' या 'गृहपालक क्रियाएँ नाम दिया है। जबकि एल.डी. व्हाइट ने इन्हें सहायक अभिकरण कहा है।

स्टाफ अभिकरणों के कार्य
(Functions of Staff Agencies)

फिफनर और प्रेस्थस ने स्टाफ के निम्नांकित कार्य बताए हैं –

1. मुख्य अधिकारी को सहायता प्रदान करना।
2. मुख्य अधिकारी एवं सूत्र को आवश्यकतानुसार सलाह देना।
3. समन्वय करना केवल योजनाओं के द्वारा नहीं, वरन् व्यक्ति–सम्पर्क के द्वारा।
4. मुख्य कार्यपालिका की समस्याओं से संबंधित हल के लिए तथ्यों का संग्रह एवं शोध कार्य।
5. कभी–कभी सूत्र अधिकारी द्वारा सत्ता प्रत्यायोजित की जाती है, उसका निश्चित सीमाओं के भीतर उपयोग।

मूने के अनुसार, स्टाफ मुख्य रूप से तीन प्रकार के कार्य सम्पन्न करता है जो निम्नलिखित हैं –

1. सूचनात्मक –

स्टाफ का सूचना सम्बन्धी कार्य यह है कि यह मुख्य कार्यपालिका के लिए उन समस्त सूचनाओं को एकत्र करता है, जिनके आधार पर वह निर्णय लेता है। एकत्रित सूचना को व्यवस्थित और संक्षिप्त रूप देना होता है, और उसे एक सुविधाजनक स्वरूप में मुख्य कार्यपालिका के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

2. परामर्शकारी –

इस कार्य के अन्तर्गत स्टाफ इस बात की सलाह देता है कि मुख्य कार्यपालिका को किस प्रकार के निश्चय पर पहुँचना चाहिए। किसी भी निश्चय की अच्छाई एवं बुराई की विवेचना कर सही निश्चय पर पहुँचने में स्टाफ मुख्य कार्यपालिका की सहायता करता है।

3. निरीक्षणात्मक –

इन कार्यों के अन्तर्गत स्टाफ इस बात पर ध्यान देता है कि मुख्य कार्यपालिका की योजनानुसार कार्य का सम्पादन एवं संचालन होता है या नहीं। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि सूत्र अभिकरण स्टाफ के निर्देश या आदेश को गलत समझ बैठते हैं, ऐसी स्थिति में यह स्टाफ का कार्य है कि मुख्य कार्यपालिका की योजना एवं उसके निर्देश का सही अर्थ सूत्र को बताए।

सूत्र एवं स्टाफ अभिकरण में अन्तर
(Difference between Line and Staff Agency)

संगठन में सूत्र एवं स्टाफ में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है, क्योंकि जटिल होते संगठन, लोक कल्याणकारी राज्य के बढ़ते दायित्व तथा तकनीकी योग्यताओं के प्रसार ने प्रशासनिक संगठनों का स्वरूप परिवर्तित कर दिया है।

इनके संबंध में फिफनर तथा प्रेस्थस ने कहा है ''सामान्यतः स्टाफ और लाइन में वही अन्तर है, जो प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कार्मिकों के मध्य होता है।'' लाइन प्रत्यक्ष है तथा स्टाफ अप्रत्यक्ष।

:–सूत्र अभिकरण एवं स्टाफ अभिकरण में अन्तरः–

क्र.सं.	सूत्र अभिकरण	स्टाफ अभिकरण
1.	सरकार के प्राथमिक दायित्वों की पूर्ति करते हैं।	स्टाफ अभिकरण सरकार के द्वितीयक दायित्वों की पूर्ति करते हैं।
2.	सूत्र अभिकरणों को निर्णय लेने, आदेश, निर्देश तथा नियंत्रण करने का अधिकार होता है।	स्टाफ अभिकरणों के अधिकार एवं शक्तियां न के बराबर होती हैं लेकिन प्रभावकारी अवश्य होते हैं।
3.	सूत्र अभिकरण प्रत्यक्षतः जनता से जुड़े रहते हैं।	स्टाफ अभिकरण जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं आते बल्कि पर्दे के पीछे कार्य करते हैं।
4.	सूत्र अभिकरण निर्णय लेते हैं एवं उन्हें लागू करते हैं।	स्टाफ अभिकरण अनुसंधान, परामर्श, तथ्यों तथा विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम से सूत्र अभिकरणों को निर्णय में सहायता करते हैं।
5.	सूत्र अभिकरण पर मुख्य कार्यपालिका का सीधा नियंत्रण होता है।	स्टाफ अभिकरण, सूत्र अभिकरणों की पंक्ति में नहीं, बल्कि समानान्तर कहीं जुड़े रहते हैं, अतः सीधे नियंत्रण में नहीं होते हैं।
6.	नीतियों एवं कार्यक्रमों के संचालन की जिम्मेदारी उठाते हैं।	इनके कार्यकारी दायित्व नहीं होते हैं। सूत्र अभिकरणों के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता करते है।
7.	सूत्र अभिकरण संगठन से प्रत्यक्ष जुड़े रहते हैं।	स्टाफ अभिकरण संगठन से अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित रहते हैं।

सूत्र तथा स्टाफ अभिकरण के पारस्परिक सम्बन्ध :–

वर्तमान में प्रशासन की एक जटिल समस्या स्टाफ व सूत्र के मध्य सौहार्द्र एवं मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना है। यह देखा गया है कि स्टाफ अभिकरण के कर्मचारी सामान्यतः अपने तकनीकी अनुभवों के कारण सीधे उच्च अधिकारियों के सम्पर्क में रहते हैं, तो वे अपने आपको उच्च समझने लगते हैं और लाइन कर्मचारी सत्ता युक्त होने से सत्ता के मद में रहते हैं, अर्थात् दोनों एक–दूसरे की उपेक्षा करते हैं। दोनों में श्रेष्ठता की होड़ रहती है। इससे संघर्ष की स्थिति बनी रहती है।

इस समस्या के समाधान के दो उपाय हैं। प्रथम, दोनों को अपने कार्यों की मर्यादा एवं सीमा को समझना चाहिए तथा व्यक्तिगत हित के स्थान पर सांगठनिक हितों को प्राथमिकता देनी चाहिए। दूसरा, सूत्र और स्टाफ अधिकारियों के पदों का पारस्परिक विनिमय और स्थानान्तरण है, जिससे उन्हें एक दूसरे की समस्याएँ और कठिनाइयाँ अनुभव होती रहें। इससे विरोध ा की भावना कम होगी।

केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण

(Centralisation and Decentralisation)

केन्द्रीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and definition of Centralisation)

जब संगठन में नीति निर्धारण और निर्णय लेने की शक्तियाँ एक स्थान पर, प्रायः संगठन के सर्वोच्च शिखर पर, निहित होती हैं, तो उस स्थिति को केन्द्रीकरण की संज्ञा दी जाती है। यह संगठन में प्रत्यायोजन के पूर्णतः विपरीत अवस्था है। प्रबंध और प्रशासन का लगभग पूर्ण दायित्व सर्वोच्च अधिकारियों के हाथ में होने पर उसे केन्द्रीकरण कहा जाता है। केन्द्रीकृत स्थिति में नीचे के स्तर पर कार्यरत अधिकारी हर छोटे–बड़े निर्णय के लिए उच्च अधिकारियों पर निर्भर करते हैं। ऐसी स्थिति में क्षेत्रीय इकाइयॉ भी निर्णय लेने की स्थिति में नहीं होती।

ये क्षेत्रीय इकाइयाँ पूर्णतः उच्च प्रबंधकों पर आश्रित रहती हैं। प्रत्यायोजन का नियंत्रित एवं सीमित प्रयोग ही केन्द्रीकरण है।

परिभाषाऍं (Definition)

विभिन्न विद्वानों ने केन्द्रीकरण की परिभाषाऍं दी है जो निम्नलिखित हैं–

एल. डी. व्हाइट के अनुसार – ''प्रशासन के निम्न तल से उच्च तल की ओर प्रशासकीय सत्ता के हस्तान्तरण की प्रक्रिया को केन्द्रीकरण कहते हैं।''

हेनरी फेयोल के अनुसार – ''अधीनस्थों की भूमिका को कम करने के लिए जो भी कदम उठाये जाते हैं, वे सब केन्द्रीकरण के अन्तर्गत आते हैं।''

लुइस ए. ऐलन के अनुसार – ''केन्द्रीकरण से आशय है कि किए जाने वाले कार्य के संबंध में अधिकांश निर्णय उन व्यक्तियों द्वारा नहीं लिए जाते हैं जो कि कार्य कर रहे हैं, अपितु संगठन में एक उच्च स्तर बिन्दु पर लिए जाते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है, कि संगठन की सम्पूर्ण शक्तियाँ उच्चतम स्तर या उच्च अधिकारी में निहित होती हैं।

केन्द्रीकरण के गुण या लाभ

(Marits of Centralisation) :-

1. केन्द्रीकरण व्यक्तिगत नेतृत्व को अधिक समर्थ बनाता है। एक व्यक्ति का नियंत्रण अपनी कुशलता, अनुभव और प्रतिभा के कारण संगठन की कार्यकुशलता में वृद्धि कर सकता है।
2. केन्द्रीकृत शासन में राष्ट्रीय हित सर्वोपरि होते हैं।
3. केन्द्रीकृत व्यवस्था में एक ही अधिकारी के पास निर्णय के अधिकार होने से संगठन की समस्त क्रियाओं में एकरूपता बनी रहती है।
4. कुशल प्रशासन की स्थापना के लिए एकीकृत व्यवस्था श्रेष्ठ मानी जाती है एवं केन्द्रीकृत संगठन में एकीकरण सरल होता है।
5. नियंत्रण कठोर होने के कारण केन्द्रीकरण में भ्रष्टाचार की कम संभावना होती है।

केन्द्रीकरण के दोष

(Demerits of Centralisation)

1. केन्द्रीकृत प्रशासन को क्षेत्रीय समस्याओं का पूर्ण ज्ञान नहीं होता, अतः एकरूपता पर आवश्यकता से अधिक बल देने से प्रशासनिक कुशलता में कमी आने लगती है।
2. कर्मचारियों में पहलपन की क्षमता का विकास नहीं हो पाता है।

3. संगठन के कर्मचारियों के व्यावहारिक ज्ञान का लाभ प्राप्त नहीं हो पाता है।
4. केन्द्रीकृत व्यवस्था में एक ही स्थान पर कार्यों का अधिक भार होने के कारण अकुशलता को बढ़ावा मिलता है।
5. जनता और प्रशासन के सहयोग को प्रोत्साहन नहीं मिलता है।
6. प्रशासन लचीला न होकर कठोर हो जाता है।

विकेन्द्रीकरण का अर्थ एवं परिभाषाएँ

(Meaning and Definitions of Decentralisation)

विकेन्द्रीकरण सत्ता के हस्तान्तरण या प्रत्यायोजन का ही विकसित रूप है। जब किसी उच्च अधिकारी के द्वारा अधीनस्थ कर्मचारी को अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में अधिकारों का हस्तान्तरण किया जाता है, तो वह विकेन्द्रीकरण कहलाता है अथवा किसी संगठन में जब निर्णय लेने की शक्तियाँ एक स्थान की बजाए अन्य समस्त स्थानों पर निहित होती हैं, तो उस व्यवस्था को विकेन्द्रीकरण की संज्ञा दी जाती है। यह व्यवस्था आज की लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं के लिए अति आवश्यक है। इसके अन्तर्गत उच्च सत्ता द्वारा अपने कुछ अधिकार व्यवस्थित रूप से निम्न सत्ता को सौंपे जाते हैं, जिनका प्रयोग करने के लिए वे स्वतंत्र होते हैं।

परिभाषाएँ (Definition) :-

लुईस ए. ऐलन के अनुसार – "विकेन्द्रीकरण कार्य निष्पादन के स्तरों पर व्यवस्थित एवं स्थायी रूप से अधिकारों का प्रत्यायोजन है।"

एल.डी. व्हाइट के अनुसार – " उच्च स्तर से निम्न स्तर को अधिकारों का हस्तान्तरण, विकेन्द्रीकरण कहलाता है।"

जे.सी. चार्ल्सवर्थ के अनुसार – "विकेन्द्रीकरण का प्रमुख तत्त्व निर्णय–निर्धारण संबंधी कार्यों का प्रत्यायोजन है।"

हेनरी फेयोल के अनुसार – "जिससे अधीनस्थों के महत्त्व में वृद्धि हो, वह विकेन्द्रीकरण होता है तथा जो अधीनस्थों के महत्त्व को घटाये, वह केन्द्रीकरण कहलाता है।"

विकेन्द्रीकरण के निम्नलिखित पाँच पक्ष हैं –

1. अधीनस्थों को स्वेच्छा से कार्य करने तथा निर्णय लेने की पर्याप्त शक्तियों का हस्तान्तरण।
2. संगठन की व्यक्तिगत इकाइयों को अधिक शक्ति सौंपी जाए।
3. निर्वाचित संस्थाओं को अधिक शक्ति सौंपी जाए तथा प्रशासनिक कार्यों में जन सहयोग लिया जावे।
4. जनता के निकट तथा मुख्यालय से दूर स्वतंत्र क्षेत्रीय इकाइयों की स्थापना की जाए।
5. कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विभागों को स्वायत्तता दी जाए।

विकेन्द्रीकरण के गुण या लाभ

(Merits of Decentralisation)

1. उच्चाधिकारियों के कार्यभार में कमी करता है– विकेन्द्रित व्यवस्था उच्चाधिकारियों को छोटे–छोटे कार्यों से मुक्त रखती है। इससे उनका कार्यभार कम हो जाता है। परिणामस्वरूप गंभीर मामलों पर पूरा ध्यान केन्द्रित करने का उन्हें अवसर मिलता है।

2. युवाओं को प्रेरणा – संगठन में युवाओं को विकेन्द्रित व्यवस्था कुछ कर दिखाने का अवसर देती है। उन्हें निर्णय लेने के अनेक अवसर मिलते हैं। इससे उनमें कार्य के प्रति रुचि जागृत होती है तथा उत्साह और प्रेरणा का संचार होता है।

3. विविधिकरण का लाभ – संगठन में अलग–अलग प्रकृति के कार्यों के लिए अलग–अलग उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करके उन्हें जिम्मेदारियॉ सौंप दी जाती हैं। इस कारण विकेन्द्रित व्यवस्था में संगठन को विविधिकरण का लाभ प्राप्त होता रहता है।

4. प्रेरणा एवं मनोबल में वृद्धि – इस व्यवस्था में सभी कर्मचारियों को अपनी अधिकतम कुशलता प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है। कर्मचारियों को इससे प्रेरणा मिलती है और उनका मनोबल बढ़ता है।

5. सन्देशवाहन का कार्य आसान विकेन्द्रीकरण से संगठन में सन्देश वाहन का कार्य आसान हो जाता है।

6. योग्य प्रशासकों की प्राप्ति का स्त्रोत – इस व्यवस्था में संगठन में अनेक लोगों को प्रशासन में हिस्सा लेने के अवसर मिलते हैं और निर्णय में अहम् भूमिका निभाते है । यह व्यवस्था प्रशिक्षण का काम करती है और धीरे–धीरे योग्य प्रशासकों की उपलब्धि का अच्छा स्त्रोत बन जाती है।

7. विविध लाभ (i) **प्रभावी नियंत्रण में सहायता,** (ii) **शीघ्र कार्य निष्पादन,** (iii) **उद्देश्यानुसार प्रशासन एवं प्रबंध को अपनाया जा सकता है,** (iv) **कार्मिकों के मध्य अनौपचारिक संबंधों का विकास,** (v) **समन्वय सुगम,** (vi) **श्रेष्ठ निर्णयन,** (vii) **नवीन सुझावों, विचारों और पद्धतियों का समावेश,** (viii) **प्रभावी पर्यवेक्षण।**

विकेन्द्रीकरण के दोष

(Demerit of Decentralisation):-

1. किसी भी प्रशासनिक संगठन में पूर्ण विकेन्द्रीकरण कभी संभव ही नहीं होता है।
2. विकेन्द्रीकरण की स्थिति में संगठन के विशेषज्ञों और योग्य कार्मिक की दोहरी व्यवस्था करनी पड़ती है, जिस कारण प्रशासनिक व्यय में वृद्धि होती है।
3. अधिक विकेन्द्रीकरण से विशिष्टीकरण के लाभों में कमी आती है।
4. विकेन्द्रीकरण से प्रशासनिक संगठन में कार्यों का दोहराव होने की पूरी संभावना रहती है।
5. विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में उच्च अधिकारियों का प्रभाव कम हो जाता है।
6. अनेक अवसरों पर प्रशासन में विकेन्द्रीकरण के कारण संगठन की नीतियों आदि में भिन्नता आ जाती है, जो कि संगठन के भविष्य के लिए अहितकर होती है।

केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण में अन्तर

(Difference between Centralisation and Decentralisation)

क्र.सं.	केन्द्रीकरण	विकेन्द्रीकरण
1.	सत्ता उच्च स्तर पर एक स्थान पर केन्द्रित रहती है।	इसमें सत्ता का प्रत्यायोजन अधीनस्थों को कर दिया जाता है।
2.	यह परम्परावाद तथा कठोरता की परिचायक है।	यह आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों तथा लोचशीलता की परिचायक है
3.	अधीनस्थों तथा जनता के सहयोग में कम विश्वास करती है।	अधीनस्थों तथा जनता के सहयोग पर निर्भर करती है।
4.	रक्षा, निवेश, नियोजन, वित्त, लेखांकन क्षेत्रों में अधिक पाई जाती है।	सामाजिक सेवाओं, जनकल्याण तथा सामान्य विषयों में अधिक होती है।
5.	नीति, कानून, कार्यक्रम तथा महत्वपूर्ण निर्णय उच्च स्तर पर होते हैं।	अधिकांश निर्णय अधीनस्थ या क्षेत्रीय इकाइयाँ करती हैं।

केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण दोनों में गुण और दोष विद्यमान हैं। एक तरफ नियोजन, अर्थव्यवस्था एवं सशक्त तथा प्रभावशाली प्रतिरक्षा और राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता, केन्द्रीकरण पर बल देती है, जबकि दूसरी ओर जनसहयोग की बढ़ती माँग, विकेन्द्रीकरण का समर्थन करती है। यही मुख्य कारण है जिससे किसी देश में न तो पूर्ण केन्द्रीकरण अपनाया जाता है और न ही विशुद्ध विकेन्द्रीकरण। भारत में योजना आयोग केन्द्रीकरण का उदाहरण है तथा पंचायती राज विकेन्द्रीकरण का उदाहरण है।

केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण

(Centralization Vs Decentralization)

इन दोनों के मध्य सैद्धान्तिक द्वन्द्व है, वास्तविकता तो यह है कि दोनों ही अवधारणाएँ शासन में उपयोगी हैं। जहाँ केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति परम्परावाद की परिचायक है, वहीं विकेन्द्रीकरण आधुनिकता तथा लोकतांत्रिक मूल्यों से स्नेह रखने वाली पद्धति है।

वस्तुतः इन दोनों का केन्द्र बिन्दु सत्ता है। वास्तव में केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण सत्ता के दो छोर हैं। इसलिए यह सापेक्ष है, अतः इनमें से किसी एक पर आधारित संगठन अधूरा है अर्थात् दोनों अवधारणाएँ मिलकर ही संगठन में स्थिरता, और जवाबदेयता ला सकती हैं।

जेम्स डब्ल्यू. फेसलर ने इन दोनों को अपनाने के लिए चार तत्त्वों का वर्णन किया है, जो हैं– उत्तरदायित्व तथा प्रशासनिक तत्व कार्यात्मक तत्त्व एवं बाह्य तत्त्व। उत्तरदायित्व तत्त्व सत्ता हस्तान्तरण पर रोक लगाता है। प्रशासनिक तत्त्व के अन्तर्गत संगठन के काल से संबंधित अर्थात् संगठन पुराना है, तो विकेन्द्रीकरण सरलता से तथा कार्यात्मक तत्त्वों में संगठन द्वारा सम्पादित होने वाले कार्य माने जाते हैं। बहुआयामी तथा तकनीकी प्रकृति के कार्यों वाले संगठनों में विकेन्द्रीकरण आवश्यक हो जाता है। बाह्य तत्वों में संगठन का पर्यावरण, सामाजिक, आर्थिक, राजनीति तथा भौगोलिक दशाएँ सम्मिलित हैं।

वस्तुतः विकेन्द्रीकरण की बढ़ती माँग की पृष्ठभूमि में शिक्षा एवं चेतना का प्रसार, लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना, विकास–प्रशासन की अवधारणा का जन्म, लोक कल्याणकारी

राज्य का उदय, विशेषज्ञों में वृद्धि, अधिकारों की चाह तथा विकास के प्रति जनता की रुचि इत्यादि प्रमुख हैं। हमारे देश में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में अनेक प्रयास हो रहे हैं, जैसे पंचायती राज संस्थाएँ।

पिफनर एवं शेरवुड का कहना है कि विकेन्द्रीकरण को सदैव एक ऐसे संघर्ष का सामना करना पड़ेगा, जो समन्वय के पक्षधर को करना पड़ता है अर्थात् संगठन की ऐसी पद्धति अपनाई जानी चाहिए जिससे जनसहयोग अधिकाधिक प्राप्त हो । इसके लिए लक्ष्यों की प्राप्ति को सरल बनाने के लिए संगठन में विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, स्वायत्तता, कुशलता तथा प्रशासनिक कार्यों के शीघ्र सम्पादन के नाम पर किया जाने वाला विकेन्द्रीकरण कई गुणों जैसे जन भावनाओं के अनुकूल लोकतांत्रिक मूल्यों का प्रसार, कार्य का शीघ्र निस्तारण, लोचशीलता, नवाचारों को प्रोत्साहन, आत्मविश्वास में वृद्धि, नीति एवं कियान्वयन में सामंजस्य आदि से परिपूर्ण है।

जहाँ यह लोकतांत्रिक स्वरूप तथा कुशलता से सम्बद्ध है, वहीं इसमें कुछ दोष भी हैं। शासन व्यवस्था का पूर्ण विकेन्द्रीकरण संभव नहीं है क्योंकि इससे संगठन के नियंत्रण एवं समन्वय में बाध ाएँ उत्पन्न हो जाएंगी। प्रत्येक इकाई अपने ढंग से नीति, कानून व कार्यक्रम बनाएगी अर्थात् इससे एकरूपता का अभाव उत्पन्न हो जायेगा । वस्तुतः प्रशासन में किसे महत्त्वपूर्ण माना जाए केन्द्रीकरण को या विकेन्द्रीकरण को इस संदर्भ में विलोबी का निष्कर्ष सही है :–

''इन दोनों में से किसी एक अवधारणा को सामान्यीकृत नहीं किया जा सकता, बल्कि यह सब किए जाने वाले कार्य की प्रकृति तथा अन्य विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करेगा कि कौनसी व्यवस्था किसके लिए उपयुक्त है।''

प्रत्यायोजन (Deligation)

किसी भी संगठन की स्थापना करते समय उसके समस्त कार्यों और उत्तरदायित्वों का समावेश मुख्य कार्यपालिका में निहित कर दिया जाता है। मुख्य कार्यपालिका यद्यपि कार्य विभाजन के आधार पर इकाइयों और उप–इकाइयों का गठन तो करती है, किन्तु संगठन के प्रत्येक स्तर पर यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक स्तर पर आबंटित समस्त कार्य करने में अधिकारी सक्षम हो। प्रशासन के लगातार बढ़ते उत्तरदायित्व एवं कार्यों तथा कार्यो की तकनीकी कृति ने कार्य निष्पादन को अत्यंत कठिन बना दिया है। प्रत्येक मानव की कार्य निष्पादन की एक निश्चित सीमा और क्षमता होती है। उससे आगे वह कार्य निष्पादित नहीं कर सकता। किन्तु सांगठनिक ढांचे में कार्य निष्पादन अति आवश्यक है, अतः उसे यह सुविधा तो होनी चाहिए कि कार्य को समय पर सम्पादित करने हेतु वह अपने कार्य अथवा कार्य के किसी भी हिस्से अथवा भाग को दूसरों को हस्तान्तरित कर सके। इससे कार्य निष्पादन सुविधाजनक बन जाता है, इसी का नाम प्रत्यायोजन है। प्रत्यायोजन के सिद्धान्त को कई नामों से जाना जाता है यथा– कार्यों का हस्तांतरण, भारार्पण आदि ।

प्रत्यायोजन का अर्थ एवं परिभाषाएँ

(Meaning and definition of Delegation)

प्रत्यायोजन अंग्रेजी शब्द 'Delegation' का हिन्दी रूपान्तरण है, जिसका मूल शब्द 'Delegare' है, जिसका अर्थ होता है, मनोनीत व्यक्ति अथवा दूसरों के विचारों या दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए अधिकृत व्यक्ति।

इस प्रकार प्रत्यायोजन वह क्रिया है, जिसके माध्यम से कोई भी व्यक्ति अपने कार्यों के लिए दूसरों को अधिकृत कर सकता है।

शास्त्रीय युग में प्रत्यायोजन का अर्थ, किसी उच्चाधिकारी द्वारा अधीनस्थ को सत्ता के हस्तांतरण से लगाया जाता था। यह हस्तांतरण सदैव के लिए नहीं होता था। केवल कार्य को समय पर सम्पादित करने हेतु इसका उपयोग किया जाता रहा है। यही कारण है कि मूने ने जब प्रत्यायोजन को परिभाषित किया तो उन्होंने अभिव्यक्त किया कि "उच्चाधिकारी द्वारा निम्न को विशिष्ट सत्ता का हस्तांतरण, प्रत्यायोजन कहलाता है।" किन्तु नव शास्त्रीय युग में टैरी ने इस परिभाषा को थोड़ा व्यापक बनाते हुए स्पष्ट किया कि "एक कार्यपालिका अथवा संगठन की किसी एक इकाई से दूसरे को सत्ता प्रदान करना प्रत्यायोजन है।" उन्होंने इस परिभाषा को व्यापक इसलिए बनाया कि प्रत्यायोजन सदैव उच्चाधिकारी द्वारा अधीनस्थ को ही नहीं होता, बल्कि कई बार यह अधीनस्थ द्वारा उच्च को तथा समकक्षों के बीच भी होता है। नवशास्त्रीय युग में प्रत्यायोजन को और अधिक व्यापक बनाया गया तथा इसकी परिभाषाएँ भी व्यापक बनाई। प्रत्यायोजन की विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :–

मिलेट–"सत्ता के प्रत्यायोजन का अर्थ दूसरों को केवल कर्त्तव्य सौंपने से कुछ अधिक होता है। प्रत्यायोजन का अर्थ दूसरों को अधिकार सौंपना है, ताकि वे व्यक्ति अपने कर्त्तव्य सम्बन्धी विशिष्ट समस्याओं को सुलझाने में अपने निर्णय का प्रयोग कर सकें।"

एफ.जी.मूरे के अनुसार "प्रत्यायोजन का अर्थ अन्य व्यक्तियों को कार्य का वितरण करना है और उसे करने हेतु अधिकार प्रदान करना हैं।"

हेमेन के अनुसार "अधिकार सत्ता के प्रत्यायोजन का अर्थ अधीनस्थों को निर्धारित सीमाओं में कार्य करने हेतु अधिकार प्रदान करने से है।"

डगलस सी.बसिल का कहना है कि "प्रत्यायोजन में अधिकार प्रदान करना या कुछ परिभाषित क्षेत्रों में निर्णयन का अधिकार तथा सौंपे गये कार्यों की निष्पत्ति के लिए अधीनस्थों को उत्तरदायी बनाना सम्मिलित है।"

टिक्सबर्ग का मत है कि "जब संगठन के कुछ कार्य तथा इन कार्यों के संचालन हेतु आवश्यक अधिकार, एक या अधिक अधीनस्थ व्यक्तियों को सौंपे जाते हैं तो इसे प्रत्यायोजन कहते हैं।"

जॉर्ज आर.टैरी ने प्रत्यायोजन की प्रक्रिया को व्यापक अर्थो में वर्णित किया है, उसके अनुसार "प्रत्यायोजन का अर्थ है–संगठन की एक इकाई से दूसरी इकाई या एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को अधिकार सौंप देना।"

उपर्युक्त परिभाषाओं को यदि विश्लेषित किया जाए तो प्रत्यायोजन की सर्वमान्य परिभाषा यह उभर कर आती है कि निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक सांगठनिक इकाई द्वारा दूसरी इकाई को कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्व एवं सत्ता का हस्तान्तरण, प्रत्यायोजन कहलाता है।

प्रत्यायोजन की विशेषताएँ
(Features of Delegation)

विभिन्न विद्वानों द्वारा जिस रूप में प्रत्यायोजन को परिभाषित और विश्लेषित किया गया है, उसके आधार पर प्रत्यायोजन की विशेषताओं को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है–

1. प्रत्यायोजन एक सांगठनिक इकाई द्वारा दूसरी सांगठनिक अथवा सांगठनोत्तर इकाई को नीति, नियम एवं विनियम द्वारा निर्धारित सीमाओं में कार्य करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है।
2. प्रत्यायोजन का दोहरा स्वरूप होता है। प्रत्यायोजन अपने कार्य एवं अधिकार सौंपता अवश्य है किन्तु बहुत से अधिकार अपने पास भी रखता है। इसलिए टैरी ने उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया कि "जब आप दूसरे के साथ ज्ञान बाँटते हैं तब ज्ञान उन्हें तो मिलता है लेकिन आपके पास भी ज्ञान रहता है।''
3. प्रत्यायोजन के दो पक्ष होते हैं– (1) प्रत्यायोजक (Delegator) जो अपने कार्य का हस्तांतरण दूसरों को करता है (2) प्रत्यायोजी (Delegater) जो दूसरों द्वारा हस्तांतरित कार्यों को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह प्रत्यायोजक एवं प्रत्यायोजी के बीच की अनुक्रिया है।
4. प्रत्यायोजन में परिवर्तन का तत्त्व भी निहित होता है। प्रत्यायोजित कार्य को घटाया–बढ़ाया या पुनः वापिस लिया जा सकता है।
5. सांगठनिक उद्देश्य भी प्रत्यायोजन का प्रमुख आधार होते हैं अर्थात् प्रत्यायोजन सदैव सांगठनिक उद्देश्यों की दिशा में ही किया जाता है।
6. प्रत्यायोजन में हस्तांतरित कार्यों, सत्ता एवं उत्तरदायित्वों की निश्चितता होती है।
7. प्रत्यायोजन आदेश की एकता के सिद्धान्त को विलुप्त नहीं करता।
8. प्रत्यायोजन में कोई भी व्यक्ति सभी कार्यों का प्रत्यायोजन नहीं कर सकता अर्थात प्रत्यायोजन आंशिक होता है।
9. प्रत्यायोजन उत्तरदायित्व को दो भागों में 'विभाजित करता है – अन्तिम उत्तरदायित्व और क्रियात्मक उत्तरदायित्व।
10. प्रत्यायोजन में केवल क्रियात्मक उत्तरदायित्व का हस्तांतरण होता है अन्तिम उत्तरदायित्व का नहीं, अन्तिम उत्तरदायित्व तो प्रत्यायोजन करने वाले का होता है।

प्रत्यायोजन के तत्व तथा प्रक्रिया
(Elements and Process of Delegation)

प्रत्यायोजन में प्रत्यायोजन की एक निश्चित प्रक्रिया होती है, जिसमें सर्वप्रथम प्रत्यायोजी को कार्य अथवा कर्त्तव्यों का

हस्तांतरण किया जाता है तत्पश्चात् कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने हेतु निश्चित सत्ता सौंपी जाती है। सत्ता का उपयोग कर्त्तव्य सम्पादन हेतु ही किया जाए इसलिए प्रत्यायोजी का उत्तरदायित्व भी निश्चित किया जाता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रत्यायोजन में तीन तत्वों की प्रधानता होती है:

1. कार्य अथवा कर्त्तव्य
2. सत्ता का हस्तांतरण
3. उत्तरदायित्व सौपना ।

प्रत्यायोजन की आवश्यकता और महत्त्व

(Need and Importance of Delegation)

सामान्यतः संगठन में अपेक्षा यह की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आबंटित कार्यों को समय पर सम्पादित करे किन्तु अनेक कारणों से आज प्रत्यायोजन आवश्यक बन गया है जिसके निम्नलिखित कारण हैं –

1. उच्चाधिकारियों के संचालकीय कार्यों में कमी

अधिकारों का प्रत्यायोजन करने से सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे उच्चाधिकारियों को संचालकीय कार्यों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यदि उच्चाधिकारी संस्था के छोटे–छोटे कार्यों को करने में ही अपना समय व्यय कर रहे हैं तो नीति निर्धारण करने, नियोजन करने तथा समन्वय और नियंत्रण करने जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों को वे कैसे पूरा करेंगे।

2. संस्था की कार्यकुशलता में वृद्धि

प्रत्यायोजन से सभी अधिकारों के बँट जाने से कार्य भी बँट जाते हैं। विशेषज्ञों की सेवा भी प्राप्त हो जाती है तथा कम समय में काम भी पूरा हो जाता है इसके परिणामस्वरूप संस्था की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

3. कार्य की मात्रा में अभिवृद्धि एवं मानवीय क्षमताएँ

प्रशासनिक कार्यों में उत्तरोतर वृद्धि हो रही है तथा निरन्तर संगठन में कार्यरत कर्मचारियों के कार्यों में वृद्धि उनके कार्य निष्पादन को प्रभावित करती है। चूँकि संगठन में कार्यरत व्यक्ति के कार्य निष्पादन की निश्चित सीमाएँ होती हैं उससे आगे कार्य निष्पादन सम्भव नहीं है परिणामस्वरूप उसके लिए अपने कार्यों का दूसरों को हस्तांतरण आवश्यक बन जाता है ।

4. कार्यात्मक प्रक्रियाओं की जटिलता एवं विशिष्टीकरण की आवश्यकता

आज के तकनीकी युग में कार्यों की प्रकृति अधिक जटिल बनती जा रही है जो विशिष्टीकरण के आधार पर कार्य सम्पादन में प्रवृत्त करती है।

5. समय की बचत

प्रत्यायोजन के द्वारा कोई कर्मचारी अपने कार्य को दूसरों को हस्तांतरित कर अपने कार्य अवधि का बचाव कर सकता है। उच्चस्तर पर इस प्रकार संचित समय को नीति–निर्माण एवं नियोजन में लगाया जा सकता है जिससे संगठन लाभान्वित होता है।

6. मनोबल में वृद्धि

प्रत्यायोजन कर्मचारियों के मनोबल में वृद्धि भी करता है, क्योंकि इससे अधीनस्थों की स्थिति में सुधार होता है तथा उनके द्वारा सम्पादित कार्य को महत्त्व मिलने लगता है जिससे अंततः कार्मिकों को कार्य सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

7. शैक्षणिक महत्त्व

प्रत्यायोजन का शैक्षणिक महत्त्व है क्योंकि यह उत्तरदायित्व में भागीदारी के अवसर प्रदान करता है।

8. प्रबन्धकीय विकास

आज का अधीनस्थ कल का उत्तराधिकारी भी हो सकता है। इस दृष्टि से देखें तो प्रत्यायोजन अधीनस्थों को विवेक के अनुसार कार्य करने के अवसर प्रदान करता है जिससे भावी उत्तरदायित्वों के निर्वहन में सहायता मिलती है।

9. विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र

आधुनिक संगठन देश की सीमाओं को लाँघकर अन्तर्राष्ट्रीय आधार ग्रहण कर चुके हैं। संगठन के इस फैलते आकार ने प्रत्यायोजन को आवश्यक बना दिया है क्योंकि हर क्षेत्र की भौगोलिक भिन्नताएँ होती हैं और प्रत्यायोजन इस पर्यावरणीय परिपेक्ष्य में प्रशासकों को निर्णय लेने में सक्षम बनाता है।

10. लचीलापन एवं शीघ्रता

आज के युग में वही संगठन प्रगतिशील एवं जीवित रह सकता है जो परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप अपने आप को

बदलने की क्षमता रखता है। प्रत्यायोजन यह सुविधा प्रदान करता है।

11. कार्यकुशलता एवं मितव्ययता

प्रत्यायोजन सत्ता एवं कार्य के उत्तरदायित्व के विभाजन से आवश्यक व्यय पर नियंत्रण स्थापित कर मितव्ययता को बढ़ावा देता है।

12. उत्तराधिकार में सहायक

प्रत्यायोजन उत्तराधिकारी स्थापित करने में भी सहायक है क्योंकि प्रत्यायोजन के द्वारा प्रशासक भावी उत्तरदायित्वों के निर्वहन में पहले से प्रशिक्षित होता है।

प्रत्यायोजन के प्रकार (Types of Delegation)

1. स्थायी और अस्थायी प्रत्यायोजन (Permanent and Temporary Delegation):–

जब किसी अधीनस्थ व्यक्ति या इकाई को स्थायीरूप में सत्ता एवं कार्य दे दिये जाते हैं तो स्थायी प्रत्यायोजन कहलाता है। सामान्य परिस्थितियों तथा कुशल कार्य संचालन की स्थिति में स्थायी प्रत्यायोजन भी हो सकता है। लेकिन जब किसी को कुछ समय के लिए प्रत्यायोजन किया जाता है तथा वापस ले लिया जाता है तो वह अस्थायी प्रत्यायोजन कहलाता है।

2. पूर्ण तथा आंशिक प्रत्यायोजन (Full and Partial Delegation)

पूर्ण प्रत्यायोजन वह होता है, जिसमें कोई शर्त नहीं होती और जिसे अधिकार सौंपे जाते हैं उसे निर्णय लेने और कार्यवाही करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। यदि प्रत्यायोजन के साथ कुछ शर्तें जोड़ दी जाती हैं तो वह आंशिक प्रत्यायोजन कहलाता है।

3. औपचारिक और अनौपचारिक प्रत्यायोजन (Formal and Informal Delegation)

जब संगठन के लिखित नियमों, उपनियमों, आदेशों या प्रक्रियाओं के अनुसार प्रत्यायोजन किया जाता है तो वह औपचारिक प्रत्यायोजन कहलाता है। दूसरी ओर संगठन की अनौपचारिक परम्पराओं, रीति–रिवाजों तथा आपसी सद्भाव के आधार पर होने वाला प्रत्यायोजन अनौपचारिक प्रत्यायोजन कहलाता है।

4. प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन (Direct and Indirect Delegation)

प्रत्यक्ष प्रत्यायोजन वह होता है जिसमें अधिकार प्रदान करने वाले और अधिकार प्राप्त करने वाले के मध्य कोई अन्य व्यक्ति या स्तर नहीं हो जबकि अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन में उच्चाधिकारी तथा निम्नाधिकारी के मध्य कोई और व्यक्ति या स्तर होता है।

5. लिखित और मौखिक प्रत्यायोजन (Written and Oral Delegation)

जो प्रत्यायोजन विधिवत् तथा लिखित आदेशों में किया जाता है वह लिखित प्रत्यायोजन होता है जो प्रायः औपचारिक महत्त्वपूर्ण तथा स्थायी भी होता है। इसके विपरीत जो प्रत्यायोजन, मौखिक रूप से अथवा टेलीफोन पर दिया गया हो तो उसे अलिखित और मौखिक प्रत्यायोजन माना जाता है।

6. सामान्य और विशिष्ट प्रत्यायोजन (General and Special Delegation)

जब किसी एक अधिकारी द्वारा दूसरे अधिकारी को एक कार्य से संबंधित समस्त गतिविधियाँ या क्रियाएँ सौंप दी जाती हैं तो वह सामान्य प्रत्यायोजन कहलाता है जबकि विशिष्ट प्रत्यायोजन में सम्पूर्ण कार्य न सौंप कर उस कार्य से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट क्रियाएँ या गतिविधियाँ सौंप दी जाती है।

7. दिशा के आधार पर प्रत्यायोजन चार प्रकार का होता है

(1) उर्ध्वगामी (Upward) – नीचे से ऊपर की ओर किया जाने वाला प्रत्यायोजन अर्थात् अधीनस्थ स्तरों से उच्चस्तर की ओर, तल से शीर्ष की ओर किया जाने वाला प्रत्यायोजन उर्ध्वगामी प्रत्यायोजन कहलाता है।

(2) अधोगामी (Downward)– शीर्ष से तल की ओर उच्च अधिकारी द्वारा अधीनस्थों को किया जाने वाला प्रत्यायोजन, अधोगामी प्रत्यायोजन कहलाता है।

(3) क्षितिजाकार (Horizontal)– समान अधिकारियों के बीच एक ही स्तर पर परस्पर किया जाने वाला प्रत्यायोजन क्षितिजाकार प्रत्यायोजन कहलाता है।

(4) बाह्य और पार्श्व प्रत्यायोजन (Outward or Sidewase Delegation)—संगठन की किसी इकाई द्वारा किसी अन्य संगठनेत्तर इकाई को किया जाने वाला प्रत्यायोजन बाह्य और निकटवर्ती पहचान वाले संगठन को किया जाने वाला प्रत्यायोजन पार्श्व प्रत्यायोजन कहलाता है।

8. सशर्त और अशर्त प्रत्यायोजन (Conditional or Unconditional delegation) – वह प्रत्यायोजन जो किन्हीं शर्तों पर आधारित बना दिया जाता है सशर्त प्रत्यायोजन कहलाता है तथा बिना किसी शर्तो पर आधारित प्रत्यायोजन, अशर्त प्रत्यायोजन कहलाता है।

9. सरल और जटिल प्रत्यायोजन (Simple and Complex Delegation)—वह प्रत्यायोजन जिसको करने की प्रक्रिया अत्यंत सरल हो, सरल प्रत्यायोजन तथा जिसके प्रत्यायोजन में अनेक औपचारिकताओं का निर्वहन करना पड़ता है, जटिल प्रत्यायोजन कहलाता है।

प्रत्यायोजन के सिद्धान्त (Principles of Delegation)

1. प्रत्यायोजन में अपेक्षित परिणामों के आधार पर कार्य का निर्धारण होना चाहिए।
2. प्रत्यायोजन में आदेश की एकता के सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं होना चाहिए।
3. प्रत्यायोजन में केवल क्रियात्मक उत्तरदायित्व ही हस्तांतरित होना चाहिए। अन्तिम उत्तरदायित्व प्रत्यायोजक का ही होता है।
4. प्रत्यायोजन में अधिकारों अथवा सत्ता का प्रत्यायोजन जिस मात्रा में किया जाए, उसी मात्रा में उत्तरदायित्व भी सौंपा जाना चाहिए।
5. प्रत्यायोजन तभी प्रभावशाली एवं लाभप्रद सिद्ध होता है जबकि उसके नियंत्रण की प्रक्रिया भी संचालित हो।
6. प्रत्यायोजन में अधिकारों की सीमाओं का स्पष्टीकरण होना चाहिए।
7. प्रत्यायोजन में सम्प्रेषण खुला रहना चाहिए।
8. प्रत्यायोजन में प्रत्यायोजी को प्रत्यायोजन के सभी पक्षों की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए।
9. प्रत्यायोजन पूर्ण नियोजित एवं व्यवस्थित होना चाहिए।
10. प्रत्यायोजन में मूल्यांकन का तत्त्व भी निहित होता है। प्रत्यायोजित कार्य पूरा हो जाने के पश्चात् और यदि आवश्यक हो तो बीच में ही अधीनस्थों द्वारा निष्पादित कार्य की प्रत्यायोजक द्वारा समीक्षा की जानी चाहिए।
11. प्रत्यायोजन नियमों, कानूनों एवं आदेशों के अनुसार ही होना चाहिए।

प्रत्यायोजन की बाधाएँ (Hindrances of Delegation)

सफल प्रत्यायोजन में कई बाधाएँ आती हैं। ये बाधाएँ प्रबन्धकों में प्रत्यायोजन के तकनीकी ज्ञान के अभाव में उत्पन्न हो सकती हैं या मानवीय प्रकृति के कारण उत्पन्न हो सकती हैं।

(अ) प्रत्यायोजनकर्त्ता या अधिकारी के कारण उत्पन्न होने वाली बाधाएँ–

1. कड़ा निरीक्षण –

प्रबन्धकों का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे प्रत्यायोजन करके भी अपने अधीनस्थों पर कड़ा नियंत्रण रखते हैं। वास्तव में प्रत्यायोजन का लाभ तभी प्राप्त होता है जबकि अधीनस्थों को स्वतः निर्णय लेने का अधिकार प्रदान किया जाए।

2. निर्देशन योग्यता का अभाव –

कभी–कभी प्रत्यायोजन के उद्देश्य इसलिए भी पूरे नहीं होते हैं कि प्रबन्धकों में निर्देशन की योग्यता का अभाव पाया जाता है।

3. जवाबदेही का अभाव–

कई बार अधिकारी अपने अधीनस्थों को उनकी क्रियाओं के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा पाते हैं।

4. अधिकारों का अपहरण –

कई अधिकारी कई बार अधिकारों का प्रत्यायोजन करने के बाद पुनः अधिकार छीन लेते हैं।

5. अधिकार केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति –

कई अधिकारी अधिकारों का प्रत्यायोजन करना ही नहीं चाहते हैं वे अपने आप को सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्त्ता समझते हैं।

6. अधीनस्थों का भय –

कुछ अधिकारी अपने अधीनस्थों के शक्तिशाली होने से डरते हैं, अतः ऐसे अधिकारी बहुत कम प्रत्यायोजन करते हैं।

7. अधीनस्थों में विश्वास का अभाव –

कई अधिकारियों को विश्वासपात्र अधीनस्थ नहीं मिल पाते हैं। अतः उन्हें अपने अधिकारों का प्रत्यायोजन न करने के लिए विवश होना पड़ता है।

8. समन्वय की समस्या का जन्म –

प्रत्यायोजन करने से प्रबन्धकों या अधिकारियों के सम्मुख एक सबसे बड़ी समस्या खड़ी होती है, वह है समन्वय की समस्या।

9. सभी कार्यों के श्रेय–प्राप्ति की इच्छा–

प्रत्यायोजन नहीं होने का एक कारण यह भी है कि कई व्यक्ति संस्था के सभी कार्यों का श्रेय स्वयं ही लेना चाहते हैं। अतः सभी कार्य स्वयं करते हैं।

10. प्रथाएँ एवं परम्पराएँ–

कई बार सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों, प्रथाओं, परम्पराओं आदि के आधार पर ही प्रत्यायोजन किया जाता है। परिणामस्वरूप जहाँ प्रत्यायोजन की प्रथाएँ एवं परम्पराएँ नहीं होती हैं वहाँ पर प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता है।

(ब) अधीनस्थों के कारण उत्पन्न बाधाएँ–

1. अधीनस्थों में योग्यता का अभाव –

योग्यता के अभाव में प्रत्यायोजन सम्भव नहीं होता है।

2. आत्मविश्वास का अभाव –

अधीनस्थों में योग्यताएं होने के उपरान्त भी आत्मविश्वास के अभाव में अधीनस्थ प्रत्यायोजित अधिकारों का सदुपयोग नहीं कर सकते हैं।

3. अपर्याप्त प्रेरणा –

प्रेरणाओं के अभाव में प्रत्यायोजित अधिकारों की सफलता संदिग्ध ही रहती है।

4. अपर्याप्त संचार व्यवस्था –

अपर्याप्त संचार व्यवस्था होने से कई अधीनस्थ अधिकारों को स्वीकार नहीं करते है।

5. अपमान का भय –

कई बार अधीनस्थ अपमान के भय के कारण भी प्रत्यायोजन को स्वीकार नहीं करते हैं।

(स) संगठनात्मक बाधाएँ–

1. सुस्थापित विधियों एवं प्रक्रियाओं का अभाव प्रत्यायोजन में बाधाएँ खड़ी करता है।
2. अस्थायी और गैर बारम्बारिक कार्यों की प्रकृति उसके प्रत्यायोजन में बाधा खड़ी करती हैं।
3. संगठन का छोटा आकार तथा सीमित भौगोलिक फैलाव प्रत्यायोजन को असुविधाजनक बनाता है।
4. सुस्थापित संप्रेषण प्रक्रियाओं का अभाव तथा समन्वयकारी तकनीकों की कमी प्रत्यायोजन में सांगठनिक बाधाएँ खड़ी करता है।
5. संगठन द्वारा सम्पादित कार्य की प्रकृति भी प्रत्यायोजन को सुविधाजनक और असुविधाजनक बनाती हैं।

IV पर्यवेक्षण (Supervision)

पर्यवेक्षण अंग्रेजी के शब्द Supervision का हिन्दी अनुवाद है जो दो शब्दों Super + vision से बना है जिसका शब्दकोषीय अर्थ है, देखने की श्रेष्ठ दृष्टि अथवा अधिदर्शन ।

पर्यवेक्षण दो तरफा तकनीक है, एक तरफ यह, जहाँ दूसरों के कार्यों का अधीक्षण, निर्देशन एवं खोजबीन करने की क्रिया है वहीं दूसरी तरफ, दूसरों को सलाह एवं मार्गदर्शन देने की क्रिया भी है।

इस प्रकार पर्यवेक्षण में नकारात्मक एवं सकारात्मक क्रियाओं का मेल होता है। अधीक्षण एक नकारात्मक क्रिया तथा मार्गदर्शन एवं सलाह एक सकारात्मक क्रिया है।

पर्यवेक्षण की परिभाषाएँ
(Definitions of Supervision)

रेनिंग– "दूसरों के कार्यो का सत्ता के सहयोग से निर्देशन ही पर्यवेक्षण है।"

टैरी और फ्रेंकटिन के अनुसार – "पर्यवेक्षण का अर्थ बताए गए कार्य को पूरा करने के लिए कार्मिकों तथा अन्य साधनों के प्रयासों के दिशा और निर्देश से है।"

मार्गरेट विलियमसन– "यह एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत कर्मचारियों को उनकी आवश्यकतानुसार सीखने, अपने ज्ञान तथा कौशल का सर्वोत्तम उपयोग करने तथा योग्यताओं में सुधार करने में किसी पदाधिकारी की सहायता प्राप्त होती

है ताकि कर्मचारी अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकें ताकि इसमें कर्मचारियों एवं उनके संस्थान को अधिकाधिक संतोष मिलता रहे।"

जे.डी.मिलेट – "वांछित कार्य उद्देश्यों को पूरा करने हेतु मानवीय एवं अन्य संस्थाओं का निर्देशन करना ही पर्यवेक्षण है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर पर्यवेक्षण की जो परिभाषा स्पष्ट होती है, वह यह है कि वांछित कार्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मानवीय एवं अन्य संसाधनों का सत्ता के सहयोग से अधीक्षण एवं मार्गदर्शन ही पर्यवेक्षण है।

पर्यवेक्षण की विशेषताएँ
(Characteristics of Supervision)

1. पर्यवेक्षण दो तरफा क्रिया है, इसमें मार्गदर्शन एवं अधीक्षण सम्मिलित है।
2. पर्यवेक्षण का उद्देश्य, संगठन के उद्देश्यों की समयानुसार दक्षतापूर्वक पूर्ति है।
3. पर्यवेक्षण अनवरत् रूप से सम्पन्न की जाने वाली एक सतत् क्रिया है।
4. पर्यवेक्षण भौतिक और मानवीय दोनों ही तत्त्वों की उच्च दृष्टि से देखरेख करती है।
5. पर्यवेक्षण निरीक्षण से भिन्न होता है। निरीक्षण, जहाँ कार्यस्थल पर कार्योत्तर समीक्षा है, यह पूर्णतया नकारात्मक क्रिया होती है
   जबकि पर्यवेक्षण, सकारात्मक दृष्टि से कार्य से पूर्व तथा पश्चात् दोनों ही अवस्थाओं में की जाने वाली क्रिया है। निरीक्षण प्रबन्ध का पृथक् कार्य नहीं बल्कि पर्यवेक्षण प्रक्रिया का ही एक अनिवार्य भाग है।

पर्यवेक्षण की क्रियाएँ
(Actions of Supervision)

पर्यवेक्षण की क्रियाओं अथवा उसके पहलुओं का विश्लेषण तीन दृष्टियों से किया जाता है जो पर्यवेक्षण में सम्मिलित गतिविधियों की स्पष्ट व्याख्या भी है।

(अ) पर्यवेक्षण का मौलिक और तात्विक दृष्टिकोण–

इसके अनुसार पर्यवेक्षण में कार्य का नियोजन, कार्य का आबंटन, कार्य निष्पादन के मानकों का निर्धारण सम्मिलित होता है।

(ब) पर्यवेक्षण का सांस्थानिक दृष्टिकोण –

इस दृष्टिकोण के अनुसार, पर्यवेक्षण में यह देखना सम्मिलित है कि कार्य समय पर हो, कार्य सही तरीके से सम्पन्न किया जाए, व्यक्तिगत आचरण के नियम निर्धारित करने तथा कार्य के उपकरणों का उचित रख–रखाव आदि।

(स) कार्मिक दृष्टिकोण –

इसके अनुसार, पर्यवेक्षण में कर्मचारियों पर निगरानी रखने और उनमें कार्य के प्रति रूचि पैदा करना सम्मिलित है।

पर्यवेक्षण की तकनीकें अथवा विधियाँ –
(Techniques or Methods of Supervision)

पर्यवेक्षण की तकनीकें और विधियाँ संगठन–दर–संगठन भिन्न होती हैं और मुख्य कार्यपालिका संगठन का आकार, उद्देश्यों, सम्पादित कार्य की प्रकृति के आधार पर निर्धारित करता है। जे. डी. मिलेट ने पर्यवेक्षण की छः तकनीकों का वर्णन किया है–

1. पूर्व स्वीकृति निर्धारण द्वारा
2. सेवा मानकों के निर्धारण के माध्यम से पर्यवेक्षण
3. कार्य बजट निर्धारण द्वारा पर्यवेक्षण
4. कार्मिकों की स्वीकृति द्वारा पर्यवेक्षण
5. प्रतिवेदन प्रस्तुत करने की प्रक्रिया द्वारा पर्यवेक्षण तथा
6. निरीक्षण तकनीक के माध्यम से पर्यवेक्षण।

पर्यवेक्षक के गुण –

अच्छे पर्यवेक्षक के गुणों की व्याख्या हालसे, पिफनर, आदि विद्वानों ने की है–

पिफनर के अनुसार एक अच्छे पर्यवेक्षक में निम्नलिखित आठ गुण होने चाहिए।

1. कार्य से सम्बन्धित पूर्ण ज्ञान;
2. व्यक्तिगत योग्यताएँ जैसे– दृढ़ चरित्र;
3. एक अच्छे शिक्षक की योग्यताएँ;
4. उसे अपने कार्य से प्रेम हो तथा अधीनस्थों को भी प्रेरित करे;

5. साहस और सहनशीलता;
6. नैतिकता तथा सदाचार;
7. प्रबन्धकीय योग्यता तथा जिज्ञासा एवं;
8. बौद्धिक सतर्कता और नवाचार प्रवृत्तियाँ।

इसी प्रकार हालसे ने अच्छे पर्यवेक्षक के लिए निम्नांकित गुण बताए हैं–

1. कार्य एवं सभी मामलों की पूरी जानकारी (परिपूर्णता);
2. निष्पक्षता, न्यायप्रियता तथा सहानुभूति (औचित्य);
3. साहस एवं आत्म विश्वास (पहल);
4. लोगों से कार्य करवाने की कला (चतुराई);
5. कर्त्तव्य, आदर्शों तथा रुचियों से भरपूर (उत्साह) तथा ;
6. भावनात्मक नियंत्रण।

सरकारी संगठनों में सभी प्रकार के व्यक्ति कार्य करते हैं तथा बहुत से व्यक्ति वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नत होकर पर्यवेक्षक की भूमिका में आ जाते हैं। पर यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक पर्यवेक्षक उन योग्यताओं तथा कुशलताओं से युक्त हो ही जो कि एक अच्छे पर्यवेक्षक के लिए आवश्यक हैं। यह मान्यता रही है कि अच्छे पर्यवेक्षक बनाए नहीं जाते बल्कि वे पैदा होते हैं लेकिन प्रशिक्षण की आधुनिक तकनीकें जैसे – सम्मेलन, विधि, कार्य के दौरान प्रशिक्षण तथा अन्य संगठनात्मक व्यवहार सम्बन्धी प्रयोगों के माध्यम से पर्यवेक्षकीय गुणों का विकास किया जा सकता है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- औपचारिक संगठन का संचालन अनेक सिद्धान्तों के आधार पर होता है। उनमें सूत्र एवं स्टाफ, अभिकरण की अवधारणा, केन्द्रीकरण–विकेन्द्रीकरण, प्रत्यायोजन एवं पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों का अपना महत्त्व है।
- संगठन में संरचनागत रूप से तो दो इकाइयाँ कार्यरत होती हैं। नीतिगत एवं प्राथमिक कार्यों को सम्पन्न करने वाली इकाइयों को सूत्र तथा मन्त्रणा एवं परामर्शकारी द्वितीयक कार्यो को सम्पन्न करने वाली इकाइयों को मंत्रणा (स्टाफ) इकाइयाँ कहते हैं। वे इकाइयाँ जो सम्पूर्ण संगठन की सामूहिक सेवा करती हैं उन्हें सहायक अभिकरणों के नाम से जाना जाता है।
- सूत्र इकाइयाँ संगठन में नीति–निर्धारण आदेश देने एवं नीतियों के क्रियान्वयन सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करती हैं तथा उन्हें पर्याप्त सत्ता से भी सुसज्जित किया जाता है। सत्ताविहीन मंत्रणा (स्टाफ) इकाइयाँ– सूचना देने, आँकड़े एकत्रित करने, सहायता एवं परामर्श देने एवं जाँच पड़ताल सम्बन्धी कार्य करती हैं।
- संगठन में शीर्ष से तल की ओर सत्ता के विभाजन को विकेन्द्रीकरण तथा तल से शीर्ष की ओर सत्ता के संकुचन को केन्द्रीकरण की संज्ञा दी जाती है।
- विकेन्द्रीकरण चार रूपों में किया जाता है। लम्बवत्, क्षेत्रीय, समानान्तर और कार्यात्मक।
- संगठन में केन्द्रीकरण अथवा विकेन्द्रीकरण को निर्धारित करने वाले तत्त्व है उत्तरदायित्व, संगठन की अवस्था, संगठन के कार्य, उच्चाधिकारी की सोच, संगठन की विधियाँ व कार्यप्रणालियाँ तथा बाह्य वातावरण से सम्बद्ध आदि।
- प्रभावशाली नियंत्रण, समन्वय में सुविधा, संगठन में एकरूपता स्थापित करने, सांगठनिक हितों की शीघ्र पूर्ति, संगठन में कार्यकुशलता एवं दक्षता तथा संकट काल के लिए केन्द्रीकरण उपयोगी सिद्धान्त हैं।
- संगठन को लचीला बनाने, नवीन प्रयोगों के अवसर, व्यापक हितों को सहभागिता देने की दृष्टि से विकेन्द्रीकरण एक लोकप्रिय व्यवस्था है।
- संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक सांगठनिक इकाई द्वारा कार्य, उत्तरदायित्व एवं सत्ता का हस्तांतरण प्रत्यायोजन कहलाता है।
- प्रत्यायोजन के तीन तत्व होते हैं– कर्त्तव्य, सत्ता एवं उत्तरदायित्व। प्रत्यायोजन में सर्वप्रथम कर्त्तव्य अथवा कार्यों का हस्तांतरण होता है। कार्यों को सम्पन्न करने के लिए पर्याप्त सत्ता भी सौंपी जाती है तथा सत्ता का उपयोग कार्य सम्पन्न करने में ही हो इसलिए प्रत्यायोजी का उत्तरदायित्व भी निर्धारित किया जाता है।
- कार्य मात्रा में अभिवृद्धि, मानवीय सीमाएँ, कार्यात्मक प्रक्रियाओं की जटिलता एवं विशिष्टीकरण की आवश्यकता, नीति एवं नियोजन हेतु समय की बचत, शैक्षणिक महत्त्व एवं उत्तरदायित्व में भागीदारी, प्रबन्धकीय विकास, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप लचीलापन, भौगोलिक फैलाव, कार्यकुशलता एवं मितव्ययता, उत्तराधिकार में सहायक

आदि कारणों से प्रत्यायोजन आवश्यक है।

- प्रत्यायोजन कई प्रकार का होता है यथा–स्थायी एवं अस्थायी, पूर्ण एवं आंशिक, सशर्त एवं अशर्त, औपचारिक एवं अनौपचारिक, सरल एवं जटिल, विशिष्ट एवं सामान्य, लिखित एवं मौखिक, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष तथा दिशा के आधार पर जैसे–अधोगामी, उर्ध्वगामी, क्षितिजाकार और बाह्य आदि।
- प्रत्यायोजन पर विधान, विषय की प्रकृति, अधीनस्थों की योग्यता, अध्यक्ष का दायित्व, संगठन की प्रक्रियाएँ एवं आकार, नियंत्रण की तकनीकें आदि तत्त्व सीमाएँ लगाते हैं।
- पर्यवेक्षण सत्ता के सहयोग से वांछित कार्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मानवीय एवं अन्य संसाधनों का मार्ग दर्शन एवं अधीक्षण है।
- पर्यवेक्षण द्विमार्गी क्रिया है। एक तरफ जहाँ यह अधीनस्थों के कार्यों पर निर्देशन, अन्वेषण एवं निरीक्षण की क्रिया है वहीं दूसरी तरफ यह अधीनस्थों के कार्यों का मार्गदर्शन एवं परामर्श देने की गतिविधि भी है।
- पर्यवेक्षण में कार्य योजना निर्धारण, कार्य आबंटन, कार्य निष्पादन के मानकों का निष्पादन, व्यक्तिगत आचरण के नियम निर्धारण, उपकरणों के उचित रख–रखाव के साथ–साथ यह देखना कि कार्य सही एवं समय पर हो आदि क्रियाएँ सम्मिलित हैं।
- पर्यवेक्षण की छः विधियाँ मिलेट ने निर्धारित की हैं यथा– पूर्व स्वीकृति, सेवा मानक, कार्य, बजट, कार्मिकों की स्वीकृति, प्रतिवेदन एवं निरीक्षण आदि।
- एक अच्छे पर्यवेक्षक में परिपूर्णता, पहलपन, औचित्यपूर्णता, चतुराई, साहस, भावनात्मक नियंत्रण, कार्य अन्तर्वस्तु की पकड़, शिक्षण योग्यता, साहस एवं भविष्य दृष्टि, उत्सुकता एवं बौद्धिक योग्यता आदि गुण होने चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. प्रत्यायोजन का तत्त्व है
   (अ) सत्ता (ब) कार्य
   (स) उत्तरदायित्व (द) उपर्युक्त सभी ( )

2. संगठन के नियमों, उपनियमों, आदेशों तथा प्रक्रियाओं के अन्तर्गत होने वाला प्रत्यायोजन कहलाता है
   (अ) लिखित प्रत्यायोजन (ब) औपचारिक प्रत्यायोजन
   (स) पूर्ण प्रत्यायोजन (द) आंशिक प्रत्यायोजन ( )

3. प्रत्यायोजित सत्ता का सर्वाधिक उपयोग करते हैं
   (अ) आम जनता (ब) राष्ट्रपति
   (स) प्रधानमंत्री (द) कर्मचारी तंत्र ( )

4. योजना आयोग प्रतीक था
   (अ) केन्द्रीकरण का (ब) विकेन्द्रीकरण का
   (स) प्रत्यायोजन का (द) उपर्युक्त सभी ( )

5. प्रत्यायोजन सिद्धान्त के ठीक विपरीत है
   (अ) विकेन्द्रीकरण (ब) आदेश की एकता
   (स) केन्द्रीकरण (द) नियंत्रण ( )

6. आधुनिक प्रशासनिक संगठनों में पाया जाता है
   (अ) पूर्ण केन्द्रीकरण (ब) पूर्ण विकेन्द्रीकरण
   (स) केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण
   (द) उपर्युक्त में से कोई भी नहीं ( )

7. पर्यवेक्षण की मानवीय तत्वों से युक्त परिभाषा दी है
   (अ) रेनिंग (ब) हेल्से
   (स) मिलेट (द) विलियमसन ( )

8. पर्यवेक्षण की किस तकनीक से लालफीताशाही पनपती है?
   (अ) सेवा मानवीकरण (ब) पूर्व अनुमोदन
   (स) निरीक्षण (द) कार्य बजट ( )

9. सूत्र एवं स्टाफ अभिकरण की अवधारणा ली गई है
   (अ) न्यायपालिका से (ब) सैन्य प्रशासन से
   (स) अफ्रीकी कबीलायी संस्कृति से
   (द) उपर्युक्त सभी ( )

10. निम्नांकित में से स्टाफ अभिकरण बताइए
    (अ) कृषि मंत्रालय (ब) भारतीय रिजर्व बैंक
    (स) भारतीय जीवन बीमा निगम
    (द) संघ लोक सेवा आयोग ( )

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रत्यायोजन को परिभाषित कीजिए।
2. केन्द्रीकरण से आप क्या समझते हैं ?
3. विकेन्द्रीकरण को परिभाषित कीजिए ।
4. विकेन्द्रीकरण का सबसे बड़ा दोष क्या है ?
5. पर्यवेक्षण से आप क्या समझते हैं ?
6. सकारात्मक पर्यवेक्षण को स्पष्ट कीजिए ।
7. सूत्र अभिकरणों को परिभाषित कीजिए ।
8. स्टाफ अभिकरणों का अर्थ समझाइये ।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रत्यायोजन की विशेषताओं को वर्णित कीजिए ।
2. प्रत्यायोजन की आवश्यकताओं की व्याख्या कीजिए ।
3. एक अच्छे प्रत्यायोजक के गुण वर्णित कीजिए।
4. केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण में मुख्य अन्तर स्पष्ट कीजिए।
5. विकेन्द्रीकरण के प्रकारों की विवेचना कीजिए ।
6. केन्द्रीकरण के गुणों की व्याख्या कीजिए।
7. पर्यवेक्षण की विधियों की विवेचना कीजिए ।
8. पर्यवेक्षक के कार्यों का वर्णन कीजिए।
9. सूत्र अभिकरणों की विशेषताएँ बताइये ।
10. स्टाफ अभिकरणों के कार्यों का वर्णन कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न –

1. प्रत्यायोजन का अर्थ बताते हुए इसके तत्वों एवं सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए ।
2. केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण से आप क्या समझते हैं ? दोनों के मध्य अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. विकेन्द्रीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए विकेन्द्रीकरण के लाभ एवं हानियों पर प्रकाश डालिए ।
4. पर्यवेक्षण का अर्थ, प्रकार तथा तकनीक की व्याख्या कीजिए ।
5. "लोक प्रशासन में सूत्र एवं स्टाफ अभिकरणों का भेद कम होता जा रहा है।" कथन का परीक्षण कीजिए।

उत्तरमाला

1. (द) 2. (ब) 3. (द) 4. (अ) 5. (अ)
6. (स) 7. (द) 8. (ब) 9. (ब) 10. (द)

इकाई–V

अध्याय–7

संघीय कार्यपालिका
(Union Executive)

1. राष्ट्रपति (President)

भारत में संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत दो प्रकार की कार्यपालिका होती हैं, एक औपचारिक और दूसरी वास्तविक। राष्ट्रपति भारतीय संघ की कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है व व्यवहार में वास्तविक कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री व मंत्रिपरिषद् द्वारा किया जाता है। संविधान के अनुच्छेद 53 के द्वारा संघ की कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित की गई हैं। वह अपनी शक्तियों का प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करता है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन
(Election of President)

(क) योग्यताएँ (Qualification)

संविधान के अनुच्छेद 58 में राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ निश्चित की गई हैं :

(i) भारत की नागरिकता

(ii) न्यूनतम 35वर्ष की आयु

(iii) अन्य ऐसी योग्यताएँ, जो लोकसभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए आवश्यक हैं।

उपर्युक्त योग्यताओं के अतिरिक्त संविधान में यह शर्त लगाई गई है कि भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन अथवा उसके नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य निकाय में लाभ का पद धारण करने वाला व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए पात्र नहीं होगा। अनुच्छेद 59 में यह प्रावधान भी किया गया है कि राष्ट्रपति संसद के किसी सदन या राज्य के किसी विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य नहीं होगा।

(ख) निर्वाचन की विधि (Method of Election)

राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचक मण्डल के सदस्यों द्वारा किया जाता है। संविधान के अनुच्छेद 54 और 55 में राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित व्यवस्थाएँ की गई हैं :

(i) निर्वाचक मण्डल : (Electoral College)

राष्ट्रपति के चुनाव के लिए निर्वाचक मण्डल में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और राज्यों की विधानसभाओं और संघीय क्षेत्र की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होते हैं। राज्यसभा और लोकसभा के मनोनीत सदस्यों को, तथा जिन राज्यों में विधान परिषदें हैं, उनकी विधान परिषदों के सदस्यों को निर्वाचक मण्डल में सम्मिलित नहीं किया गया है। संघ शासित क्षेत्रों की विधानपरिषदों के सदस्यों को भी निर्वाचक मण्डल का सदस्य नहीं बनाया गया है। निर्वाचक मण्डल के द्वारा राष्ट्रपति के अप्रत्यक्ष चुनाव का निश्चय भारत की संविधान सभा ने लम्बे विचार विमर्श के बाद लिया था। संविधान सभा ने जनता द्वारा प्रत्यक्ष मतदान की पद्धति से राष्ट्रपति के चुनाव को इस कारण स्वीकार नहीं किया था कि यह संसदीय प्रणाली के अनुकूल नहीं होगा, तथा यदि जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति का नाममात्र के कार्यपालिका प्रधान के रूप में कार्य करना व्यावहारिक नहीं रहेगा।

संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि जहाँ तक संभव हो, राष्ट्रपति के निर्वाचन में भिन्न भिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व के पैमाने मे एकरूपता रखी जायेगी। इस उद्देश्य से निर्वाचक मण्डल के समस्त सदस्यों के मतों का मूल्य निर्धारित करने के लिए संविधान में विशेष सूत्र का प्रावधान किया गया है। इस सूत्र के अनुसार किसी राज्य की विधानसभा के एक निर्वाचित सदस्य के मत का मूल्य निर्धारित करने के लिए, राज्य की कुल जनसंख्या में उस राज्य की विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या का भाग दिया जायेगा और जो भागफल होगा उसमें पुनः 1000 का भाग दिया जायेगा।

राज्य की विधानसभा के सदस्य के मत का मूल्य निम्नलिखित रीति से निर्धारित होगा:

$$\text{राज्य की विधानसभा के सदस्य के मतों का मूल्य} = \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{विधानसभा के सदस्यों की कुल निर्वाचित संख्या}} \div 1000$$

राष्ट्रपति के चुनाव में संघ और राज्यों के प्रतिनिधित्व में समानता को सुनिश्चित करने के लिए संसद के निर्वाचित सदस्य के मतों के मूल्य को निर्धारित करने के लिए समस्त राज्यों की विधानसभाओं के लिए नियत किये गये कुल मतों की संख्या के

योग में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या का भाग दिया जाता है। संसद के निर्वाचित सदस्यों की संख्या का मूल्य निम्नलिखित प्रकार से निर्धारित होगा –

संसद के प्रत्येक सदन के निर्वाचित सदस्य के मत का मूल्य = $\frac{\text{राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों के मतों की कुल संख्या}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}}$

2002 में हुए राष्ट्रपति (डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम) के निर्वाचन के समय निर्वाचक मण्डल के सदस्यों की कुल संख्या 4896 थी इनमें 776 सांसद तथा 4120 विधायक थे। निर्वाचक मण्डल के मतों का कुल मूल्य 1098882 था। सांसदों के मतों का कुल मूल्य 549408 एवं विधायकों के मतों का कुल मूल्य 549474 था। सांसद के मत का मूल्य 708 व विधानसभा के सदस्यों के मतों की संख्या भिन्न भिन्न है, जैसे उत्तरप्रदेश के विधायकों के मतों का मूल्य 208 सर्वाधिक है और सिक्किम के विधायकों के मतों का मूल्य 7 न्यूनतम है।

(ii) मत पद्धति : (Voting System)

राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के (Proportional Representation) अनुसार 'एकल संक्रमणीय मत' (Single Transferable Vote) प्रणाली के आधार पर होता है। यह पद्धति इसलिये अपनाई जाती है कि वास्तव में निर्वाचक मण्डल के बहुमत का समर्थन प्राप्त व्यक्ति ही राष्ट्रपति निर्वाचित हो सके। एकल संक्रमणीय मत पद्धति में मतदाता, जितने भी प्रत्याशी हो, उनके संबध में मतपत्र पर अपनी वरीयता अंकित कर सकता है। यह माना जाता है कि मतदाता ने जिस प्रत्याशी के नाम के आगे प्रथम वरीयता अंकित की है, उसे मत दिया गया है।

निर्वाचित होने के लिए राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार को निर्धारित न्यूनतम मत संख्या (Quota) प्राप्त करना आवश्यक होता है। राष्ट्रपति के चुनावों में प्रत्याशी को निर्वाचित होने के लिए न्यूनतम मतों का कोटा निम्नलिखित सूत्र से निर्धारित होता है–

$$\text{न्यूनतम मत संख्या} = \frac{\text{वैध मतों की संख्या}}{2} + 1$$

यदि मतगणना के प्रथम चरण में किसी उम्मीदवार को न्यूनतम कोटा के बराबर या अधिक प्रथम वरीयता के मत प्राप्त हो जाये तो उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।यदि किसी भी प्रत्याशी को निर्धारित न्यूनतम कोटा के बराबर या अधिक प्रथम वरीयता के मत प्राप्त नहीं होते, तो ऐसे प्रत्याशी को, जिसे प्रथम वरीयता के सबसे कम मत प्राप्त होते हैं, प्रतिस्पर्धा से हटा दिया जाता है। इस प्रकार हटाये गये प्रत्याशी के मतों को मतपत्रों पर अंकित द्वितीय वरीयता के अनुसार प्रतिस्पर्धा में शेष रह गये प्रत्याशियों को हस्तांतरित कर दिया जाता है। इस प्रकार हस्तान्तरित मतों को उन प्रत्याशियों द्वारा प्राप्त प्रथम वरीयता के मतों में जोड़ दिया जाता है। मतगणना के प्रत्येक चरण के पश्चात्, सबसे कम मत प्राप्त प्रत्याशी को प्रतिस्पर्धा से हटाकर, द्वितीय वरीयता के आधार पर मतों के हस्तान्तरण की प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक कि किसी एक प्रत्याशी को न्यूनतम कोटा के निर्धारित मत प्राप्त न हो जायें। यदि मतगणना के समस्त चरण पूरे हो जाने के पश्चात् भी किसी प्रत्याशी को निर्धारित कोटा जितने मत प्राप्त नहीं होते, तो अंतिम चरण में शेष रहे दो प्रत्याशियों मे से अधिक मत प्राप्त करने वाले प्रत्याशी को निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

कतिपय आलोचकों का कहना है कि राष्ट्रपति के चुनाव में अपनायी गयी मत–पद्धति को आनुपातिक प्रतिनिधित्व का नाम दिया जाना उचित नहीं है। वास्तव में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति तब उपयोगी होती है जब एक ही निर्वाचन होना हो। उस स्थिति में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के द्वारा अल्पसंख्यकों को भी उनके मतों के अनुपात में अपने प्रत्याशी निर्वाचित करने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

(iii) नामांकन : (Nomination)

1952 के राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति चुनाव अधिनियम के अनुसार राष्ट्रपति पद के लिए नामांकन पत्र पर निर्वाचक मण्डल के दो सदस्यों के प्रस्तावक व अनुमोदक के रूप में हस्ताक्षर कराना पड़ता था। कोई प्रतिभूति राशि जमा नहीं कराई जाती थी। इस कारण लोग प्रचार मात्र लिए नामांकन भर देते थे। 1967 में 17 उम्मीदवारों ने नामांकन पत्र भरे। कुछ प्रत्याशियों को एक भी मत नहीं मिला। तब 1974 में उपर्युक्त अधिनियम में संशोधन करके राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के नांमांकन पत्र को कम से कम 10 निर्वाचकों द्वारा प्रस्तावित तथा कम से कम 10 निर्वाचकों द्वारा अनुमोदित किया जाना तथा नामांकन पत्र के साथ 2500 रूपये की राशि भी जमानत के रूप में जमा कराना आवश्यक किया गया। किन्तु अगस्त 1997 में पारित राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति चुनाव (द्वितीय संशोधन) के अनुसार राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिए कम से कम 50 प्रस्तावक एवं 50 अनुमोदक का होना अनिवार्य कर दिया गया है। जमानत की राशि 2500 से बढ़ाकर 15,000 रू. कर दी गई है। इस प्रावधान का उद्देश्य राष्ट्रपति चुनाव में गैर जिम्मेदार उम्मीदवार को भाग लेने से हतोत्साहित करना है। यदि किसी प्रत्याशी को वैध मतों के छठे भाग के बराबर मत नहीं मिलते हैं तो जमानत की यह

राशि जब्त कर ली जाती है।

भारत में अब तक 13 बार राष्ट्रपति का निर्वाचन हो चुका है। 1952 और 1957 में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भारी बहुमत से राष्ट्रपति निर्वाचित हुए थे। वे प्रथम वरीयता के मतों के आधार पर ही निर्वाचित घोषित हो गये थे। 1962 में सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन भी प्रथम वरीयता के आधार पर ही राष्ट्रपति चुन लिये गये थे। 1967 में यद्यपि डॉ. जाकिर हुसैन प्रथम वरीयता के मतों के आधार पर ही चुन लिये गये थे किन्तु उन्हें विपक्षी दलों के संयुक्त प्रत्याशी न्यायाधीश के. सुब्बाराव की कड़ी चुनौती का सामना कर पड़ा था। 1969 में डा. जाकिर हुसैन के देहावसान के बाद हुए राष्ट्रपति चुनाव में श्री.वी.वी. गिरि निर्वाचित हुए। इस चुनाव में कोई भी प्रत्याशी निर्धारित न्यूनतम कोटा के बराबर प्रथम वरीयता के मत प्राप्त नहीं कर सका। द्वितीय वरीयता के मतों की गणना के पश्चात् श्री गिरि निर्वाचित हो सके। 1974 में श्री फखरूद्दीन अली अहमद राष्ट्रपति पद के लिए प्रथम वरीयता के मतों के आधार पर ही निर्वाचित हो गये। 1977 में श्री नीलम संजीव रेड्डी राष्ट्रपति के चुनाव के लिए आम सहमति से निर्वाचित हुए। 1982 में ज्ञानी जैल सिंह प्रथम वरीयता के मतों के आधार पर ही चुन लिये गये। 1987 में श्री. आर. वेंकटरमन भी वरीयता के मतों के आधार पर ही निर्वाचित हुए। 1992 में डा. शंकरदयाल शर्मा भी प्रथम वरीयता के मतों के आधार पर ही चुन लिये गये। 1997 में श्री. के.आर. नारायणन भारत के 11 वें राष्ट्रपति के रूप में मुख्य राजनैतिक दलों के मध्य आम सहमति से निर्वाचित किये गये। जुलाई 2002 में डॉ. ए. पी..जे. अब्दुल कलाम भारत के 12 वें राष्ट्रपति प्रथम वरीयता के आधार पर ही निर्वाचित किये गये। डॉ. कलाम को राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के अतिरिक्त बसपा, समाजवादी पार्टी, कांग्रेस तथा अन्नाद्रमुक का समर्थन प्राप्त था। व्यक्ति के रूप में डॉ. कलाम 11वें राष्ट्रपति थे तथा कार्यकाल के अनुसार वे 12 वें राष्ट्रपति थे क्योंकि डॉ. राजेन्द्र प्रसाद दो बार राष्ट्रपति बनाये गये थे।

अ– भारत के राष्ट्रपति

	नाम	कार्यकाल
1.	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	1950 – 1962
2.	डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन	1962 – 1967
3.	डॉ. जाकिर हुसैन	1967 – 1969
4.	वराह गिरि वेंकट गिरि	1969 (कार्यवाहक)
5.	न्यायमूर्ति मुहम्मद हिदायतुल्ला	1969 (कार्यवाहक)
6.	वी. वी. गिरी	1969 – 1974
7.	फखरूद्दीन अली अहमद	1974 – 1977
8.	बी. डी. जत्ती	1977 (कार्यवाहक)
9.	नीलम संजीव रेड्डी	1977 – 1982
10.	ज्ञानी जैल सिंह	1982 – 1987
11.	आर. वेंकटरमन	1987 – 1992
12.	डॉ. शंकरदयाल शर्मा	1992 – 1997
13.	के.आर. नारायणन	1997 – 2002
14.	ए.पी.जे. अब्दुल कलाम	2002 – 2007
15.	श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटिल	2007 – 2112
16.	श्री प्रणब मुखर्जी	2012 – .....

शपथः (Oath)

राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित व्यक्ति को पद–ग्रहण करने से पूर्व शपथ लेनी होती है। संविधान के अनुच्छेद 60 में राष्ट्रपति की शपथ का प्रारूप दिया गया है। राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के समक्ष शपथ लेता है। शपथ में राष्ट्रपति ईश्वर के नाम पर अथवा सत्यनिष्ठा से यह प्रतिज्ञा लेता है कि वह श्रद्धापूर्वक राष्ट्रपति के कार्यो का निर्वाह करेगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का प्रतिरक्षण और संरक्षण करेगा तथा भारत की जनता की सेवा और कल्याण में संलग्न रहेगा।

राष्ट्रपति को संविधान द्वारा प्रदान की गयी शक्तियों को देखते हुए उसकी शपथ का बड़ा महत्त्व है। शपथ के द्वारा राष्ट्रपति को संविधान की रक्षा करने का गम्भीर दायित्व प्रदान किया गया है।

पदावधि : (Term)

राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से 5 वर्ष तक की अवधि तक पद धारण करता है। किन्तु संविधान में यह व्यवस्था है कि पद की अवधि समाप्त हो जाने के बाद भी वह अपने उत्तराधिकारी के पद–ग्रहण करने तक पद पर बना रहेगा। पदावधि समाप्त होने से पूर्व राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति को सम्बन्धित अपने हस्ताक्षरित लेख द्वारा प्रमाण पत्र दे सकेगा व संविधान के अनुसार वह अपने पद पर पुनः निर्वाचित हो सकता है। पदारूढ़ राष्ट्रपति के त्याग–पत्र, मृत्यु या पद से हटाये जाने या अन्य किसी कारण से पद रिक्त हो जाने की स्थिति मे संविधान के अनुच्छेद 65 के अनुसार उप–राष्ट्रपति, नया राष्ट्रपति निर्वाचित होने तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है। यदि राष्ट्रपति अनुपस्थिति या बीमारी या अन्य किसी कारण से अस्थायी रूप से अपने कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ हो, तो ऐसी अस्थाई अवधि में भी उप–राष्ट्रपति उसके कृत्यों का निर्वहन करता है।

पद से हटाये जाने की प्रक्रिया
(Procedure for impeachement of the President)

राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा उसके कार्यकाल की समाप्ति से पूर्व भी पद से हटाया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 61 के अनुसार राष्ट्रपति पर केवल संविधान के अतिक्रमण के लिए महाभियोग चलाया जा सकता है। राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग के लिए किसी एक सदन में आरोप लगाया जा सकता हैं। ऐसा आरोप सदन के कम से कम एक चौथाई सदस्यों द्वारा प्रस्तावित किया जा सकता है। ऐसे प्रस्ताव के लिए कम से कम 14 दिन पूर्व लिखित सूचना दिया जाना आवश्यक है। यदि संसद का वह सदन जिसमें राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग का आरोप लगाया गया है। महाभियोग के प्रस्ताव को सदन के कम से कम दो तिहाई बहुमत के समर्थन से एक संकल्प के रूप में पारित कर देता है तो दूसरा सदन राष्ट्रपति के विरूद्ध लगाये गये आक्षेप की जांच करता है अथवा जांच करवाता है। महाभियोग के लिए राष्ट्रपति के विरूद्ध लगाये गये आक्षेप की दूसरे सदन द्वारा जाँच किये जाते समय राष्ट्रपति को सदन के समक्ष अपना पक्ष एवं स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने का अधिकार होता है। राष्ट्रपति स्वयं अथवा अपने प्रतिनिधि के माध्यम से उपस्थित होकर अपना स्पष्टीकरण दे सकता है। दूसरे सदन द्वारा की गई जाँच में राष्ट्रपति के विरूद्ध लगाये गये आक्षेपों के सिद्ध हो जाने, और सदन द्वारा अपने कुल सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से महाभियोग के प्रस्ताव को पारित कर लेने की तिथि से राष्ट्रपति अपने पद से हटा हुआ समझ लिया जाता है। भारत में अभी तक किसी भी राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग का प्रस्ताव नहीं किया गया है।

राष्ट्रपति के वेतन, भत्ते और अन्य सुविधायें (Salary, allowances and other emoluments of President)

संविधान में प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रपति को बिना किराया दिए अपने शासकीय निवास के उपयोग का अधिकार होगा और उसे ऐसी परिलब्धियाँ, भत्ते और विशेषाधिकार भी प्राप्त होंगे जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे। संविधान में यह भी प्रावधान है कि राष्ट्रपति की परिलब्धियाँ और भत्ते उसकी पदावधि के दौरान कम नहीं किये जायेंगे। वर्तमान में राष्ट्रपति को निःशुल्क आवास तथा संसद द्वारा स्वीकृत अन्य भत्तों के अतिरिक्त 1.50 लाख रूपये मासिक वेतन प्रदान किया जाता है। पद से निवृत्त होने के पश्चात् भी राष्ट्रपति को पाँच लाख रूपये वार्षिक पेन्शन दी जाती है। सेवामुक्त राष्ट्रपति को निःशुल्क आवास, चिकित्सा, वाहन इत्यादि की सुविधा भी प्रदान की जाती है।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ (Powers of the President)

संविधान में राष्ट्रपति को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। वह राष्ट्राध्यक्ष के रूप में, तथा संघ की कार्यपालिका के प्रधान के रूप में शक्तियों का प्रयोग और दायित्वों का निर्वहन करता है। संविधान के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गयी है। संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को प्रदान की गयी शक्तियों को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

1. सामान्य शक्तियाँ
2. आपातकालीन शक्तियाँ

(1) सामान्य शक्तियाँ (General Powers)

राष्ट्रपति की सामान्य शक्तियों में कार्यपालिका शक्तियों, विधायी शक्तियों, वित्तीय शक्तियों, संविधान संशोधन के संबंध में शक्तियों तथा न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

(i) कार्यपालिका शक्तियाँ (Executive Powers) :

संघ की कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित हैं। संविधान के अनुच्छेद 73 में प्रावधान है कि संघ की कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग उन विषयों के सम्बन्ध में किया जा सकेगा जिनके संबंध में संसद को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार द्वारा किसी संधि या करार के आधार पर किये जाने वाले कृत्यों को भी संघ की कार्यपालिका शक्तियों के अधीन माना गया है। राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों के अन्तर्गत निम्न शक्तियों को गिनवाया जा सकता है :

(क) महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ (Important Appointments):

संघ के कार्यपालिका प्रधान के रूप में राष्ट्रपति को महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ करने की शक्ति प्राप्त है। वह प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करता हैं, तथा उसकी सलाह से मंत्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों की नियुक्ति करता है। मन्त्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपना पद धारण करते हैं। संविधान के प्रावधानों के अनुसार मंत्रि–परिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। इस प्रकार प्रधानमंत्री की नियुक्ति, और प्रधानमन्त्री व मंत्रियों के पद पर बने रहने के संबंध में राष्ट्रपति की शक्ति व्यवहार में सीमित हो जाती है। वह लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त व्यक्ति को ही प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त कर सकता है। इसी प्रकार मंत्रि–परिषद भी तब तक पद पर बनी रहती है, जब तक कि उसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। किन्तु ऐसी परिस्थितियों में, जबकि लोकसभा में किसी एक दल या चुनाव से पहले बने हुए गठबन्धन को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो, अथवा बहुमत के संबंध में स्थिति अस्पष्ट हो, राष्ट्रपति को

प्रधानमंत्री की नियुक्ति के संबंध में अपने विवेक के अनुसार निर्णय लेने का अवसर प्राप्त होता है।

राज्यों के राज्यपाल, उच्चतम तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों, भारत के महान्यायवादी (Attorney General), भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General), संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों, विदेशों में भारत के राजदूतों और अन्य राजनयिक पदाधिकारियों, भारत के मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की शक्ति राष्ट्रपति को प्राप्त है। नियुक्ति की शक्तियों का प्रयोग राष्ट्रपति अपने व्यक्तिगत विवेक के अधीन नहीं करता, अपितु मंत्रि–परिषद की सलाह के अनुसार करता है। राष्ट्रपति संघ के प्रशासन का अध्यक्ष होता है। संविधान में प्रावधान है कि संघ की सेवा के अधीन समस्त व्यक्ति राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करते हैं।

राष्ट्रपति को संघ के अधिकारियों को पद से हटाने का भी अधिकार प्राप्त है। इस संबंध में राष्ट्रपति अपनी शक्ति का प्रयोग संविधान के प्रावधानों के अधीन रहते हुए, तथा कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार करता है।

(ख) संघ की इकाइयों पर नियंत्रण
(Control over units of union)

राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह राज्य सरकारों को निर्देशित, नियंत्रित तथा समन्वित करे। राज्यों के पारस्परिक विवादों के निपटारे के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिये अनुच्छेद 263 के तहत अन्तर्राज्यीय परिषद का गठन करता है। वह किन्हीं संघीय विषयों का प्रशासन राज्य सरकार को सौंप सकता है। संघीय क्षेत्रों के प्रशासन का उत्तरदायित्व तो राष्ट्रपति पर होता ही है।

(ग) विभिन्न प्रकार के नियमों का निर्माण
(To Make Various Rules)

भारत सरकार के कार्य संचालन के संबंध में नियम बनाने का अधिकार भी राष्ट्रपति को प्राप्त है। राष्ट्रपति भारत सरकार के कार्यो को विभिन्न मंत्रियों को आवंटित किये जाने के संबंध में भी नियम बना सकता है।

(घ) सर्वोच्च सेनाओं का सेनापति
(Supreme Command of Defence Forces)

राष्ट्रपति भारत की समस्त सेनाओं का प्रधान सेनापति होता है किन्तु इस शक्ति का प्रयोग वह कानून के अनुसार ही कर सकता है।

(ii) विधायी शक्तियाँ (Legislative Powers)

संविधान ने राष्ट्रपति को संघ की संसद का अभिन्न अंग बनाया है। संसद के प्रत्येक सदन के अधिवेशन को बुलाने, तथा दोनों सदनों का या किसी एक सदन का सत्रावसान करने की शक्ति राष्ट्रपति को प्रदान की गयी है। राष्ट्रपति को लोकसभा का विघटन करने की भी शक्ति प्रदान की गयी है।

राष्ट्रपति संसद के किसी सदन अथवा संसद के दोनों सदनों की सामूहिक बैठक में अभिभाषण दे सकता है। संविधान के अनुच्छेद 87 में प्रावधान है कि राष्ट्रपति लोकसभा के प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् होने वाले पहले सत्र के आरम्भ में और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरम्भ में संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में अभिभाषण देगा। राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों के अन्तर्गत निम्न शक्तियों को गिनवाया जा सकता है:

(क) विधेयकों पर विलम्बकारी निषेधाधिकार का प्रयोग
(Use of Suspensive Veto on bills)

राष्ट्रपति को संसद के समक्ष विचाराधीन किसी विधेयक के संबंध में या अन्य किसी संदर्भ में संसद को संदेश भेजने का अधिकार प्राप्त है। संसद द्वारा पारित कोई भी विधेयक राष्ट्रपति के अनुमोदन के पश्चात् ही कानून बन सकता है। राष्ट्रपति को यह शक्ति प्राप्त है कि वह किसी विधेयक को पुनर्विचार के पश्चात् उस विधेयक को मूल रूप में अथवा संशोधित रूप में पारित कर दे तो राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति को नहीं रोक सकता। धन विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के पश्चात् ही लोकसभा में विचारार्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसलिए संसद द्वारा पारित धन विधेयकों के संबंध में राष्ट्रपति को अपनी अनुमति रोकने का अथवा उन्हें पुनर्विचार के लिए संसद के पास भेजने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। संविधान के अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत, संविधान संशोधन विधेयक संसद द्वारा पारित होने के बाद राष्ट्रपति के अनुमोदन के पश्चात् ही प्रभावी होता है किन्तु राष्ट्रपति संवैधानिक संशोधनों पर निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता।

(ख) अध्यादेश जारी करने की शक्ति
(Power To Promulgate ordinance)

राष्ट्रपति को संसद के सदनों के सत्र में नहीं होने पर अध्यादेश जारी करने की भी शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये अध्यादेश को संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाता है। संसद के पुनः आहूत होने से 6 सप्ताह से पूर्व इसे संसद द्वारा अनुमोदित किया जाना आवश्यक होता है, अन्यथा ऐसा अध्यादेश प्रभाव में नहीं रहता। राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा पारित कतिपय विधेयकों पर, अथवा किसी राज्य के

राज्यपाल द्वारा संबंधित राज्य के विधान मण्डल द्वारा पारित ऐसे विधेयकों पर, जिनको कि राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रख लिया गया हो, अनुमति देने की शक्ति राष्ट्रपति के पास है।

(ग) राज्यों के सम्बन्ध में (Power regarding States)

नये राज्यों के निर्माण और राज्यों की सीमा अथवा नामों में परिवर्तन से संबंधित विधेयक भी राष्ट्रपति की पूर्वानुमति से ही संसद में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(घ) सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार (Right to nominate the members)

राष्ट्रपति को साहित्य, कला–विज्ञान और समाज सेवा में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव रखने वाले 12 व्यक्तियों को राज्य सभा के सदस्य के रूप में मनोनीत करने की शक्ति प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 331 के अन्तर्गत यदि राष्ट्रपति की यह राय हो कि लोकसभा में आंग्ल भारतीय समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह उस समुदाय के अधिकतम दो सदस्यों को लोकसभा के सदस्य के रूप में मनोनीत कर सकता है।

(iii) वित्तीय शक्तियाँ (Financial Powers)

संघ के वित्त के संबंध में राष्ट्रपति को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गयी है। धन विधेयक लोकसभा में राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के पश्चात् ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। राष्ट्रपति को वित्त आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति की शक्ति प्रदान की गयी है। भारत की आकस्मिक निधि पर राष्ट्रपति का नियंत्रण होता है। यह आकस्मिक परिस्थिति में संसद की पूर्व अनुमति के बिना इस निधि में से व्यय करने की अनुमति दे सकता है। राष्ट्रपति द्वारा दी गयी ऐसी स्वीकृति पर बाद में संसद की स्वीकृति लिया जाना आवश्यक है।

(iv) न्याय सम्बधी शक्तियाँ (Judicial Powers)

राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय और राज्यों के उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। संविधान के अनुच्छेद 72 में राष्ट्रपति को, न्यायालय द्वारा सिद्ध–दोष किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा करने अथवा दण्ड की मात्रा कम करने का अधिकार प्रदान किया गया है। क्षमादान के इस अधिकार का प्रयोग राष्ट्रपति द्वारा सैनिक न्यायालय द्वारा दण्डित किये गये व्यक्तियों, मृत्यु दण्ड से संबंधित प्रकरणों, तथा ऐसे संबंधित अपराधों के प्रकरणों में किया जा सकता है जो संघ सरकार की कार्यपालिका शक्ति के अधीन आते हों।

उच्चतम न्यायालय के कार्य–प्रक्रिया संबंधी नियमों का अनुमोदन करने की शक्ति भी राष्ट्रपति को प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत राष्ट्रपति किसी भी वैधानिक प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय की राय प्राप्त कर सकता है।

(v) कूटनीतिक या राजनयिक शक्तियाँ (Diplomatic powers)

राष्ट्रपति राष्ट्राध्यक्ष के रूप में विदेशों में देश का प्रतिनिधित्व करता है। समस्त राजनयिक संव्यवहार राष्ट्रपति के नाम से ही सम्पन्न किये जाते हैं। विदेशों में भेजे जाने वाले राजनयिक प्रतिनिधियों, राजदूतों व वाणिज्य दूतों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। विदेशों के राजनयिक प्रतिनिधियों के प्रमाण–पत्र भी राष्ट्रपति स्वीकार करता है। अन्तर्राज्यीय संधियों और समझौते भी राष्ट्रपति स्वीकार करता है। अन्तर्राज्यीय संधियां और समझौते भी राष्ट्रपति के नाम से ही किये जाते हैं।

आपातकालीन शक्तियाँ (Emergency Powers)

भारत के संविधान में तीन प्रकार की आपातकालीन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है :

(1) राष्ट्रीय आपात

(2) किसी राज्य में सांविधानिक तंत्र का विफल हो जाना (राज्य आपात्)

(3) वित्तीय आपात

(1) राष्ट्रीय आपात (अनुच्छेद 352) (National Emergency)

संविधान के अनुच्छेद 352 में यह व्यवस्था की गयी है कि जब राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाये कि युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र आन्तरिक विद्रोह के कारण, भारत या उसके किसी भाग की सुरक्षा को संकट उत्पन्न हो गया है तो वह सम्पूर्ण देश या उसके किसी भाग में आपात्काल की उद्घोषणा कर सकता है। अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत भारत में अब तक तीन बार आपात्काल की घोषणा की गई है, 1962 में भारत पर चीन के आक्रमण के समय की गई आपात घोषणा 1968 तक जारी रही। अतः 1965 में भारत पाकिस्तान के आक्रमण के समय नये सिरे से आपात्काल लागू नहीं किया गया। 1971 में भारत पर पाकिस्तान के पुनः आक्रमण के समय एवं 1975 में आन्तरिक अशान्ति के आधार पर आपात्काल की घोषणा की गई। 1975 में घोषित आपात्काल के दौरान शक्तियों का दुरूपयोग किया गया। आपात् शक्तियों के दुरूपयोग को रोकने के लिए 44वें संविधान संशोधन द्वारा आपातकालीन प्रावधानों पर प्रतिबन्ध लगाये गये, वे अग्रवत् हैं :

44वें संविधान संशोधन के पश्चात् आपात् प्रावधान

1. राष्ट्रीय आपात घोषित करने की परिस्थिति के लिए 'आन्तरिक अशान्ति' के स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह' शब्द का प्रयोग

किया गया।

2. राष्ट्रपति द्वारा ऐसी उद्घोषणा केवल प्रधानमंत्री की सलाह से नहीं, ऐसी उद्घोषणा संघ के मंत्रिमण्डल के निर्णय की लिखित सूचना के पश्चात् ही की जा सकेगी।
3. अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत की गयी आपात्काल की उद्घोषणा को, एक माह की अवधि में संसद के दोनों सदनों द्वारा, पृथक–पृथक संकल्प पारित कर अनुमोदित किया जाना आवश्यक है।
4. यदि एक माह की अवधि में संसद के दोनों सदनों द्वारा आपात्काल की उद्घोषणा का अनुमोदन नहीं किया जाता है तो ऐसी उद्घोषणा प्रभाव में नहीं रहती।
5. राष्ट्रपति द्वारा की गयी आपाकाल की उद्घोषणा अधिकतम 6 माह की अवधि तक प्रभावी रह सकती है। यदि संसद के दोनों सदन पृथक–पृथक संकल्प पारित कर ऐसी उद्घोषणा को आगे बढ़ाने का निश्चय करें तो उसे अधिकतम 6 माह की अवधि के लिए और बढ़ाया जा सकता है। आपातकाल की उद्घोषणा का अनुमोदन करने अथवा आपातकाल के लागू रहने की अवधि को 6 माह की समाप्ति के पश्चात् और आगे बढ़ाने के संबंध में संसद द्वारा पारित संकल्प को , संसद के प्रत्येक सदन में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों में से कम से कम दो–तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थन प्राप्त होना चाहिए।
6. प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के संरक्षण के लिए कार्यवाही करने का अधिकार निलम्बित नहीं किया जा सकता।
7. यदि राष्ट्रपति द्वारा आपात्काल की उद्घोषणा किये जाने के पश्चात् संसद उसका अनुमोदन न करने का संकल्प पारित कर देती है तो राष्ट्रपति को आपात्काल की उद्घोषणा वापस लेनी होती है।
8. लोकसभा में उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों में साधारण बहुमत से आपात्काल की घोषणा समाप्त की जा सकती है।

राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल होने पर आपात की घोषणा (अनुच्छेद 356) (Proclamation of Emergency in case of failure of Constitutional machinery in States)

संविधान के अनुच्छेद 356 में यह प्रावधान किया गया है कि यदि राष्ट्रपति को, किसी राज्य के राज्यपाल को मिले प्रतिवेदन के आधार पर, या अन्यथा, यह विश्वास हो जाये कि राज्य में कि ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो गयी है ; जिनमें राज्य का शासन संविधान के प्रावधानों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो वह उस राज्य में संवैधानिक संकट की घोषणा कर सकता है। अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा की गयी ऐसी घोषणा को प्रचलित भाषा में ''राष्ट्रपति शासन'' लागू किया जाना कहा जाता है। अनच्छेद 356 के अन्तर्गत, किसी राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के संदर्भ में कार्यवाही करके राष्ट्रपति राज्य की विधानसभा को भंग या निलम्बित कर सकता है, तथा उस राज्य की सरकार के सभी कार्यों को सम्पन्न करने का अधिकार अपने हाथ में ले सकता है। ऐसी घोषणा के लागू रहने की अवधि में राष्ट्रपति, राज्य के विधान मण्डल में निहित शक्तियों का, संघ की संसद द्वारा उपयोग किया जायेगा।

संविधान में यह स्पष्ट किया गया है कि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत की गयी घोषणा के लागू रहने के दौरान भी राज्य के उच्च न्यायालय की शक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा की गयी उद्घोषणा को अनुमोदन के लिए संसद के दोनों सदनों के समक्ष पृथक–पृथक रखा जाता है। यदि घोषणा के लागू किये जाने के दो माह की अवधि में, संसद के दोनों सदन पृथक–पृथक, ऐसी उद्घोषणा का अनुमोदन करने का संकल्प पारित नहीं करें तो उद्घोषणा स्वतः निरस्त मान ली जाती है। वर्ष 1998 में बिहार राज्य में आपातकाल की उद्घोषणा कर दी गई थी किन्तु संसद में पारित न होने के कारण उद्घोषणा स्वतः निरस्त हो गई थी। अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत जारी उद्घोषणा का प्रभाव 6 माह की अवधि तक रहता है। संसद के दोनों सदन पृथक–पृथक संकल्प पारित कर ऐसी उद्घोषणा की अवधि को अगले 6 माह की अवधि के लिए और बढ़ा सकते हैं। किन्तु किसी भी स्थिति में उद्घोषणा के जारी रहने की अवधि 3 वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। संविधान में प्रावधान किया गया है कि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत की गयी उद्घोषणा एक वर्ष से अधिक अवधि के लिए केवल तभी जारी रखी जा सकती है जबकि निर्वाचन आयोग यह प्रमाणित कर दे कि ऐसी उद्घोषणा का जारी रहना संबंधित राज्य की विधानसभा के आम निर्वाचन कराने में होने वाली कठिनाईयों के कारण आवश्यक हो।

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता की उद्घोषणा की राष्ट्रपति की शक्ति भारत के संविधान के सर्वाधिक विवादास्पद प्रावधानों में से एक है। संविधान सभा में भी इस प्रावधान के औचित्य पर शंकाएँ की गयी थी। संविधान सभा में प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने यह आशा व्यक्त की थी कि इस अनुच्छेद का दुरूपयोग नहीं होगा तथा इसे अत्यन्त असामान्य परिस्थितियों

में केवल यदा–कदा ही प्रयोग में लाया जायेगा।

संविधान के लागू होने के पश्चात् से अब तक की अवधि में अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति की शक्तियों के उपयोग के उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि इस संबंध में संविधान सभा के सदस्यों द्वारा व्यक्त की गयी शंकाएं सही थी। अब तक 100 से अधिक बार इस शक्ति का उपयोग कर विभिन्न राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने की घोषणाएँ की जा चुकी हैं।

पूर्व में यह माना जाता था कि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत आपातकाल लागू करने तथा आपात परिस्थितियों के आकलन के विषय में राष्ट्रपति के विवेक में न्यायालय हस्तक्षेप नहीं करेगा किन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने **एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ** वाले मामले में यह स्पष्ट कर दिया है कि ऐसा प्रतीत होने पर कि इस शक्ति का उपयोग दुर्भावना या राजनीतिक विद्वेष के आधार पर किया गया है उसे न्यायिक समीक्षा से मुक्त नहीं रखा जा सकता व आपात् परिस्थितियों के आकलन में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रि–परिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है।

यह व्यवहार में भी प्रमाणित हो गया है कि वर्ष 1998 व 1999 में उत्तरप्रदेश व बिहार में राष्ट्रपति शासन लगाने की वाजपेयी सरकार की सलाह को राष्ट्रपति ने पुनर्विचार के लिए अपनी टिप्पणियों के साथ वापस भेजकर अपने विवेकाधिकार का प्रयोग किया है।

वित्तीय आपात (अनुच्छेद 360) (Financial Emergency)

संविधान के अनुच्छेद 360 में प्रावधान किया गया है कि यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो जाये कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारत या उसके किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या साख संकट में है तो वह देश या उसके किसी भाग में आपातकाल की घोषणा कर सकेगा। भारत में अभी तक वित्तीय आपात की स्थिति नहीं आई हैं।

राष्ट्रपति की स्थिति (Position of President)

भारत में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। इस कारण सामान्यतया यह स्वीकार किया जाता है कि संघ की कार्यपालिका शक्तियां व्यवहार में प्रधानमंत्री और मंत्रि–परिषद में निहित होती है तथा राष्ट्रपति कार्यपालिका का केवल औपचारिक प्रधान है। इस संबंध में भारत के राष्ट्रपति की तुलना ब्रिटेन के सम्राट से भी की जाती है। किन्तु कतिपय संविधान विशेषज्ञों का मत है कि भारत के राष्ट्रपति को केवल औपचारिक या नाममात्र का कार्यपालिका प्रधान मानना उचित नहीं है तथा संविधान द्वारा राष्ट्रपति को वास्तविक शक्तियाँ भी प्रदान की गयी हैं। राष्ट्रपति की स्थिति के वास्तविक आकलन के लिए उपर्युक्त दोनों धारणाओं का परीक्षण किया जाना आवश्यक है।

(i) संवैधानिक प्रधान की धारणा (Concept of Constitutional Head)

राष्ट्रपति को संवैधानिक प्रधान मानने की धारणा मुख्यतः इस तथ्य पर आधारित है कि भारत में संसदीय प्रणाली को अपनाने के कारण, कार्यपालिका की वास्तविक शक्तियाँ प्रधानमंत्री और मंत्रि–परिषद में निहित मानी जाती हैं। इसी कारण भारत में राष्ट्रपति की स्थिति ब्रिटेन के सम्राट की भाँति मानी जाती है, जिसके विषय में ब्रिटिश संवैधानिक व्यवस्था में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि "वह राज्य करता है, शासन नहीं।" भारत में संविधान के लागू होने के पश्चात् से ही ब्रिटिश प्रणाली की भांति यह परम्परा प्रचलित रही कि राष्ट्रपति को सदैव मंत्रि–परिषद् की सलाह के अनुसार ही कार्य करना होता है।

संविधान के लागू होने के पश्चात् भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने राष्ट्रपति की स्वविवेकीय शक्तियों का तर्क प्रस्तुत करते हुए यह मत व्यक्त किया था कि उसकी तुलना ब्रिटिश सम्राट से किया जाना उचित नहीं है। किन्तु स्वयं उन्होंने भी, और उनके पश्चात् निर्वाचित हुए राष्ट्रपतियों ने सामान्यतः मंत्रि–परिषद् की सलाह के अनुसार ही कार्य करने की परम्परा का पालन किया।

संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 74(1) में संशोधन कर यह व्यवस्था कर दी गयी कि राष्ट्रपति मंत्रि–परिषद की सलाह के अनुसार ही कार्य करेगा। 44वें संविधान संशोधन के माध्यम से अनुच्छेद 74 में पुनः संशोधन कर यह प्रावधान कर दिया गया कि राष्ट्रपति मंत्रि–परिषद द्वारा दी गयी सलाह को एक बार मंत्रि–परिषद् के पुनर्विचार के लिए भेज सकता है, किन्तु पुनर्विचार के पश्चात् मंत्रि–परिषद् द्वारा दी गयी सलाह के अनुसार ही राष्ट्रपति को कार्य करना होता हैं।

(ii) राष्ट्रपति की वास्तविक शक्तियों की धारणा (Concept of Nominal Head)

संविधान के 42वें और 44वें संशोधन के पश्चात्, इस परम्परा को सांविधानिक आधार प्राप्त हो गया है कि राष्ट्रपति कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान नहीं है, तथा कार्यपालिका की वास्तविक शक्तियाँ प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् में निहित है। कतिपय विशेषज्ञों का यह मत है कि संविधान के 42वें व 44वें संशोधन के पश्चात् भी यह मानना उचित नहीं है कि राष्ट्रपति मंत्रि–परिषद् की कठपुतली मात्र, अथवा उसके पास वास्तव में कोई शक्तियाँ ही नहीं हैं। व्यवहार में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जिनमें राष्ट्रपति को स्वविवेक से निर्णय करना होता है। संविधान के अनेक प्रावधान भी राष्ट्रपति की कतिपय वास्तविक शक्तियों का

संकेत देते हैं। संविधान के ऐसे प्रावधानों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भले ही संसदीय शासन प्रणाली के अनुरूप यह माना जाये कि राष्ट्रपति शासनाध्यक्ष नही है, केवल राष्ट्राध्यक्ष है, तथा शासन का अध्यक्ष प्रधानमंत्री को माना जाना चाहिए, तथापि भारत के राष्ट्रपति की तुलना ब्रिटेन के सम्राट से किया जाना उचित नहीं है। संविधान के ऐसे प्रावधानों में मुख्यतः अग्रांकित की गणना की जा सकती है :

(1) भारत का राष्ट्रपति निर्वाचित है, वह वंशानुगत प्रधान नहीं है।

(2) ब्रिटेन के सम्राट की गरिमा इस उक्ति में निहित मानी जाती है कि ''सम्राट कोई गलती नहीं करता।'' इस उक्ति का व्यवहार में अर्थ यह है कि वस्तुतः सम्राट किन्ही शक्तियों का प्रयोग ही नहीं करता, अतः उसके द्वारा गलती भी नहीं होती। जबकि भारत के राष्ट्रपति के लिए संविधान के प्रावधानों के उल्लंघन पर महाभियोग चलाने का प्रावधान है। महाभियोग के प्रावधान से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति अपने विवेक से भी शक्तियों का प्रयोग कर सकता है।

(3) राष्ट्रपति संविधान का संरक्षण, प्रतिरक्षण व परिरक्षण करने के लिए शपथबद्ध है। इस प्रकार राष्ट्रपति पर संविधान के संरक्षण का महत्त्वपूर्ण दायित्व है। यह स्पष्ट है कि यदि मंत्रि–परिषद् प्रधानमंत्री को संविधान के विपरीत कोई परामर्श दे तो राष्ट्रपति ऐसे परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं माना जा सकता।

(4) राष्ट्रपति की भूमिका दोहरी है। वह संघ की कार्यपालिका का प्रधान है किन्तु वह राष्ट्राध्यक्ष भी है। यह सुनिश्चित करना उसका दायित्व है कि राज्यों का शासन संवैधानिक रीति से चले। इस रूप में राज्यों से संबंधित विषयों मे उसे मंत्रि–परिषद् की सलाह से बँधा हुआ मानना उचित नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया भी ऐसी है जिसमें राज्यों की विधानसभाओं और संघ की संसद के मतों की समान प्रभावशीलता को सुनिश्चित किया गया है। राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि उसे राज्यों का भी प्रतिनिधि बनाया गया है। अतः यह उनका दायित्व है कि वह राज्यों से संबंधित विषयों में केवल केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के निर्देश से बंधा हुआ नहीं रहे। राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की शक्ति के प्रयोग के सन्दर्भ में उससे मंत्रि–परिषद् की राय की अपेक्षा निष्पक्ष रूप से परिस्थितियों के आकलन की अपेक्षा की गयी है। एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ वाले वाद में उच्चतम न्यायलय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत अपनी शक्ति का प्रयोग करने में राष्ट्रपति मंत्रि–परिषद् की सलाह से बंधा हुआ नहीं है। अक्टूबर, 1997 में उत्तरप्रदेश में एवं 1998 में बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू करने की मंत्रि–परिषद् की सलाह को पुनर्विचार के लिए लौटाकर भारत के राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायणन् ने, इस संबंध में स्वतंत्र निर्णय लेने की राष्ट्रपति की शक्ति को रेखांकित किया है।

राष्ट्रपति की स्थिति के सन्दर्भ में उपर्युक्त दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों के विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामान्यतः संसदीय प्रणाली की अपेक्षा के अनुरूप राष्ट्रपति मंत्रि–परिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करता है। इस प्रकार वह वास्तविक शासक नहीं है। संविधान में ''अवरोध और संतुलन'' प्रणाली भी है जिसके कारण राष्ट्रपति निरंकुश नहीं बन सकता। किन्तु इसे ब्रिटिश सम्राट की भांति ''स्वर्णिम शून्य'' भी नहीं कहा जा सकता। वह एक गणतंत्र का निर्वाचित राष्ट्राध्यक्ष है। जटिल परिस्थितियों में संविधान के संरक्षण का महत्त्वपूर्ण दायित्व राष्ट्रपति पर ही है अतः विशिष्ट परिस्थितियों में उसके द्वारा स्वविवेक से निर्णय किया जाना वांछनीय भी है और उचित भी।

राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के मध्य संबंध

(Relationship between President and Prime Minister) :

(क) संबंधों का संवैधानिक स्वरूप

(Consititutional Nature of Relations)

संघ की कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान के रूप में राष्ट्रपति से सामान्यतः शासन के कार्यों में व्यापक हस्तक्षेप की अपेक्षा नहीं की जाती। सामान्य परिस्थितियों में शासन की शक्तियों का उपयोग प्रधानमंत्री द्वारा मंत्रिपरिषद् के साथ मिलकर किया जाता है। ब्रिटेन के सम्राट की भांति ही भारत का राष्ट्रपति भी शासन के सामान्य कार्यों से स्वयं को पृथक रखता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्रपति व्यवहार में सरकार की गतिविधियों व कार्य–करण के संबंध में अपनी आँखे मींच ले, तथा उनसे बिल्कुल उदासीन हो जाये। व्यवहार में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् के ''मित्र, हित–चिन्तक व पथ प्रदर्शक'' की भांति कार्य कर सकता है। स्वयं संविधान में भी शासकीय कार्यों पर सजग दृष्टि रखने के संबंध में राष्ट्रपति की भूमिका को स्वीकार किया है। संविधान ने प्रधानमंत्री पर यह दायित्व डाला है कि वह राष्ट्रपति द्वारा अपेक्षा किये जाने पर शासन से संबंधित गतिविधियों व विधायन के प्रस्तावों के विषय में राष्ट्रपति को सूचनाएँ दे। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री व संसद, तथा प्रधानमंत्री व मंत्रिपरिषद् के मध्य कड़ी के रूप में भी कार्य कर

सकता है। राष्ट्रपति किसी मंत्री द्वारा लिए गए निर्णय को मंत्रिपरिषद् के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करने के लिए प्रधानमंत्री को निर्देश दे सकता है। जब राष्ट्रपति इस विषय में आश्वस्त होना चाहे कि प्रधानमंत्री को लोकसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त है, या नहीं है, तो वह प्रधानमंत्री को लोकसभा का विश्वासमत प्राप्त करने का निर्देश दे सकता है।

(ख) व्यवहार में राष्ट्रपति–प्रधानमंत्री संबंध

(Actual Relationship between President and Prime Minister):

भारत में संविधान के लागू होने के पश्चात् राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के मध्य सौहार्द्रपूर्ण संबंधों के निर्वाह के लिए स्वस्थ परम्पराएँ विकसित हुई हैं। इन परम्पराओं के माध्यम से राष्ट्रपति द्वारा शासन के नित्य–प्रति के कार्यों में हस्तक्षेप न किये जाने के बावजूद, शासन के कार्यों में उसकी मैत्रीपूर्ण सहभागिता को सुनिश्चित किया गया है। यह परम्परा रही है कि भारत का प्रधानमंत्री, शासकीय विदेश यात्राओं से लौटने पर यात्रा के उद्देश्य और प्रभावों के विषय में राष्ट्रपति से भेंट कर उन्हें अवगत कराता है।

भारत में सामान्यतः विभिन्न राष्ट्रपतियों और प्रधानमंत्रियों के मध्य मधुर संबंध रहे हैं। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और प्रधानमंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू के मध्य अनेक बार नीति संबंधी प्रश्नों पर मतभेद हुए, किन्तु ये मतभेद व्यक्तिगत कटुता अथवा टकराव के रूप में कभी व्यक्त नहीं हुए। हिन्दू कोड बिल को पारित किये जाने के प्रश्न पर डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपने संकोच से प्रधानमंत्री को अवगत कराया, लेकिन बाद में उस पर हस्ताक्षर कर दिए। गुजरात में सोमनाथ मंदिर के जीर्णोद्धार के क्रम में हुए समारोह में तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के सम्मिलित होने पर प्रधानमंत्री नेहरू सहमत नहीं थे, फिर भी डॉ. राजेन्द्र प्रसाद इस कार्यक्रम में सम्मिलित हुए। भारत के द्वितीय राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन और प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू के मध्य अनेक बिन्दुओं पर कई बार मतभेद दृष्टिगत हुए। श्री वी. के. कृष्णमेनन् को मंत्रिपरिषद् से हटाने, प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का निधन हो जाने पर उसकी अंत्येष्टि में डॉ. राधाकृष्णन के भाग लेने आदि बिन्दुओं पर उनमें मतभेद प्रकट हुए, किन्तु जवाहर लाल नेहरू और उपर्युक्त दोनों राष्ट्रपतियों के मध्य उत्पन्न हुए मतभेदों के पश्चात् भी राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के समक्ष संघर्ष की स्थिति नहीं आयी, और ऐसे छुटपुट मतभेदों को इन संवैधानिक पदों की गरिमा के अनुरूप सुलझा लिया गया।

राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह के कार्यकाल में भी, उनके समय में रहे दो प्रधानमंत्रियों श्रीमती इंदिरा गांधी और श्री राजीव गांधी से मतभेद के अवसर उपस्थित हुए। आतंककारी गतिविधियों की रोकथाम के लिए स्वर्ण मंदिर में "ऑपरेशन ब्लू स्टार" नामक सैन्य कार्यवाही के संबंध में ज्ञानी जैल सिंह ने तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी से इस बात पर असंतोष प्रकट किया कि इस कार्यवाही से पूर्व उन्हें विश्वास में नहीं लिया गया। प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी के साथ राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह के मतभेद काफी चर्चित रहे। श्री राजीव गांधी ने पूर्व प्रधानमंत्रियों द्वारा स्थापित इस परम्परा का भी उल्लंघन किया कि विदेश यात्रा से लौटकर प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति से भेंट करें। वर्ष 1984 में दिल्ली में हुए दंगों के संबंध में गठित ठक्कर आयोग की रिपोर्ट, राष्ट्रपति श्री जैलसिंह द्वारा अपेक्षा किये जाने पर भी उन्हें प्रस्तुत नहीं की गयी। इस बिन्दु पर भी प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के मध्य मतभेद हुए। श्री राजीव गांधी के मंत्रिमण्डल के एक सदस्य श्री के. के. तिवारी ने राष्ट्रपति के विरुद्ध कतिपय प्रतिकूल सार्वजनिक टिप्पणियां की। इन टिप्पणियों से क्षुब्ध होकर राष्ट्रपति श्री जैलसिंह ने प्रधानमंत्री से अपेक्षा की कि वे श्री के. के. तिवारी को मंत्रिपरिषद् से हटा दें। प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी द्वारा श्री तिवारी से त्यागपत्र ले लिए जाने के कारण इस संबंध में राष्ट्रपति के साथ टकराव की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। ज्ञानी जैलसिंह और श्री राजीव गांधी के मध्य टकराव इस सीमा तक बढ़ गये थे कि राजनैतिक क्षेत्रों में यह आशंका भी व्यक्त की जाने लगी कि कहीं राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री को बर्खास्त नहीं कर दें। किन्तु राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने इस संबंध में संसदीय प्रणाली की परम्पराओं का आदर करते हुए, राज्य के संवैधानिक प्रमुख के रूप में ही अपनी भूमिका का निर्वाह किया। यह भारतीय संसदीय लोकतंत्र की परिपक्वता का प्रमाण था कि उस समय विपक्ष के प्रमुख नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भी राष्ट्रपति से यह अपेक्षा की कि वे लोकसभा में बहुमत द्वारा समर्थित प्रधानमंत्री को बर्खास्त करने जैसा कोई कदम नहीं उठायें, क्योंकि ऐसा करना संसदीय लोकतंत्र के सिद्धान्तों के प्रतिकूल होगा।

आठवें राष्ट्रपति श्री वेंकटरमन भी तत्कालीन सत्तारूढ दल कांग्रेस के अधिकृत प्रत्याशी थे। राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के रूप में उनके चयन में भी तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी की निर्णायक भूमिका थी। प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी से उनके टकराव के संदर्भ उपस्थित नहीं हुए। बाद में राष्ट्रीय मोर्चा के प्रधानमंत्री श्री वी.पी. सिंह और उनके बाद बने प्रधानमंत्री श्री चंद्रशेखर से भी उनके संबंध मधुर रहे।

भारत के नौवें राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा भी तत्कालीन सत्तारूढ़ कांग्रेस (इ) के प्रत्याशी के रूप में निर्वाचित हुए थे। राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के रूप में उनके चयन में तत्कालीन

प्रधानमंत्री श्री पी. वी. नरसिंहराव की सहमति और निर्णायक भूमिका रही थी। डॉ. शर्मा के कार्यकाल में प्रधानमंत्री रहे श्री राव, श्री अटल बिहारी वाजपेयी, श्री एच.डी.देवेगौड़ा तथा श्री इन्द्र कुमार गुजराल से उनके संबंध सामान्यतः मधुर रहे। इनमें से बाद में तीन प्रधानमंत्री कांग्रेस से भिन्न दलों के थे, फिर भी राष्ट्रपति के किसी प्रधानमंत्री से टकराव के अवसर उपस्थित नहीं हुए।

भारत के 10वें राष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन् और सत्तारूढ़ गठबंधन राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के समर्थक दल कांग्रेस (इ) तथा मुख्य विपक्षी दल भाजपा व उसके अधिकांश सहयोगी दलों का समर्थन प्राप्त था। इस प्रकार वे व्यवहारतः मुख्य राष्ट्रीय दलों के मध्य आम सहमति से चुने गये राष्ट्रपति थे। उनकी कार्यशैली में स्वतंत्र व निष्पक्ष दृष्टिकोण परिलक्षित हुआ है। श्री इन्द्रकुमार गुजराल की सरकार ने उत्तरप्रदेश में श्री कल्याण सिंह द्वारा विधानसभा में बहुमत सिद्ध करने के पश्चात् भी, जब राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की तो राष्ट्रपति श्री नारायणन ने इसे मंत्रिपरिषद को वापस लौटा दिया। बाद में मंत्रिपरिषद ने अपनी सिफारिश को वापस ले लिया।

भारत के 11 वें राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन समर्थित उम्मीदवार थे अतः डॉ. कलाम एवं प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण थे।

भारत में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के मध्य संबंधों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि दो सांविधानिक पदों के मध्य टकराव के अवसर उपस्थित नहीं हुए हैं। मतभेद के बिन्दु उपस्थित होने पर, इन पदों पर आसीन व्यक्तियों ने मतभेद का समाधान किया है, तथा संवैधानिक परम्पराओं के अनुसार परस्पर आदर का भाव प्रकट किया है। ऐसी परिस्थितियों में भी, जबकि राष्ट्रपति व प्रधानमंत्री भिन्न दलों के रहे हैं, प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के मध्य व्यक्तिगत टकराव के अवसर उपस्थित नहीं हुए हैं।

उप–राष्ट्रपति (Vice-President)

संविधान में भारत के लिए एक उप–राष्ट्रपति की व्यवस्था की गई है। वरिष्ठता क्रम में राष्ट्रपति के पश्चात् उप–राष्ट्रपति को स्थान प्राप्त है। भारत के उप–राष्ट्रपति का पद, संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति भारत में भी उप–राष्ट्रपति को संघीय संसद के उच्च सदन (राज्यसभा) का पदेन सभापित बनाया गया है। संविधान के अनुच्छेद 63 से 70 तक उप–राष्ट्रपति पद के संबंध में विभिन्न प्रावधान किये गये हैं।

योग्यताएँ (Qualifications)

उप–राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए संविधान में पात्रता की अग्रांकित शर्तें निर्धारित की गई हैं:

(क) वह भारत का नागरिक हो,

(ख) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,

(ग) राज्यसभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए योग्य हो,

(घ) वह सरकार (संघ, राज्य, स्थानीय) के किसी लाभ के पद पर विद्यमान न हो,

(ङ) वह संसद या राज्य विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य न हो। किसी ऐसे सदस्य के उपराष्ट्रपति होने के बाद उसकी सदस्यता स्वतः ही समाप्त हो गई मान ली जाती है।

निर्वाचन (Election)

उप–राष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों के सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मण्डल के सदस्यों द्वारा किया जाता है। निर्वाचन के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत प्रणाली तथा गुप्त मतदान को अपनाया गया है। संविधान में प्रारम्भ में संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में उप–राष्ट्रपति के निर्वाचन की व्यवस्था थी। वर्ष 1961 में पारित किये गये संविधान के 11वें संशोधन के द्वारा इस व्यवस्था को बदलकर निर्वाचक मण्डल के सदस्यों द्वारा उप–राष्ट्रपति के निर्वाचन की व्यवस्था की गयी है। भारत की संविधानसभा में कतिपय सदस्यों द्वारा दिए गये इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया गया था कि उप–राष्ट्रपति के निर्वाचन में भी राष्ट्रपति के निर्वाचन की भांति संसद के दोनों सदनों के सदस्यों के अतिरिक्त राज्यों की विधानसभा के सदस्यों की भागीदारी हो।

पदावधि (Term)

उप–राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करने की तिथि से 5 वर्ष की अवधि तक पद धारण करता है।

पद से हटाये जाने की प्रक्रिया (Procedure to remove from the office)

उप–राष्ट्रपति को पद से हटाये जाने के लिए संविधान में किन्हीं आधारों को संविधान में वर्णित नहीं किया गया है। उप–राष्ट्रपति समय से पूर्व स्वेच्छा से त्यागपत्र दे सकता है। उसे राज्यसभा के उस प्रस्ताव द्वारा, जिसे राज्यसभा के कुल सदस्यों के पूर्ण बहुमत से पारित किया गया हो और लोकसभा ने उसे स्वीकार कर लिया हो, पदच्युत किया जा सकता है परन्तु इस प्रकार का प्रस्ताव 14 दिन के पूर्व नोटिस पर ही पारित किया जा सकता है।

शपथ (Oath)

उप–राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति अथवा उसके द्वारा इस कार्य के लिए नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष संविधान में निर्धारित प्रारूप के अनुसार शपथ ग्रहण करता है। उप–राष्ट्रपति शपथ के द्वारा विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति सच्ची श्रद्धा और निष्ठा, और अपने पद के कृत्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करने का संकल्प लेता है।

वेतन व भत्ते (Salary and Allowances)

उप–राष्ट्रपति को राज्यसभा के सभापति के रूप में वेतन और भत्ते प्राप्त होते हैं। वह उप–राष्ट्रपति के रूप में सुसज्जित निःशुल्क आवास और अन्य सुविधाओं का भी अधिकारी होता है। वर्तमान में उप–राष्ट्रपति को 1.25 लाख रू. प्रतिमाह वेतन प्रदान किया जाता है।

शक्तियां व कार्य (Powers and Functions)

यद्यपि संविधान में उप–राष्ट्रपति का उल्लेख संघ की कार्यपालिका से संबंधित अध्याय में किया गया है किन्तु संविधान में उप–राष्ट्रपति को कार्यपालिका संबंधी कोई कार्य प्रदान नहीं किये गये है। उप–राष्ट्रपति के दो प्रमुख कार्य हैं:

1. उसे संसद के उच्च सदन अर्थात् राज्यसभा का सभापति बनाया गया है वह नियमित रूप से राज्यसभा के सभापति के रूप में ही अपने कृत्यों का निर्वाह और शक्तियों का प्रयोग करता है।
2. संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति के पद पर अस्थाई रिक्ति होने, अथवा राष्ट्रपति के पद–त्याग या मृत्यु के कारण, उप–राष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- राष्ट्रपति संघ की कार्यपालिका का प्रधान होता है।
- संविधान के अनुच्छेद 58 में राष्ट्रपति पर निर्वाचित होने की योग्यताओं का वर्णन किया गया है।
- राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचन मण्डल द्वारा, निर्वाचन मण्डल में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य एवं राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होते हैं।
- राष्ट्रपति के निर्वाचन में भिन्न भिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व के पैमाने में एकरूपता रखने की दृष्टि से निर्वाचक मण्डल के समस्त सदस्यों के मतों का मूल्य निर्धारित किया जाता है। मूल्य निर्धारण का सूत्र है

$$\text{राज्य की विधानसभा के सदस्य के मतों का मूल्य} = \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{विधानसभा के सदस्यों की कुल निर्वाचित संख्या}} \div 1000$$

$$\text{ससंद के प्रत्येक सदन के निर्वाचित सदस्य के मत का मूल्य} = \frac{\text{राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों के मतों की कुल संख्या}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की सख्या}}$$

- राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार "एकल संक्रमणीय मत प्रणाली" के आधार पर होता है।
- राष्ट्रपति को निर्वाचित होने के लिए न्यूनतम मत प्राप्त करने आवश्यक है।

  न्यूनतम मत संख्या निश्चित करने का सूत्र है :

$$\text{न्यूनतम मत संख्या} = \frac{\text{वैध मतों की संख्या}}{2} + 1$$

- वर्तमान में राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिए कम से कम 50 प्रस्तावकों व 50 अनुमोदकों का होना अनिवार्य है व जमानत राशि 15,000/– रू. है।
- अनुच्छेद 61 के अनुसार राष्ट्रपति को संविधान के अतिक्रमण पर पद से महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है।
- महाभियोग के लिए किसी एक सदन द्वारा आरोप लगाया जा सकता है व दूसरा सदन उसकी जाँच करता है। ऐसा प्रस्ताव लाने के लिए सदन के कम से कम एक–चौथाई सदस्यों द्वारा प्रस्तावित किया जा सकता है व ऐसे प्रस्ताव के लिए कम से कम 14 दिन की लिखित सूचना दिया जाना आवश्यक है।
- महाभियोग के प्रस्ताव को सदन के कम से कम दो–तिहाई बहुमत के समर्थन से एक संकल्प के रूप में पारित करने पर ही दूसरा सदन उसकी जाँच करता है।
- वर्तमान में राष्ट्रपति को निःशुल्क आवास तथा संसद द्वारा स्वीकृत अन्य भत्तों के अतिरिक्त 1.50 लाख रू. मासिक वेतन प्रदान किया जाता है व सेवामुक्त होने पर 5 लाख रूपये वार्षिक की पेन्शन दी जाती है।
- राष्ट्रपति की शक्तियों को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

  1. सामान्य शक्तियाँ 2. आपातकालीन शक्तियाँ
- सामान्य शक्तियों के अन्तर्गत कार्यपालिका, विधायी, वित्तीय, न्याय संबंधी एवं कूटनीतिक शक्तियों को गिनवाया जा सकता है।

- आपातकालीन शक्तियों में अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राष्ट्रपति युद्ध, बाह्य आक्रमण व सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में आपात् की घोषणा कर सकता है। अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य में संवैधानिक तंत्र के विफल होने पर राज्य में आपातकाल की घोषणा कर सकता है। अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत वित्तीय आपात की घोषणा की जा सकती है।
- संवैधानिक रूप से सामान्यतः संसदीय प्रणाली की अपेक्षा के अनुरूप राष्ट्रपति मंत्रि–परिषद की सलाह के अनुसार कार्य करता है। इस प्रकार वह वास्तविक शासक नहीं है।
- जटिल परिस्थितियों में संविधान के संरक्षण का महत्त्वपूर्ण दायित्व राष्ट्रपति पर हैं। विशिष्ट परिस्थितियों में उसके द्वारा स्वविवेक से निर्णय किया जाना वांछनीय है।
- संविधान में भारत के लिए एक उपराष्ट्रपति की व्यवस्था की गई है।
- उपराष्ट्रपति उच्च सदन (राज्यसभा) का पदेन सभापति होता है।
- उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता है। यह व्यवस्था 11वें संवैधानिक संशोधन द्वारा की गई है। निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत प्रणाली तथा गुप्त मतदान को अपनाया जाता है।
- उप–राष्ट्रपति राज्यसभा के कुल सदस्यों के पूर्ण बहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा और लोकसभा ने उसे स्वीकार कर लिया हो, पदच्युत किया जा सकता है ऐसा प्रस्ताव 14 दिन के पूर्व नोटिस पर ही पारित किया जा सकता है।
- उप–राष्ट्रपति राज्यसभा का सभापति होता है व राष्ट्रपति पद पर अस्थाई रिक्ति होने अथवा राष्ट्रपति के पद त्याग या मृत्यु के कारण, उप–राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

निम्नाकित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में अंकित कीजिये–

(1) राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल के सदस्य निम्नलिखित हैं –
(अ) संसद के सभी सदस्य
(ब) लोकसभा के निर्वाचित सदस्य
(स) विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य
(द) संसद एवं राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य ( )

(2) राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग लगाया जा सकता है–
(अ) राज्य के विधान मण्डल में
(ब) केवल राज्यसभा में
(स) केवल लोकसभा में
(द) संसद के किसी भी सदन में ( )

(3) राज्य सभा का सभापति होता है –
(अ) राष्ट्रपति (ब) प्रधानमंत्री
(स) उप–राष्ट्रपति
(द) नियन्त्रक एवं महा लेखा परीक्षक ( )

(4) भारत में संघ की कार्यपालिका का प्रधान है–
(अ) प्रधानमंत्री (ब) मंत्रि–परिषद
(स) उप–राष्ट्रपति (द) राष्ट्रपति ( )

(5) उप–राष्ट्रपति को पद से हटाने के लिए आवश्यक है–
(अ) राज्यसभा के सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित संकल्प
(ब) लोकसभा के सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित संकल्प
(स) राज्यों के विधान मण्डलों के सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित संकल्प
(द) राज्यसभा के सदस्यों के बहुमत द्वारा पारित संकल्प एवं लोकसभा द्वारा इसकी पुष्टि। ( )

(6) उपराष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल के सदस्य
(अ) संसद के सदनों के सदस्य
(ब) लोकसभा के निर्वाचित सदस्य
(स) विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य
(द) संसद व राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य( )

(7) राष्ट्रपति का मासिक वेतन कितना होता है–
(अ) 25,000 रू. (ब) 1.50 लाख रू.
(स) 35,000 रू. (द) 30,000 रू. ( )

(8) उपराष्ट्रपति का मासिक वेतन कितना होता है
(अ) 25,000 रू. (ब) 50,000 रू.
(स) 1.25 लाख रू. (द) 35,000 रू. ( )

(9) उपराष्ट्रपति का कार्यकाल कितना होता है
(अ) 3 वर्ष (ब) 4 वर्ष
(स) 6 वर्ष (द) 5 वर्ष ( )

(10) राष्ट्रपति किसके समक्ष शपथ लेता है
(अ) प्रधानमंत्री (ब) मुख्य न्यायाधीश के समक्ष

(स) उपप्रधानमंत्री (द) उपराष्ट्रपति के समक्ष ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

(1) राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल का निर्माण किस प्रकार होता है।

(2) राष्ट्रपति के निर्वाचन पद्धति में न्यूनतम मतों का कोटा (Quota) निर्धारित करने का सूत्र क्या है?

(3) संविधान के किन अनुच्छेदों में आपात्कालीन उद्घोषणाओं का प्रावधान किया गया है?

(4) राज्य सभा का सभापति कौन होता है?

(5) राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग किन आधारों पर लगाया जा सकता है?

(6) उपराष्ट्रपति शपथ कैसे लेता है ?

(7) उपराष्ट्रपति के वेतन, भते व सुविधाएँ बताइए ?

(8) राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियां के नाम लिखिये ?

(9) राष्ट्रपति अपना त्याग पत्र किसे देता है ?

(10) उपराष्ट्रपति की योग्यताएं बताइए ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

(1) उप–राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति बताईये।

(2) राष्ट्रपति को पद से हटाने की प्रक्रिया समझाइये।

(3) उपराष्ट्रपति को पदमुक्त कैसे किया जा सकता है?

(4) संविधान के अनुच्छेद 356 में राष्ट्रपति के किन शक्तियों का प्रावधान है।

(5) राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों का वर्णन कीजिये।

(6) राष्ट्रपति के वेतन, भते और अन्य सुविधाएं का वर्णन कीजिए।

(7) राष्ट्रपति की विद्यायी शक्तियों का वर्णन कीजिए।

(8) वित्तीय आपात पर टिप्पणी लिखिए।

(9) भारत के राष्ट्रपति की ब्रिटेन के सम्राट से समानता बताइए।

(10) राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के मध्य सम्बन्धों का वर्णन कीजिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) भारत में राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति का विश्लेषण कीजिये।

(2) राष्ट्रपति की शक्तियों का विवेचन कीजिये।

(3) राष्ट्रपति की आपात्कालीन शक्तियों की समीक्षा कीजिये।

(4) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राष्ट्रपति की स्थिति की व्याख्या कीजिये।

(5) क्या भारत के राष्ट्रपति की शक्तियाँ वास्तविक हैं? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिये।

उत्तरमाला

(1) द (2) द (3) स (4) अ (5) द
(6) अ (7) ब (8) स (9) द (10) ब

इकाई–V

अध्याय–8

प्रधानमंत्री व मंत्रिपरिषद

(Prime Minister and Council of Ministers)

प्रधानमंत्री (Prime Minister)

भारत में संसदीय प्रणाली को अपनाये जाने के कारण औपचारिक रूप से संविधान द्वारा राष्ट्रपति में निहित की गयी कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग, व्यवहार में प्रधानमंत्री और मंत्रि–परिषद द्वारा किया जाता है। प्रधानमंत्री भारतीय संसदीय प्रणाली की धुरी है।

संविधान में राष्ट्रपति को परामर्श और सहायता प्रदान करने के लिए एक मंत्रि–परिषद् की व्यवस्था की गयी है, तथा कहा गया है कि उसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा। सांविधानिक दृष्टि से भारतीय प्रधानमंत्री की स्थिति ब्रिटिश प्रधानमंत्री की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। ब्रिटेन में उसे सांविधानिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से "बराबर वालों में प्रथम" माना जाता है किन्तु भारत में प्रधानमंत्री सांविधानिक रूप से मंत्रि–परिषद् के अन्य सदस्यों की तुलना में विशिष्ट महत्व रखता है।

नियुक्ति (Appointment)

संविधान के अनुच्छेद 75 के अनुसार प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। यद्यपि संविधान में प्रधानमंत्री की नियुक्ति के संबध में राष्ट्रपति के लिए कोई सिद्धान्त या दिशा–निर्देश नहीं दिये गये हैं, किन्तु यह स्पष्ट किया गया है कि मंत्रि–परिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। इस प्रावधान के माध्यम से भारत में संसदीय शासन प्रणाली की इस अपेक्षा को सांविधानिक आधार प्रदान किया गया है कि लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल या समूह के नेता को राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त किया जायेगा।

भारतीय प्रधानमंत्रियों का कार्यकाल

	प्रधानमंत्री का नाम	दल	कार्यकाल
1.	जवाहर लाल नेहरू	कांग्रेस	15.08.1947 से 27.05.1964
2.	गुलजारी लाल नन्दा	कांग्रेस	27.05.1964 से 09.06.1964
3.	लाल बहादुर शास्त्री	कांग्रेस	09.06.1964 से 11.01.1966
4.	गुलजारी लाल नन्दा	कांग्रेस	11.01.1966 से 24.01.1966
5.	इंदिरा गांधी	कांग्रेस	24.01.1966 से 24.03.1977
6.	मोरारजी देसाई	जनता पार्टी	24.03.1977 से 28.07.1979
7.	चरण सिंह	जनता पार्टी	28.07.1979 से 14.01.1980
8.	इंदिरा गांधी	कांग्रेस	14.01.1980 से 31.10.1984
9.	राजीव गांधी	कांग्रेस	31.10.1984 से 01.12.1989
10.	वी.पी. सिह	जनता दल	02.12.1989 से 10.11.1990
11.	चन्द्रशेखर	जनता दल (सो)	10.11.1990 से 21.06.1991
12.	पी.वी.नरसिंहराव	कांग्रेस	21.06.1991 से 16.05.1996
13.	अटल बिहारी वाजपेयी	भाजपा	16.05.1996 से 01.06.1996
14.	एच.डी.देवगौड़ा	जनता दल (यू.एफ)	01.06.1996 से 21.04.1997
15.	आई.के. गुजराल	जनता दल यू.एफ.	21.04.1997 से 18.03.1998
16.	अटल बिहारी वाजपेयी	भाजपा	19.03.1998 से 13.10.1999
17.	अटल बिहारी वाजपेयी	भाजपा	13.10.1999 से 22.05.2004
18.	मनमोहन सिंह	कांग्रेस	22.05.2004 से . 25.05.2014

19. नरेन्द्र मोदी भाजपा 26.05.2014 से .....

(स्व. गुलजारी लाल नंदा दो बार कार्यवाहक प्रधानमंत्री रहे। पहली बार नेहरू की मृत्यु के बाद और दूसरी बार शास्त्री के निधन के बाद)

प्रधानमंत्री के कार्य और शक्तियाँ (Duties & Power's of Prime Minister)

संघीय कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होने के कारण प्रधानमंत्री के कार्य और शक्तियाँ व्यापक है। उसके कार्यों के विभिन्न पक्षों को अग्रांकित शीर्षकों के अधीन समझा जा सकता है :–

(1) मंत्रि–परिषद् का निर्माण (Formation of Council of Minister)

संविधान के अनुच्छेद 75 के अनुसार, राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह से मंत्रि–परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति करता है। मंत्रिपरिषद् में सम्मिलित करने के लिए सदस्यों का चयन, प्रधानमंत्री का विशेषाधिकार है। वह मंत्रि–परिषद् में सम्मिलित किये गये मंत्रियों के स्तर को केबिनेट मंत्री, राज्यमंत्री, उपमंत्री आदि का निर्णय प्रदान करता है। मंत्रि–परिषद् का लोकसभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व का वस्तुतः प्रधानमंत्री सूत्रधार होता है। अतः मंत्रियों की नियुक्ति और उन्हें मंत्रिमण्डल में बनाये रखने या हटाने के विषय में प्रधानमंत्री का निर्णय ही अन्तिम होता है। सांविधानिक दृष्टि से मंत्रियों के चयन में प्रधानमंत्री की भूमिका निर्णायक है, किन्तु किसी प्रधानमंत्री द्वारा इस विशेषाधिकार के प्रयोग में उसकी प्रभावशीलता, व्यक्तित्व, सत्तारूढ़ दल या गठबंधन में उसकी स्थिति और राजनैतिक समीकरणों से निर्धारित होती है।

(2) शासनाध्यक्ष के रूप में भूमिका (Role as Head of the Government)

संसदीय प्रणाली में प्रधानमंत्री को शासनाध्यक्ष माना जाता है। राष्ट्रपति केवल औपचारिक राष्ट्राध्यक्ष होता है। प्रधानमंत्री शासन के समस्त कार्यों का सूत्रधार और शासकीय नीतियों का प्रमुख प्रवक्ता होता है। शासनाध्यक्ष के रूप में वह व्यक्तिशः भी राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। संघ के सारे सरकारी कार्यों का, चाहे वह किसी भी विभाग से संबंधित हो, अंतिम उत्तरदायित्व प्रधानमंत्री का ही माना जाता है। विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति, राज्यपालों का मनोनयन, संघ के विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियाँ, विभिन्न आयोगों के अध्यक्षों और सदस्यों की नियुक्तियाँ, राष्ट्रपति द्वारा उसी के परामर्श से की जाती है। सेना के तीनों अंगों के अध्यक्षों की नियुक्ति में भी उसी की भूमिका निर्णायक होती है।

(3) मंत्रियों के मध्य विभागों का वितरण (Distribution of Portfolio amongst Ministers)

मंत्रि–परिषद के सदस्यों के मध्य विभागों के वितरण के विषय में निर्णय का अधिकार प्रधानमंत्री के पास होता है। मंत्रियों के मध्य विभागों के वितरण में प्रधानमंत्री मंत्रि–परिषद के संबंधित सदस्य की योग्यता, राजनीतिक कौशल और दल में उसके महत्व आदि के आधार पर निर्णय लेता है।

(4) मंत्रि–परिषद् का संचालन व समन्वय (To conduct and Co-ordinate Council of Ministers)

प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद् के लोकसभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व का केन्द्र बिन्दु होता है। मंत्रि –परिषद् के कार्यकलापों पर नियंत्रण और विभिन्न मंत्रियों के कार्यकलापों के मध्य समन्वय स्थापति करना प्रधानमंत्री का दायित्व है। वह मंत्रि–परिषद् की बैठकों को बुलाने का निर्णय करता है, तथा बैठकों की अध्यक्षता करता है। मंत्रि–परिषद् के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किये जाने वाले विषयों पर भी प्रधानमंत्री को ही निर्णय लेना होता है। किन्तु संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रपति भी किसी ऐसे विषय को मंत्री–परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करनें के निर्देश दे सकता है, जिस पर किसी मंत्री ने अपने स्तर पर तो निश्चय कर लिया हो, किन्तु मंत्रि परिषद् ने उस पर विचार नहीं किया हो।

(5) लोकसभा का नेता (Leader of Lok Sabha)

प्रधानमंत्री लोकसभा के बहुमत प्राप्त दल या दलों के समूह का नेता होने के कारण संसद का नेतृत्व करता है। ऐसी परिस्थति में जब प्रधानमंत्री लोकसभा का सदस्य नहीं होकर, राज्यसभा का सदस्य हो, वह औपचारिक रूप से लोकसभा में अपने दल का नेता नहीं होता, किन्तु व्यवहार में लोकसभा को नेतृत्व वही प्रदान करता है। लोकसभा में मंत्रि–परिषद् की नीति का वही अधिकृत प्रवक्ता होता है। महत्वपूर्ण विषयों पर प्रतिपक्ष के आक्षेपों का संसद में वही उत्तर देता है। राष्ट्रपति को लोकसभा भंग करने की सिफारिश करने के विषय में निर्णय लेने का अंतिम अधिकार प्रधानमंत्री के पास ही होता है।

(6) विधायन (Legislation)

संसदीय प्रणाली में मंत्रि–परिषद् ही संसद को विधि–निर्माण के कार्य में नेतृत्व प्रदान करती है। मंत्रि–परिषद् की ओर से संसद में प्रस्तुत किये जाने वाले विधायी प्रस्तावों के विषय में प्रधानमंत्री की भूमिका निर्णायक होती है। व्यवहार में प्रधानमंत्री विधायी कार्यों को सम्पन्न करने में संसद को नेतृत्व प्रदान करता है।

प्रधानमंत्री के पद और वास्तविक स्थिति को समझने के लिए निम्न पहलुओं पर विचार करना होगा :

1. प्रधानमंत्री का चयन और नियुक्ति (Selection and Appointment of Prime Minister)

यदि लोकसभा के आम चुनावों के पश्चात् किसी एक दल को, या चुनाव के पूर्व ही गठबन्धन किये हुए दलों के समूह को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है तो प्रधानमंत्री के चयन व नियुक्ति में राष्ट्रपति की भूमिका अत्यन्त सीमित हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में, बहुमत प्राप्त दल अथवा चुनाव–पूर्व गठबन्धन किये हुए दलों के ऐसे समूह जिसे लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ हो, के सांसदों द्वारा अपने नेता के निर्वाचन के पश्चात्, राष्ट्रपति के पास इस प्रकार निर्वाचित नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रहता। किन्तु जब लोकसभा में किसी भी एक दल को अथवा चुनाव–पूर्व गठबन्धन किये हुए दलों के किसी समूह को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता तो प्रधानमंत्री के चयन में राष्ट्रपति की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रपति को लोकतांत्रिक अपेक्षाओं तथा संविधान की भावना के अनुरूप, अपने स्वविवेक से निर्णय लेना होता है।

2. प्रधानमंत्री और मंत्रि–परिषद् के मध्य सम्बन्ध (Relationship between Prime Minsiter and Council of Ministers)

संसदीय प्रणाली में प्रधानमंत्री मंत्रि–परिषद् का केन्द्र बिन्दु व आधार होता है। वस्तुतः मंत्रिपरिषद् का अस्तित्व (मंत्रिपरिषद् का पद पर बने रहना तथा समाप्त हो जाना) प्रधानमंत्री की नियुक्ति तथा पद पर बने रहने पर निर्भर करता है। यदि प्रधानमंत्री त्यागपत्र दे दे, अथवा उसके विरूद्व लोकसभा में अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाये तो सम्पूर्ण मंत्रि–परिषद् को भी पद–त्याग करना होता है। अनुच्छेद 74 में यह स्पष्ट व्यवस्था की गई है कि प्रधानमंत्री मंत्रि–परिषद् का प्रधान होता है। विभिन्न मंत्रियों के कार्यकलापों में समन्वय स्थापित करना, नीति निर्णयों में पहल करना तथा मंत्रि–परिषद् की ओर से अधिकृत वक्तव्य देना प्रधानमंत्री का दायित्व व विशेषाधिकार होता है। सैद्धान्तिक रूप से प्रधानमंत्री अपनी मंत्रि–परिषद् को चुनने में स्वतंत्र होता है किन्तु व्यावहारिक रूप से मंत्रियों का चुनाव करते समय सदस्यों की वरिष्ठता, क्षेत्र, जाति, धर्म आदि समीकरणों को दृष्टिगत रखना पड़ता है।

3. प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के मध्य सम्बन्ध (Relationship between Prime Minister and President)

प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के सम्बन्धों का विवेचन पूर्व अध्याय में विस्तार से किया जा चुका है, अतः उनका यहां उल्लेख करना विषयवस्तु की पुनरावृत्ति ही होगी।

4. प्रधानमंत्री और संसद् (Prime Minister and Parliament)

सामान्यतः प्रधानमंत्री का चुनाव संसद के निम्न सदन में से होता है। लेकिन उच्च सदन से प्रधानमंत्री निर्वाचित करने पर वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं है। भारत में पहली बार 1966 में राज्यसभा की एक सदस्या श्रीमती इंदिरा गांधी को प्रधानमंत्री निर्वाचित किया गया था। शेष सभी प्रधानमंत्री सामान्यतः लोकसभा से ही चुने गये। संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के मध्य शक्तियों का पृथक्करण नहीं होता। इस प्रकार वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् संसद में से ही ली जाती है व मंत्रि–परिषद का मुखिया प्रधानमंत्री होता है। प्रधानमंत्री संसद में बहुमत दल का नेता होता है, उसी के प्रति उत्तरदायी होता है तथा उसके विश्वास पर्यन्त पद पर बना रहता है। इस प्रकार संसद और प्रधानमंत्री के बीच अनिवार्य पारस्परिक सम्बन्ध रहते हैं। यद्यपि संविधान में मंत्रिपरिषद के सामूहिक उत्तरदायित्व को संसद के दोनों सदनों की बजाय, केवल लोकसभा के प्रति उत्तरदायित्व के रूप में सीमित किया गया है, अर्थात् लोकसभा में बहुमत का विश्वास खो देने पर प्रधानमंत्री को मंत्रिपरिषद सहित पद त्यागना पड़ता है।

किन्तु देश के प्रशासन को चलाने तथा नीति सम्बन्धी अन्य विषयों में दोनों सदनों के प्रति उत्तरदायी होता है।

5. प्रधानमंत्री और दल–अध्यक्ष (Prime Minister and Party President)

दल–अध्यक्ष और प्रधानमंत्री के पद एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि प्रधानमंत्री उसी राजनीतिक दल का होता है, जिसका संसद में बहुमत होता है। दल के अध्यक्ष और प्रधानमंत्री के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध दल की सुदृढ़ता और सरकार के कुशल संचालन के लिए आवश्यक है। भारत में प्रधानमंत्री (जो अधिकांशतः कांग्रेस दल का होता रहा था) और कांग्रेस दल के अध्यक्ष के बीच सम्बन्ध कुछ अपवादों के अतिरिक्त, पारस्परिक सहयोग के रहे हैं और विगत दशकों में अधिकांशतः प्रधानमंत्री ने दल–अध्यक्ष के पथ–प्रदर्शक के रूप में कार्य किया है।

1989 के बाद से प्रधानमंत्री पद के चयन के लिए न तो योग्यता मुख्य आधार रही और न ही दल की सांख्यिक स्थिति। प्रधानमंत्री चाहे जिस दल का रहा हो उसका नियंत्रण दूसरे दलों के हाथों में ही रहा। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने तीन बार प्रधानमंत्री का पद ग्रहण किया। पहली बार 13 दिन और

दूसरी बार 13 महिने तथा तीसरी बार अपना कार्यकाल पूर्ण किया। तीनों ही सरकारें छोटे राजनीतिक दलों के सहयोग से निर्मित सरकारें थी। ऐसी स्थिति में श्री वाजपेयी के अत्यन्त लोकप्रिय होने के बावजूद, उनका मंत्रिमण्डल पर प्रभावी नियंत्रण नहीं था। अधिकांश समय घटक दलों को प्रसन्न करने में ही लग गया। साझा सरकारों के कार्यकरण की यह एक उल्लेखनीय उपलब्धि है।

जब प्रधानमंत्री के पद पर करिश्मायी व्यक्तित्व का नेता आसीन हो, तथा ऐसी परिस्थितियॉ रही हों, जब आम चुनावों में जनता ने प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्ति के लिए, किसी व्यक्ति विशेष के प्रति व्यापक समर्थन व्यक्त किया हो, तब प्रधानमंत्री की शक्तियों और प्रभाव में वृद्वि होती है। ऐसे समय में ही प्रधानमंत्री अधिक शक्तिशाली होकर उभरता है, जब उसके दल को लोकसभा में सुविधाजनक बहुमत प्राप्त हो। जब प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्ति, जनता द्वारा व्यक्त किये गये सीधे समर्थन के कारण नहीं, अपितु दलीय समीकरणों तथा सत्तारूढ़ गठबन्धन के विभिन्न घटकों आपसी तालमेल के कारण हुई हो, तथा जब सत्तारूढ़ दल या सत्तारूढ़ गठबन्धन को अपने बलबूते पर सुविधाजनक बहुमत प्राप्त नहीं हो, तब प्रधानमंत्री की शक्तियों में कमी आ जाती है। ऐसे में प्रधानमंत्री ''नियंत्रणकर्ता'' की नहीं अपितु ''समन्वयकर्ता'' की भूमिका निभाता है। इस स्थिति में नीति निर्णयों में प्रधानमंत्री की भूमिका निर्णायक नहीं रहती तथा शासन सम्बन्धी निर्णय मंत्रि–परिषद् के सामूहिक निर्णय के रूप में ही व्यक्त होते हैं। निवर्तमान प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने साझा सरकार के पांच वर्ष कुशलतापूर्वक पूर्ण कर लिये किन्तु अनेक दलों के समर्थन पर निर्भर रहने वाली सरकार का नेतृत्व करने वाले वाजपेयी कभी भी स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर पाये।

मंत्रि परिषद् (Council of Ministers)

संविधान के अनुच्छेद 74 में राष्ट्रपति को उसके कृत्यों के निर्वहन में परामर्श और सहायता प्रदान करने के लिए मंत्रि–परिषद् की व्यवस्था की गयी है। राष्ट्रपति से यह अपेक्षा की गयी है कि वह अपने कृत्यों का निर्वहन मंत्रि–परिषद् की सलाह के अनुसार करेगा।

मंत्रि–परिषद् का गठन (Composition of Council of Ministers)

संविधान के अनुच्छेद 75 में प्रावधान है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा, और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की सलाह पर की जायेगी। मंत्रि–परिषद् के सदस्यों की संख्या के विषय में संविधान में कोई प्रावधान नहीं था किन्तु 91वें संविधान संशोधन द्वारा मंत्रिपरिषद के आकार को सदन की सदस्य संख्या के 15 प्रतिशत तक सीमित कर दिया गया है। प्रधानमंत्री सरकार की प्रशासनिक आवश्यकताओं, राजनैतिक परिस्थतियों और मंत्रि–परिषद् में क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की आवश्यकताओं का आकलन करके मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या का निर्धारण अपने स्तर पर करता है।

मंत्रि–परिषद् के सदस्य पदग्रहण करने से पूर्व, संविधान में दिये गये प्रारूप के अनुसार राष्ट्रपति के समक्ष पद और गोपनीयता की शपथ ग्रहण करते हैं। संविधान में यह भी प्रावधान है कि मंत्रि–परिषद् के सदस्य के लिए, सदन के दोनों सदनों में से किसी एक का सदस्य होना आवश्यक है।

संविधान में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त कोई मंत्री यदि अपनी नियुक्ति के समय संसद का सदस्य न हो, अथवा मंत्री के रूप में नियुक्ति के पश्चात् किसी भी बिन्दु पर संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं रहे, तो उसे 6 माह की अवधि के भीतर संसद के किसी सदन की सदस्यता प्राप्त करनी होती है। 6 माह की अवधि के भीतर यदि मंत्री किसी सदन की सदस्यता प्राप्त नहीं कर पाता है, तो उस अवधि की समाप्ति पर वह मंत्री बने रहने के लिए पात्र नहीं रहता है।

मंत्रि–परिषद् में तीन स्तरों के मंत्री होते हैं –

1. केबिनेट मंत्री (Cabinet Minister)

केबिनेट स्तर के मंत्री, मंत्रि–परिषद् के महत्वपूर्ण सदस्य होते हैं। सामान्यतः मंत्रि–परिषद् में सम्मिलित किये गये सत्तारूढ़ दल के वरिष्ठ और महत्त्वपूर्ण सांसदों को केबिनेट मंत्री का स्तर प्रदान किया जाता है। ये उन्हें सौंपे जाने वाले विभागों के स्वतंत्र प्रभारी होते हैं। नीति–निर्माण में भी ये महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

2. राज्य मंत्री (State Minister)

राज्य मंत्री सामान्यतः केबिनेट मंत्रियों के अधीन कार्य करते हैं। अनेक बार राज्य मंत्रियों को उनके विभागों का स्वतंत्र प्रभार भी प्रदान कर दिया जाता है। अनेक बार प्रधानमंत्री, संबंधित विभाग के केबिनेट मंत्री और राज्य मंत्री के मध्य विभागों के कार्यों का बंटवारा भी कर देता है। ऐसी स्थिति में अपने अधीन आने वाले कार्यों को सम्पन्न करने के लिए राज्य–मंत्री स्वतंत्र प्रभारी के रूप में कार्य कर सकते हैं।

3. उपमंत्री (Deputy Minister)

उपमंत्री मंत्रि–परिषद् के कनिष्ठ सदस्य होते हैं। ये प्रायः विभाग के प्रभारी केबिनेट मंत्री, अथवा राज्य मंत्री के कार्यों में सहायता करते हैं तथा उनके अधीक्षण में अपने कार्य सम्पन्न करते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि केबिनेट मंत्री, राज्य मंत्री अथवा मंत्री के रूप में मंत्रि–परिषद् के सदस्यों का वर्गीकरण संविधान द्वारा नहीं किया गया है। यह वर्गीकरण राजनैतिक महत्त्व और प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से किया जाता है। अनेक बार मंत्रि–परिषद् में उपर्युक्त तीन श्रेणियों के मंत्रियों के अतिरिक्त संसदीय सचिवों की भी नियुक्ति की जाती है। संसदीय सचिव औपचारिक रूप से मंत्रि–परिषद् के सदस्य नहीं माने जाते। इनकी नियुक्ति भी राष्ट्रपति द्वारा नहीं, अपितु प्रधानमंत्री द्वारा ही की जाती है। वही उन्हें पद व गोपनीयता की शपथ दिलवाता है।

वेतन व भत्ते (Salary and Allowances)

मंत्रि–परिषद् के सदस्य ऐसे वेतन, भत्ते व अन्य सुविधाऐं प्राप्त करते हैं जो संसद कानून बनाकर समय–समय पर निध ार्ारित करती हैं। संविधान में प्रावधान है कि जब तक संसद, मंत्रियों के वेतन भत्ते आदि के विषय में कानून नहीं बनाती तब तक उन्हें ऐसे वेतन व भत्ते प्राप्त होंगे जो संविधान की दूसरी अनुसूची में उल्लिखित हैं। वर्तमान में प्रचलित व्यवस्था के अनुसार मंत्रियों को मंत्री के रूप में पृथक वेतन प्राप्त होता है। वे सांसद के रूप में भी वेतन प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य सांसदों को मिलने वाले निर्वाचन क्षेत्र भत्ते आदि भी प्राप्त होते हैं। सांसदों को जो दैनिक भत्ता सदन अथवा समिति की बैठकों के दौरान प्राप्त होता है, मंत्रि–परिषद् के सदस्य उस दैनिक भत्ते को नियमित रूप से प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं। इसके अतिरिक्त मंत्रियों को प्रति माह आतिथेय भत्ता और निःशुल्क राजकीय आवास, वाहन तथा टेलीफोन आदि की सुविधायें भी प्राप्त होती हैं।

मंत्रि–परिषद की कार्य–प्रणाली के सिद्धान्त (Theories of Functioning of Council of Ministers)

भारत में संसदीय शासन प्रणाली के अनुरूप संघ की कार्यपालिका शक्तियाँ व्यवहार में मंत्रि–परिषद् में निहित है। भारत में मंत्रि–परिषद् संसदीय शासन प्रणाली के अनुरूप कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार कार्यशील रहती है –

1. सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility)

मंत्रि–परिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। सामूहिक उत्तरदायित्व का तात्पर्य यह होता है कि यद्यपि मंत्रि–परिषद् के विभिन्न सदस्यों के मध्य कार्यों का बँटवारा होता है, तथा विभिन्न मंत्री अपने–अपने विभाग के कार्यों के लिए प्रशासनिक दृष्टि से उत्तरदायी होते हैं, किन्तु नीति संबंधी विषयों पर संसद के समक्ष उत्तरदायित्व, मंत्रियों का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व नहीं होता, अपितु मंत्रि–परिषद् का सामूहिक उत्तरदायित्व होता है। यदि लोकसभा किसी एक विभाग की नीतियों के प्रति अविश्वास व्यक्त करे, अथवा बजट पर विचार के समय किसी एक विभाग की मांगों के संबंध में कटौती प्रस्ताव पारित कर दे तो इसे पूरी मंत्रि–परिषद् के प्रति अविश्वास माना जाता है। संसदीय प्रणालियों में कही जाने वाली यह उक्ति कि ''मंत्रि–परिषद के सदस्य साथ–साथ तैरते हैं और साथ–साथ डूबते हैं'', भारत की मंत्रि–परिषद् पर भी पूर्णतः लागू होती है।

2. कार्यकाल की अनिश्चितता (Indefinate term)

मंत्रि–परिषद् के सदस्यों का निश्चित कार्यकाल नहीं होता। संविधान में प्रावधान है कि मंत्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर बने रहते हैं। मंत्रि–परिषद् के लोकसभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व के संदर्भ में सामान्यतः मंत्रि–परिषद् के सदस्यों का कार्यकाल लोकसभा में उन्हें बहुमत का विश्वास प्राप्त रहने तक बना रहता है। मंत्रि–परिषद् के लोकसभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व के संदर्भ में सामान्यतः मंत्रि–परिषद् के सदस्यों का कार्यकाल लोकसभा में उन्हें बहुमत का विश्वास प्राप्त रहने तक बना रहता है। मंत्रि–परिषद् के सदस्य के रूप में कोई मंत्री, तब तक मंत्रि–परिषद् का सदस्य बना रह सकता है जब तक कि प्रधानमंत्री उसे मंत्रि–परिषद् में रखना चाहे। प्रधानमंत्री द्वारा किसी मंत्री से त्यागपत्र मांगे जाने पर यह अपेक्षित होता है कि वह त्यागपत्र प्रस्तुत कर दे। यदि प्रधानमंत्री के कहने पर मंत्री त्यागपत्र नहीं दे तो प्रधानमंत्री की सिफारिश पर उसे राष्ट्रपति द्वारा मंत्रि–परिषद् से हटाया जा सकता है। मंत्रि–परिषद् का कार्यकाल प्रधानमंत्री के पद पर बने रहने के साथ भी जुड़ा होता है। यदि प्रधानमंत्री त्यागपत्र दे दे, तो उसे सम्पूर्ण मंत्रि–परिषद् का त्यागपत्र मान लिया जाता है। ऐसी स्थिति में मंत्रि–परिषद् के सभी सदस्य स्वतः ही मंत्री नहीं रहते।

3. व्यक्तिगत प्रशासनिक उत्तरदायित्व (Individual Administrative Responsibility)

यद्यपि मंत्रि–परिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है, तथापि मंत्री अपने संबंधित विभाग के प्रध ाान होते हैं, अपने विभाग की गतिविधियों व कार्यों के लिये वे व्यक्तिशः भी उत्तरदायी होते हैं। अपने विभाग के सुदक्ष कार्य संचालन तथा मंत्रि–परिषद् द्वारा निर्धारित की गयी नीतियों की क्रियान्विति करना सम्बन्धित मंत्री का उत्तरदायित्व होता है।

4. मंत्रि–परिषद् के कार्य व शक्तियाँ (Functions and

Powers of Council of Minister)

संसदीय प्रणाली में मंत्रि–परिषद् ही वस्तुतः वास्तविक कार्यपालिका होती है। शासन की समस्त शक्तियों का प्रयोग राष्ट्रपति के नाम पर मंत्रि–परिषद् के द्वारा ही किया जाता है। मंत्रि–परिषद् के कार्यों में मुख्यतः राष्ट्रीय नीति का निर्धारण, विदेशी संबंधों का संचालन, विधायी प्रस्तावों को संसद के समक्ष प्रस्तुत करना, वित्त–व्यवस्था पर नियंत्रण रखना, महत्त्वपूर्ण नियुक्तियों के संबंध में राष्ट्रपति को भेजे जाने वाले प्रस्तावों का अनुमोदन करना तथा देश के प्रशासन को सुचारू रूप से संचालित करना आदि सम्मिलित होते हैं।

मंत्रि–परिषद् व मंत्रिमण्डल में भेद (Difference between Council of Ministers and Cabinet)

यद्यपि संविधान में राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिए मंत्रि–परिषद् की व्यवस्था की गई है, अनुच्छेद 74(1) में मंत्रि–परिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है मंत्रिमण्डल का नहीं। भारत में मंत्रि–परिषद् एक संवैधानिक संस्था है और मंत्रिमण्डल अभिसमय (परम्पराओं) की उत्पत्ति।

आकार संबंधी अन्तर (Difference of Size)–

मंत्रिपरिषद् एक विशाल संस्था है, जिसमें 50 से 60 तक सदस्य होते थे यद्यपि 91वें संविधान संशोधन द्वारा मंत्रिपरिषद के आकार को सदन की संख्या के 15 प्रतिशत तक सीमित कर दिया है। अभी तक इसके आकार की कोई सीमा नहीं थी। इसमें सभी प्रकार के मंत्री सम्मिलित होते हैं जैसे केबिनेट स्तर के मंत्री, राज्य मंत्री और उपमंत्री। इन तीनों श्रेणियों के अतिरिक्त एक श्रेणी संसदीय सचिवों की भी होती है। केबिनेट एक छोटी संस्था है जिसमें 20–22 सदस्य होते हैं। इसमें केवल केबिनेट स्तर के मंत्री होते हैं।

स्थिति तथा महत्व सम्बन्धी अन्तर (Difference regarding position and importance)–

नीति संबंधी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय के लिए प्रधानमंत्री पूरी मंत्रिपरिषद की बैठक नहीं बुलाता, अपितु ऐसे कार्य केबिनेट द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। केबिनेट में केबिनेट स्तर के मंत्री होते हैं। अनेक बार केबिनेट की बैठकों में, प्रधानमंत्री के स्वविवेक पर, स्वतंत्र प्रभार वाले राज्यमंत्री भी आमंत्रित किय जाते हैं। महत्वूपर्ण नियुक्तियों के संबंध में निर्णय, विधायन सम्बन्धी प्रस्तावों का अनुमोदन तथा राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर निर्णय केबिनेट द्वारा ही लिया जाता है। मंत्रि–परिषद केबिनेट की सहायक संस्था है।

कार्यप्रणाली सम्बन्धी अन्तर (Difference of Functioning)

केबिनेट के सदस्यों की संयुक्त बैठकें होती हैं, उसके सदस्य सामूहिक रूप से विचार–विमर्श करते हैं और सामूहिक निर्णय लेते हैं। मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संयुक्त बैठक नहीं होती, वे सामूहिक रूप से विचार–विमर्श नहीं करते। वे अपने विभागों से सम्बन्ध रखते हैं उन्हीं के बारे में विचार करते हैं और निर्णय लेते हैं। वे केबिनेट मंत्री के अधीन कार्य करते हैं।

44वें संविधान संशोधन से पूर्व मंत्रिमण्डल का संविधान में कोई उल्लेख नहीं था। संविधान के 44वें संविधान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 352 में यह प्रावधान किया गया कि राष्ट्रपति युद्ध, बाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र आंतरिक विद्रोह की स्थिति में आपातकाल की उद्घोषणा, केवल तभी जारी कर सकेगा जबकि ऐसा करने के लिए उसे 'मंत्रिमण्डल' के लिखित विनिश्चय के विषय में सूचित किया जाये। 44वें संविधान संशोधन के पश्चात् अनुच्छेद 352(3) में प्रथम बार मंत्रिमण्डल को 'मंत्रिपरिषद्' के प्रधानमंत्री और केबिनेट स्तर के अन्य मंत्रियों की परिषद्' के रूप में परिभाषित किया गया है। इससे पूर्व मंत्रिमण्डल राजनैतिक परम्पराओं और अभिसमयों के आधार पर कार्यशील रहता था, उसका संविधान में कोई उल्लेख नहीं था।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- प्रधानमंत्री वास्तविक कार्यपालिका है। संविधान में राष्ट्रपति को परामर्श प्रदान करने के लिए एक मंत्रि–परिषद् की व्यवस्था की गई है, तथा उसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।
- लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल या समूह के नेता को राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त किया जाता है।
- प्रधानमंत्री के कार्य व शक्तियाँ है–1.मंत्रि–परिषद् का निर्माण, 2. शासनाध्यक्ष, 3. मंत्रियों के मध्य विभागों का वितरण, 4. मंत्रि–परिषद् का संचालन व समन्वय, 5. लोकसभा का नेता 6. विधायन
- अनुच्छेद 75 में प्रावधान है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की सलाह पर की जायेगी। मंत्री यदि नियुक्ति के समय संसद का सदस्य न हों तो उसे 6 माह की अवधि के भीतर किसी सदन की सदस्यता प्राप्त करनी होगी।
- मंत्रि–परिषद् में सामान्यतः तीन स्तर के मंत्री होते हैं : 1. केबिनेट मंत्री 2. राज्य मंत्री 3. उपमंत्री। किन्तु अनेक बार

संसदीय सचिवों की भी नियुक्ति की जाती है।

- मंत्रि–परिषद् की कार्यप्रणाली के सिद्धान्त हैं– 1.सामूहिक उत्तरदायित्व 2. कार्यकाल की अनिश्चितता 3. व्यक्तिगत प्रशासनिक दायित्व
- मंत्रि–परिषद् वास्तविक कार्यपालिका है। समस्त शक्तियों का प्रयोग राष्ट्रपति के नाम पर मंत्रि–परिषद के द्वारा ही किया जाता है।
- मंत्रि–परिषद् व मंत्रिमण्डल में भेद के बिन्दु हैं – 1. मंत्रि परिषद् एक संवैधानिक संस्था है मंत्रिमण्डल अभिसमय की उत्पत्ति। 2. मंत्रि परिषद, एक विशाल एवं केबिनेट, एक छोटी संस्था है। 91वें संविधान संशोधन द्वारा मंत्रिपरिषद् के आकार को सदन के आकार के 15 प्रतिशत तक सीमित। 3. नीति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निर्णय केबिनेट द्वारा। केबिनेट के सदस्यों की संयुक्त बैठकें होती है और वे सामूहिक रूप से निर्णय लेते हैं लेकिन अन्य मंत्रिपरिषद् के सदस्य अपने विभागों से सम्बन्ध रखते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. संविधान में राष्ट्रपति को परामर्श व सहायता देने के लिए व्यवस्था की गई है –
   (अ) प्रधानमंत्री (ब) मंत्रि–परिषद
   (स) कैबिनेट (द) किचन केबिनेट ( )
2. प्रधानमंत्री की नियुक्ति की जाती है –
   (अ) राष्ट्रपति द्वारा (ब) मंत्रि–परिषद् द्वारा
   (स) मुख्य न्यायाधीश द्वारा (द) संसद द्वारा ( )
3. मंत्रिपरिषद उत्तरदायी होती है –
   (अ) लोकसभा के प्रति (ब) राष्ट्रपति के प्रति
   (स) राज्य सभा के प्रति (द) विधान परिषद के प्रति( )
4. लोकसभा में बहुमत दल का नेता होता है –
   (अ) प्रधानमंत्री (ब) राष्ट्रपति
   (स) केबिनेट मंत्री (द) विपक्ष का नेता ( )
5. संसदीय प्रणाली में वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ निहित होती हैं –
   (अ) राष्ट्रपति में (ब) प्रधानमंत्री में
   (स) राज्यपाल में (द) आम्बुडसमैन ( )
6. संविधान के किस अनुच्छेद द्वारा प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।
   (अ) 77 (ब) 84
   (स) 75 (द) 73 ( )
7. मंत्रिपरिषद् में शामिल करने के लिए सदस्यों के चयन का विशेषाधिकार किसे प्राप्त है
   (अ) राष्ट्रपति (ब) मुख्य न्यायाधीश
   (स) प्रधानमंत्री (द) राज्यपाल ( )
8. भारत में मन्त्रियों की नियुक्ति कौन करता है
   (अ) प्रधानमंत्री (ब) राष्ट्रपति
   (स) उपराष्ट्रपति (द) गृहमंत्री ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. किस प्रधानमंत्री को केन्द्र में तीन बार साझा दलों की सरकार का नेतृत्व करने का अवसर मिला ?
2. मंत्रि–परिषद् का आकार कौन से संवैधानिक कानून द्वारा सीमित किया गया है ?
3. मंत्रि–परिषद् का निर्माण किसके द्वारा किया जाता है ?
4. भारतीय संविधान में मंत्रिमण्डल शब्द का प्रयोग पहली बार कब किया गया?
5. भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री का नाम व उनकी कार्यरत अवधि बताइये?
6. भारत में पहली बार किस राज्यसभा सदस्य को प्रधानमंत्री चुना गया?
7. भारतीय संविधान का 91वां संविधान संशोधन महत्वपूर्ण है। क्यों ?
8. मंत्रिपरिषद् व मंत्रिमण्डल में कोई दो अन्तर बताइये?
9. प्रधानमंत्री के चयन के मुख्य आधार बताइये?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत में मंत्रि–परिषद् एवं प्रधानमंत्री के मध्य सम्बन्धों को स्पष्ट कीजिये।
2. मंत्रि–परिषद् के सामूहिक उत्तरदायित्व से आप क्या समझते हैं ?
3. मंत्रि–परिषद् में कितने प्रकार के मंत्री होते हैं ?
4. मंत्रीमण्डल व मंत्रि–परिषद् के मध्य अन्तर को स्पष्ट कीजिये।
5. भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री का नाम लिखें।
6. दलीय अध्यक्ष के रूप में प्रधानमंत्री के कार्य बताइये।

7. भारत में मंत्रीपरिषद् के कार्य एवं शक्तियॉं बताइये।
8. प्रधानमंत्री मंत्री–परिषद् का गठन करते समय किन बातों का ध्यान देता है?
9. भारत में मंत्रीमण्डल के कितने स्तर होते है? इनमें अंतर स्पष्ट करो।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत के प्रधानमंत्री की शक्तियों एवं स्थिति का परीक्षण कीजिये।
2. मंत्रि–परिषद् के संगठन एवं स्थिति का परीक्षण कीजिये।
3. भारतीय मंत्रिपरिषद् की कार्यप्रणाली के सिद्धान्त का उल्लेख कीजिये।

उत्तरमाला

1. ब, 2. अ, 3. अ, 4. अ, 5. ब 6. स 7. स 8. ब

इकाई–V

अध्याय–9

केन्द्रीय सचिवालय
(Central Secretariat)

केन्द्रीय सचिवालय में भारत सरकार के सभी मंत्रालय एवं विभाग समाविष्ट हैं। प्रशासन के उद्देश्य से केन्द्रीय शासन को विभिन्न मंत्रालयो एवं विभागों में विभक्त किया गया है और इन मंत्रालयों एवं विभागों के सामूहिक समुच्चय को केन्द्रीय सचिवालय का नाम दिया गया है। एक मंत्रालय में सामान्यतया दो से चार तक विभाग होते हैं। यद्यपि यह सम्भव है कि कुछ मंत्रालय ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें विभाग न हो यथा – विदेश मंत्रालय, इसी तरह कुछ विभाग ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें किसी मंत्रालय के अधीन नहीं रखा गया है यथा महासागर विकास विभाग, परमाणु ऊर्जा विभाग आदि। इन मंत्रालयों या विभागों के राजनीतिक प्रमुख मंत्री होते हैं एवं प्रशासनिक प्रमुख सचिव होते हैं।

मंत्रालयों एवं विभागों का निर्माण प्रधानमंत्री एवं मंत्रिपरिषद् की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 77 के अर्न्तगत बनाये गये भारत सरकार (कार्य निर्धारण) नियम 1961 एवं भारत सरकार (कार्य संचालन) नियम 1961 के आधार पर किया जाता है।

मंत्रालय/विभागों की संरचना (Organization of Ministry/Department)

भारत में मंत्रालयों की सरंचना त्रिस्तरीय है जिसमें शीर्ष पर राजनैतिक स्तर पर मंत्री, मध्य में सचिवालय और निम्न स्तर पर निदेशालय होते हैं।

(i) राजनैतिक स्तर पर प्रत्येक मंत्रालय का प्रमुख, केबिनेट मंत्री अथवा राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार) होता है। उसकी सहायता से लिए राज्यमंत्री, उपमंत्री एवं संसदीय सचिव होते हैं। इनका प्रमुख कार्य विभाग की नीतियों का निर्माण करना होता है।

(ii) राजनैतिक स्तर के बाद उस विभाग/मंत्रालय का सचिवालय संगठन होता है। जिसका प्रमुख सचिव होता है एवं यह स्थाई प्रशासनिक अधिकारी होता है। सचिव की सहायता के लिए संयुक्त सचिव, अतिरिक्त सचिव, विशेष सचिव, उप सचिव, अवर सचिव एवं स्टाफ होता है।

(iii) तृतीय स्तर पर मंत्रालय के अधीन विभाग या विभागों के कार्यपालक संगठन होते हैं जिनके सर्वोच्च को निदेशक, महानिदेशक, आयुक्त, मुख्य नियंत्रक या इंस्पेक्टर जनरल इत्यादि नामों से जाना जाता है।

सचिवालय संगठन
(Organization of Secretariat)

केन्द्रीय सचिवालय में अनेक मंत्रालय और विभाग है। मंत्रालय विभाग में, विभाग प्रभाग में, प्रभाग शाखा में और शाखा अनुभागों में विभक्त है। किसी मंत्रालय के अधीन, कितने विभाग और शाखाएँ होगी, इसका निर्धारण मंत्रालय के क्षेत्र, प्रकृति एवं महत्त्व पर निर्भर करता है।

सचिवालय संगठन की संरचना व पद सोपान को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :

इकाई	सम्बन्धित प्रभारी अधिकारी
विभाग	सचिव/प्रमुख सचिव
उप–विभाग	सयुंक्त/अतिरिक्त सचिव
प्रभाग	निदेशक/ उपसचिव
शाखा	अवर सचिव
अनुभाग	अनुभाग अधिकारी

मंत्रालय विभाग का प्रशासकीय अध्यक्ष सचिव होता है। प्रत्येक उप विभाग का प्रमुख, संयुक्त अथवा अतिरिक्त सचिव होता है। उप विभाग, प्रभागों में विभक्त होता है, जिसका प्रमुख उपसचिव/निदेशक होता है। प्रभाग शाखाओं में विभक्त होता है, जिसका प्रमुख अवर सचिव होता है। शाखा अनुभागों में विभक्त होती है। अनुभाग (जिसे कार्यालय के नाम से जाना जाता है) मंत्रालय की सबसे छोटी और निम्नतम सांगठनिक इकाई है। अनुभाग का प्रमुख, अनुभाग अधिकारी कहलाता है। प्रत्येक अनुभाग में सहायक लिपिक एवं टंकणकर्ता आदि कर्मचारी होते हैं।

केन्द्रीय सचिवालय के अधिकारी वर्ग में प्रायः भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य होते हैं। इन अधिकारियों की भर्ती केन्द्रीय सरकार द्वारा विभिन्न राज्यों की भारतीय प्रशासनिक

सेवा श्रेणियों में से 'अवधि प्रणाली (Tenure System)' के अन्तर्गत की जाती है। सन् 1905 में लार्ड कर्जन के शासनकाल में आरम्भ की गई यह प्रणाली, सचिवालय के उच्च पदों को भरने के काम में ली जाती है। यह अवधि प्रणाली, उच्च स्तर पर परिवर्तन की आवश्यकता का संस्थाकरण है। इस व्यवस्था में अधिकारी प्रान्तीय शासन से लिए जाते हैं और उनमें से अधिकांशतः केन्द्रीय सचिवालय में निर्धारित कार्यकाल पूरा होने पर राज्य में लौट जाते है। इसमें प्रत्येक अधिकारी, निश्चित समयावधि के लिए केन्द्र में प्रतिनियुक्ति पर आता है। व्यवहार में आज भी केन्द्रीय सचिवालय के अधिकतर वरिष्ठ पद अवधि प्रणाली द्वारा भरे जाते हैं। इस प्रणाली का प्रमुख लाभ यह है कि इसमें नीति निर्धारण में संलग्न अधिकारियों को उन परिस्थितियों का सर्वोत्तम ज्ञान होता है, जिनमें वह नीतियाँ लागू की जानी हैं। परिणामतः नीति–निर्धारण यथार्थ के अधिक निकट रहता है।

1957 से केन्द्रीय सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों की नियुक्ति हेतु 'केन्द्रीय स्टाफिंग योजना' आरम्भ की गई है। इस योजना के अन्तर्गत उपसचिव
एवं उसके ऊपर के पदों को भरने का तरीका समाविष्ट है। इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सचिवालय में वरिष्ठ पदों को निम्नलिखित श्रेणियों से भरा जाता है :

1. राज्यों के अखिल भारतीय सेवा संवर्ग एवं राज्य सिविल सेवा के प्रथम श्रेणी अधिकारियों को 'पदावधि प्रणाली' के आधार पर लेना।
2. केन्द्रीय सेवा वर्ग 'क' से तथा सार्वजनिक उद्यमों में कार्य करने वाले उच्च श्रेणी अधिकारियों को प्रतिनियुक्ति पर पदावधि प्रणाली के आधार पर लेना।
3. केन्द्रीय सचिवालय सेवा के अधिकारी।
4. राज्य सिविल सेवा के वे अधिकारी, जिनका नाम विशेष चयन सूची में उल्लिखित हो, तथा
5. राज्य सिविल सेवा के कतिपय अधिकारियों को संघ लोक सेवा आयोग के परामर्श (उनको छोड़कर जिनका उल्लेख (4) में किया गया है) से लेना।

उप सचिव, अवर सचिव तथा निदेशक व उसके ऊपर के पदों के लिये प्रतिनियुक्ति का कार्यकाल 3 से 5 वर्ष होता है। केन्द्रीय सरकार में प्रतिनियुक्तियों के सभी पदों को भरने के लिए 'वरिष्ठ चयन मण्डल' तथा 'केन्द्रीय स्थापना मण्डल' से परामर्श किया जाता है। संयुक्त सचिव और उसके ऊपर के पदों की नियुक्ति के लिए, 'वरिष्ठ चयन मण्डल' तथा अवर सचिव से ऊपर के पदों पर नियुक्ति के लिए, संयुक्त सचिव से नीचे स्तर के पदों पर नियुक्ति के लिए 'केन्द्रीय स्थापना बोर्ड' अनुशंसा करता है।

सचिवालय की कार्यप्रणाली में व्याप्त शिथिलता को दूर करने के लिए एवं नवोदित, बढती हुई मांगों के अधिक प्रभावी निष्पादन के लिए नवम्बर 1952 में 'प्रशासनिक सुधार आयोग' के 'देशमुख अध्ययन दल' की अनुशंसा पर 'डेस्क प्रणाली' का आरम्भ किया गया है, जिसमें विभाग का कार्य निम्न स्तर पर विभिन्न मेजों/डेस्कों में विभक्त किया जाता है। प्रत्येक डेस्क आफिसर, अपने डेस्क/मेज के समस्त कार्यो को करने के लिए उत्तरदायी हैं। कार्य की प्रकृति व जटिलता के आधार पर डेस्क प्रभारी अधिकारी का स्तर निर्भर करता है। यह व्यवस्था गति और गुणवत्ता मिश्रित सिद्धान्त पर आधारित है। यह प्रणाली पदसोपान और लालफीताशाही को ध्वस्त करने में सहायक है।

केन्द्रीय सचिवालय की आवश्यकता व महत्त्व (Necessity and Importance of Central Secretariat)

भारतीय प्रशासन के संगठन के पद सोपान में, केन्द्रीय सचिवालय का एक संस्था के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रशासकीय संगठन का मस्तिष्क है और इसके आदेश, सम्पूर्ण देश में प्रचलित होते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के समय, भारत में प्रशासनिक एकता स्थापित करने में केन्द्रीय सचिवालय की एक विशेष भूमिका थी। केन्द्रीय सचिवालय की स्थापना की आवश्यकता के अनेक कारण हैं : (1) राजनैतिक रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि प्रशासकीय कार्यो में दक्ष हो, यह आवश्यक नहीं है। (2) निर्वाचित प्रतिनिधियों का कार्यकाल सदैव अनिश्चित ही रहता है। मंत्रियों के विभागों में आये दिन परिवर्तन होते रहते हैं। इन कारणों से निर्वाचित प्रतिनिधि/मंत्री प्रशासकीय कार्यों में निपुण नहीं हो पाता इसलिए राजनैतिक कार्यपालिका को प्रशासनिक जटिलताओं से अवगत कराने हेतु योग्य व कुशल लोक सेवकों के सहयोग की आवश्यकता रहती है। (3) नीति निर्माण हेतु विभिन्न प्रकार की सूचनाओं, आंकड़ों, तथ्यों और सामग्री की आवश्यकता होती है व राजनैतिक कार्यपालिका के लिए यह सम्भव नहीं होता कि ये समस्त जानकारी वह बिना किसी सहायता के प्राप्त कर सके। केन्द्रीय सचिवालय की सहायता से ही नीति निर्माण करना सम्भव हो पाता है। (4) केन्द्रीय सचिवालय की आवश्यकता इसलिए भी है कि प्रायः राजनैतिक कार्यपालिका के सदस्य विधि विशेषज्ञ नहीं होते, विधि के ज्ञान के बिना विधान मण्डल में प्रस्तुत विधेयक का प्रारूप विशेषज्ञ की सहायता के बिना तैयार नहीं कर पाते। (5) राजनैतिक कार्यपालिका के सदस्य राजनैतिक गतिविधियों में ही इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि नीति निर्माण और विधायी कार्यो के लिए उनके पास समय ही नहीं होता। उक्त समस्त कारणों

से सचिवालय की आवश्यकता सुविदित है।

स्पष्ट है कि केन्द्रीय सचिवालय, केन्द्रीय प्रशासकीय निकाय का मस्तिष्क है और थिंक टेंक (Think Tank) के रूप में कार्य करता है। साथ ही प्रशासन में परिवर्तन, निरन्तरता व एकरूपता प्रदान करता है। यह पूर्व में लिए गये निर्णयों के सन्दर्भ में स्मृति भण्डार है। यह एक ऐसी महत्त्वपूर्ण कड़ी है जो मंत्री व प्रशासकीय कार्य को जोड़ती है। यह एक स्टाफ एजेन्सी है जो गैर कार्यकारी समन्वयकारी एवं मंत्रणा देने वाले निकाय के रूप में कार्य करती है और नीति निर्माण व निर्णय लेने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है।

केन्द्रीय सचिवालय की प्रकृति (Nature of Central Secretariat)

1. यह एक स्टाफ अभिकरण है।
2. गैर कार्यकारी, परामर्शदात्री और समन्वयकारी संस्था है।
3. यह मंत्रियों व सचिवों के कार्यालयों के कार्यालय का नाम है।
4. राजनीतिक एवं कार्यकारी स्तर के मध्य एक कड़ी के रूप में कार्यरत संस्था है।

कार्य (Functions)

सचिवालय, एक प्रशासनिक एवं परामर्शदात्री निकाय है। यह मुख्य रूप से नीति निर्माण, कार्य पद्धति की रीतियों एवं नियमों का निर्धारण, विधि निर्माण से संबन्धित कार्य, कार्यपालिका विभागों को उनके कार्यो के लिए निर्देशन एवं मार्गदर्शन, कार्यपालिका विभागों के कार्यो का मूल्यांकन आदि करता है।

सचिवालय के प्रमुख कार्य अग्रांकित हैं :

1. नीति निर्माण हेतु मंत्री को आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराना तथा अपनी विशेषज्ञता के आधार पर मंत्री को समय–समय पर परामर्श प्रदान करना।
2. संसद द्वारा निर्मित कानूनों के लिए नियम, विनियम तैयार करना।
3. निर्मित नीतियों एवं लिये गये निर्णयों का उचित क्रियान्वयन हो यह देखना भी केन्द्रीय सचिवालय का दायित्व है।
4. समयानुसार परिवर्तन करके प्रशासन में निरन्तरता व एकरूपता बनाये रखना।
5. कार्यपालिका विभागों को उनके कार्यो के लिए निर्देशन व मार्गदर्शन प्रदान करना।
6. कार्यपालिका विभागों द्वारा निर्मित नीतियों, कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का पर्यवेक्षण तथा उनके परिणामों का मूल्यांकन करना।
7. क्षेत्रीय कार्यक्रम और योजना तैयार करना।
8. मंत्रालय या विभाग के कार्यो के सम्बन्ध में बजट तैयार करना और व्यय पर नियंत्रण करना।
9. नये प्रारम्भ होने वाले कार्यक्रमों और योजनाओं को वित्तीय तथा प्रशासनिक अनुमति देना और उसमें आवश्यक संशोधन करना।
10. संसदीय दायित्वों का निर्वहन– संसद एवं संसदीय जाँच समिति के समक्ष पूछे गये प्रश्नों के उत्तर तैयार करवाने, जिससे संसदीय मंत्री, संसद में प्रश्नों के उत्तर दे सके।
11. केन्द्रीय सचिवालय राज्य सरकारों में समन्वय का कार्य करता है।
12. नीतियों की व्याख्या करना तथा सरकार की दूसरी शाखाओं की सहायता एवं उनके मध्य समन्वय स्थापित करना।
13. मंत्रालय/विभाग तथा उसके कार्यपालक अभिकरणों के कर्मचारियों एवं संगठन की क्षमता विकसित करने के लिए प्रयास करना।
14. राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों में समन्वय तथा विदेश, आर्थिक और वित्तीय नीति निर्माण में सहायता प्रदान करना।

केन्द्रीय सचिवालय, संघीय सरकार का प्रमुख कार्यपालक यंत्र है और संघीय विषयों के प्रशासन के प्रति उत्तरदायी होता है। भारत में संघीय व्यवस्था के कारण राज्य सरकारों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने का कार्य भी केन्द्रीय सचिवालय द्वारा किया जाता है। केन्द्रीय सचिवालय, एक और नीति निर्धारण, समन्वयकर्ता और नियंत्रक निकाय है, वहीं दूसरी ओर वह सरकार का प्रमुख कार्यपालक निकाय भी है।

आलोचना (Criticism)

केन्द्रीय सचिवालय प्रशासन की रीढ़ है किन्तु सचिवालय का बढ़ता हुआ क्षेत्र, कार्मिकों की संख्या में वृद्धि, अत्यधिक खर्चीली व्यवस्था, विलम्बकारी प्रक्रिया कार्यपालक अभिकरणों के कार्यो में अनावश्यक हस्तक्षेप के कारण केन्द्रीय सचिवालय अपनी निर्धारित भूमिका का कुशलतापूर्वक निर्वहन नहीं कर पा रहा है।

प्रभावशीलता बढ़ाने के लिए सुझाव (Suggestion to increase its effectiveness)

सचिवालय की कार्यप्रणाली एवं प्रभावशीलता में वृद्धि के लिए आवश्यक है कि प्रशासनिक आयोग की अनुशंसा के अनुरूप प्रशासनिक विभागों की अध्यक्षता विशेषज्ञों को सौंपी जाये। कार्यप्रणाली को सरल किया जाये व प्रशासन के निर्णय

स्तरों में भी कमी की जाये। साथ ही सचिवालय के आकार में भी जहाँ तक संभव हो कमी की जाये।

केन्द्रीय सचिवालय की प्रभावशीलता में वृद्धि के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता सक्षम नेतृत्व व दृढ़ इच्छा–शक्ति की है तभी प्रशासन में सुधार किये जा सकते है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- केन्द्रीय सचिवालय में भारत सरकार के सभी मंत्रालय एवं विभाग समाविष्ट हैं। इन मंत्रालयों या विभागों के प्रमुख राजनीतिक मंत्री होते है।
- मंत्रालयों की संरचना, त्रिस्तरीय है, शीर्ष पर राजनीतिक कार्यपालिका/मंत्री मध्य में सचिवालय और निम्न स्तर पर निदेशालय।
- राजनैतिक स्तर पर प्रत्येक मंत्रालय का प्रमुख केबिनेट मंत्री, द्वितीय स्तर पर विभाग/मंत्रालय का सचिवालय संगठन होता है, जिसका प्रमुख, सचिव होता है। तृतीय स्तर पर, मंत्रालय के अधीन विभाग या विभागों के कार्यपालक संगठन होते हैं।
- केन्द्रीय सचिवालय में अनेक मंत्रालय और विभाग है। मंत्रालय विभाग में, विभाग प्रभाग में, प्रभाग शाखा में और शाखा अनुभागों में विभाजित है। केन्द्रीय सचिवालय के अधिकारी वर्ग में प्रायः भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्य होते हैं।
- 1957 से केन्द्रीय सचिवालय के उच्चस्थ अधिकारियों की नियुक्ति हेतु 'केन्द्रीय स्टाफिंग योजना' आरम्भ की गई।
- सचिवालय की कार्यप्रणाली में व्याप्त शिथिलता को दूर करने एवं बढ़ती हुई मांगों के प्रभावी निष्पादन के लिए 'डेस्क प्रणाली' को आरम्भ किया गया है।
- केन्द्रीय सचिवालय, एक स्टाफ अभिकरण जैसी, गैर कार्यकारी,परामर्शदात्री और समन्वयकारी संस्था है। यह राजनीतिक एवं कार्यकारी स्तर के मध्य की कड़ी के रूप में कार्य करती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. केन्द्रीय सचिवालय को स्वतंत्रता से पूर्व किस नाम से जाना जाता था ?
   (अ) मंत्रिमण्डल सचिवालय
   (ब) इम्पीरियल सचिवालय
   (स) केन्द्रीय सचिवालय
   (द) सर्वोच्च सचिवालय ( )
2. केन्द्रीय सचिवालय में अवधि प्रणाली के जनक हैं –
   (अ) लॉर्ड रिपन (ब) लॉर्ड लिटन
   (स) लॉर्ड कर्जन (द) लॉर्ड कार्नवालिस ( )
3. निम्न में से किसे शाखा अधिकारी कहा जाता है –
   (अ) अवर सचिव (ब) सचिव
   (स) संयुक्त सचिव (द) सहायक सचिव ( )
4. केन्द्रीय सचिवालय में केन्द्रीय भर्ती योजना कब लागू की गई ?
   (अ) 1947 (ब) 1967
   (स) 1957 (द) 1977 ( )
5. 'वरिष्ठ चयन मण्डल' का अध्यक्ष कौन होता है ?
   (अ) मंत्रिमण्डल सचिव (ब) सचिव
   (स) मुख्य सचिव (द) संयुक्त सचिव ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. केन्द्रीय स्थापना मण्डल का अध्यक्ष कौन होता है ?
2. केन्द्रीय सचिवालय की आलोचना के दो आधार बताइये ?
3. केन्द्रीय सचिवालय को प्रभावी बनाने के दो सुझाव दीजिये।
4. केन्द्रीय सचिवालय की प्रकृति कैसी है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अवधि प्रणाली से आप क्या समझते हैं ?
2. डेस्क आफिसर सिस्टम क्या है ?
3. केन्द्रीय सचिवालय का अर्थ बताइये ?
4. केन्द्रीय सचिवालय की आवश्यकता के दो कारण लिखिये?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में केन्द्रीय सचिवालय के संगठन व कार्यकरण का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये ।
2. क्या आप केन्द्रीय सचिवालय को अपरिहार्य मानते हैं ? कारण सहित उत्तर दीजिये।
3. केन्द्रीय सचिवालय में अधिकारियों की नियुक्ति संबन्धी अवधि प्रणाली की विवेचना किजिये।
4. केन्द्रीय सचिवालय की आवश्यकता बताते हुए इसकी कमियाँ और उनमें सुधार हेतु सुझाव दीजिये।

उत्तरमाला

(1) ब (2) स (3) अ (4) स (5) अ

इकाई–V

अध्याय–10

प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण

(Executive Control Over Administration)

प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण से तात्पर्य राजनैतिक कार्यपालिका द्वारा नौकरशाही अर्थात स्थाई कार्यपालिका, लोक सेवकों के कार्यों पर नियंत्रण से है। इस प्रकार के नियंत्रण भारत और इंग्लैण्ड में केबिनेट और मंत्रियों द्वारा लगाये जाते हैं। संसदीय लोकतंत्र में शासन की नीतियों का क्रियान्वयन नौकरशाही (लोक सेवकों) द्वारा किया जाता है। साथ ही संसदीय लोकतंत्र में शासन के समस्त कार्यों का उत्तरदायित्व राजनैतिक कार्यपालिका (मंत्रि परिषद) पर होता है जो अपने कार्यो के लिए संसद (व्यवस्थापिका) के प्रति उत्तरदायी होती है। यद्यपि राजनैतिक कार्यपालिका द्वारा निर्मित नीतियों का क्रियान्वयन नौकरशाही (लोक सेवकों) द्वारा किया जाता है परन्तु लोक सेवा से संबद्ध किसी अधिकारी और कर्मचारी को उनके द्वारा किये गये कार्यो के उत्तरदायित्व के लिए संसद (व्यवस्थापिका) के समक्ष नहीं बुलाया जा सकता है। समस्त सफलता और असफलताओं का उत्तरदायित्व संबधित विभाग के मंत्री या केबिनेट का ही होता है। इस उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए यह आवश्यक है कि कार्यपालिका (राजनैतिक) का प्रशासन पर प्रभावी नियंत्रण हो। राजनैतिक कार्यपालिका जिन साधनों से प्रशासन (स्थाई कार्यपालिका) पर नियंत्रण करती है, वे अग्रवत् हैं :–

(1) राजनैतिक निर्देश (नीति निर्माण)

(Political Instructions (Policy Formulation)

संसदीय लोकतंत्र में मंत्रिमण्डल नीतियों का निर्माण करके व्यवस्थापिका (संसद) से स्वीकृत कराने के लिए उत्तरदायी है और निर्मित नीतियों को लागू करने का कार्य लोकसेवकों द्वारा किया जाता है। चूंकि नीतियों के सफल क्रियान्वयन हेतु भी राजनैतिक कार्यपालिका (केबिनेट) उत्तरदायी होती है। अतः इन नीतियों के सफल कार्यान्वयन की दृष्टि से कार्यपालिका के पास लोक सेवकों के निर्देशन, निरीक्षण, पर्यवेक्षण, समन्वय एवं नियंत्रण की शक्ति होती है। साथ ही मंत्री जो कि एक या एक से अधिक विभागों का प्रभारी होता है। विभागीय नीति और निर्देश तैयार करता है और (प्रशासकों पर) इन नीतियों के क्रियान्वयन के दौरान पर्यवेक्षण व समन्वय का कार्य करता है। इस प्रकार राजनैतिक निर्देशो के द्वारा मंत्री अपने विभाग/ मंत्रालय के प्रशासकीय अभिकरणों की क्रियाओं पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित करता है। विभागीय अधिकारी प्रत्यक्ष और पूर्णरूपेण मंत्री के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(2) बजट प्रणाली द्वारा नियंत्रण

(Control through Budget)

कार्यपालिका बजट प्रणाली के माध्यम से भी प्रशासन पर नियंत्रण रखती है। यह बजट का निर्माण करती है और व्यवस्थापिका से इसे पारित कराती है तथा प्रशासकीय अभिकरणों को उनके व्ययों हेतु आवश्यक कोष आवंटित करती है। इन सब गतिविधियों में वित्त मंत्रालय (जो कि भारत सरकार का केन्द्रीय वित्तीय अभिकरण है) महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वित्त मंत्रालय प्रशासन पर निम्न विधियों से वित्तीय नियंत्रण स्थापित करता है :

1. विभागों/मंत्रालयों की नीतियों एवं कार्यक्रमों के सिद्धान्त के रूप में अनुमोदन द्वारा,
2. बजट अनुमानों के प्रावधानों की स्वीकृति द्वारा,
3. प्रत्यायोजित शक्ति के अधीन व्ययों की स्वीकृति द्वारा,
4. वित्तीय सलाह द्वारा,
5. अनुदानों के पुनर्विनियोग द्वारा,
6. आन्तरिक अंकेक्षण व्यवस्था द्वारा
7. व्यय करने वाले प्राधिकारियों के लिए वित्तीय संहिता का निर्माण करना।

(3) नियुक्ति और निष्कासन के द्वारा नियंत्रण

(Control through Appointment and Removal)

कार्यपालिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण का यह सबसे प्रभावी तरीका है। कार्यपालिका, कार्मिक प्रबन्ध और निंयत्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। कार्यपालिका के इस कार्य में कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग, वित्त विभाग और संघ लोक सेवा आयोग सहायता करते हैं। मंत्री, जो अपने विभाग का प्रमुख होता है, अपने विभाग के सचिव और विभागाध्यक्षों जैसे उच्च प्रशासकों के चयन और नियुक्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है तथा अपने विभागों के प्रशासन में इन नियुक्तियों के माध्यम से पूर्ण नियंत्रण रखता है। यद्यपि कार्मिकों की भर्ती

संघ/राज्यों के लोक सेवा आयोगों द्वारा की जाती है किन्तु भर्ती के नियम, योग्यता आदि कार्यपालिका द्वारा निर्धारित किये जाते हैं एवं कार्यपालिका को कार्मिकों के निष्कासन/पद नियुक्ति करने का अधिकार भी प्राप्त है।

(4) प्रत्यायोजित विधान (Delegated legislation)

प्रत्यायोजित विधान या कार्यपालिका व्यवस्थापन भी प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। व्यवस्थापिका के कार्यकलापों में वृद्धि होने, समयाभाव एवं तकनीकी विशेषज्ञों के अभाव के कारण, आजकल व्यवस्थापिका नीति का एक मोटा प्रारूप तैयार कर उससे सम्बन्धित बारीकियों पर विधि निर्माण का अधिकार कार्यपालिका को दे देती है इसे ही प्रत्यायोजित विधान कहा जाता है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका से प्राप्त प्रारूप के आधार पर नियम, विनियम, सेवा शर्तें, अधिकार क्षेत्र कर्त्तव्यों आदि का निर्धारण करती है।

(5) अध्यादेशों के द्वारा नियंत्रण (Control through ordinance)

भारत का संविधान मुख्य कार्यपालक (केन्द्र में राष्ट्रपति एवं राज्यों में राज्यपाल) को व्यवस्थापिका (संसद/विधानसभा) का अधिवेशन नहीं चलने के दौरान आकस्मिक परिस्थितियों का सामना करने के लिए अध्यादेश जारी करने को अधिकृत करता है। यह अध्यादेश व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों की भांति ही आधिकारिक एवं शक्ति सम्पन्न होता है और प्रशासन के कार्यों को शासित करता है।

(6) लोक सेवा आचार संहिता द्वारा (Control through Code of Coduct of public service)

कार्यपालिका द्वारा लोक सेवा संहिता का निर्धारण किया जाता है जिसका सभी प्रशासकों को उनकी कार्यालयी शक्तियों के प्रयोग के दौरान पालन करना अनिवार्य होता है इन आचरण नियमों से केवल लोकसेवाओं में अनुशासन और कार्यकुशलता बनाये रखने मे सहायता मिलती है वरन् ये प्रशासकों को उनकी शक्तियों के दुरूपयोग को रोकने में भी सहायक होते हैं। भारत में ऐसे नियमों में मुख्यतः निम्न नियम हैं :

1. अखिल भारतीय सेवायें (आचरण) नियम, 1954
2. केन्द्रीय सिविल सेवा (आचरण) नियम, 1955
3. रेलवे सेवा (आचरण) नियम, 1956,

ये आचरण नियम मुख्यतः राज्य के प्रति वफादारी उच्चाधिकारियों का सम्मान, आदेशों की पालना, लोकसेवकों की राजनैतिक–गतिविधियों, सम्पत्ति, मद्यपान, दूसरे विवाह पर प्रतिबन्ध इत्यादि से संबन्धित हैं।

प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण की समस्याएँ (Problem of Executive Control Over Administration)

प्रशासन पर कार्यपालिका के प्रभावी नियंत्रण की प्रमुख समस्याएँ निम्नांकित हैं :

1. मंत्रियों का चयन योग्यता व अनुभव पर आधारित नहीं होकर उनके चयन का आधार राजनीतिक होता हैं।
2. मंत्री पेशेवर प्रशासक नहीं होते। उन्हें विभाग का कार्य सौंपे जाने से पूर्व या बाद में कोई प्रशिक्षण नहीं दिया जाता और वे विषय विशेषज्ञ नहीं होते हैं।
3. मंत्रियों का अधिकांश समय राजनीतिक गतिविधियो में ही व्यतीत हो जाता है। फलस्वरूप वे विभागीय कार्यो को समझने में समय नहीं दे पाते।
4. सरकार का अस्थायित्व व मंत्रियों के विभागों में नित नये परिवर्तन, ये ऐसे तथ्य हैं जो प्रभावी नियंत्रण के मार्ग में बाधक हैं।
5. मंत्रियों के विपरीत प्रशासन के अधिकारी योग्य, अनुभवी, कुशल, एवं विशेषज्ञ होते हैं। इसलिए मंत्री इन अधिकारियों पर आश्रित रहते हैं।

उपर्युक्त समस्याओं के कारण सरकार राजनीतिज्ञों द्वारा नहीं वरन् लोकसेवकों द्वारा संचालित होती है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से मंत्रिमण्डल निर्माण में विशेषज्ञों को महत्त्व दिया जाने लगा है। यदि इस प्रवृत्ति को बढ़ाया गया और मंत्रिमण्डल निर्माण में अधिकाधिक योग्य, प्रतिभाशाली, लोकप्रिय और विशेषज्ञों को स्थान दिया गया तो प्रशासन पर कार्यपालिका का प्रभावी नियंत्रण स्थापित हो सकेगा।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा निर्मित नीतियों का क्रियान्वयन प्रशासनिक कार्यपालिका अथवा ब्यूरोक्रेसी द्वारा किया जाता है।
- प्रशासनिक कार्यपालिका अपने किये गये कृत्यों के लिए संसद के प्रति प्रत्यक्षतः उत्तरदायी नहीं है।
- प्रशासनिक सफलताओं–असफलताओं का उत्तरदायित्व सम्बन्धित विभाग के मंत्री या केबिनेट का होता है अतः प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण की आवश्यकता है।
- कार्यपालिका नियंत्रण के साधन हैं : राजनैतिक निर्देश

(नीति–निर्माण), बजट द्वारा, प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति व निष्कासन का अधिकार, प्रत्यायोजित विधान, अध्यादेश व लोक सेवा संहिता के निर्माण द्वारा।

- कार्यपालिका नियंत्रण की समस्याएँ हैं : मंत्रियों का चयन योग्यता के स्थान पर राजनीतिक आधार पर होता है, मंत्री विषय विशेषज्ञ नहीं होते, मंत्रियों के पास समय का अभाव, सरकार का अस्थायित्व, मंत्रियों की तुलना में प्रशासक अधिक कुशल व विशेषज्ञ होने के कारण प्रभावी नहीं हो पाता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

(1) निम्न में से कौनसा साधन कार्यपालिका नियंत्रण के अन्तर्गत नहीं आता ?

(अ) नियुक्ति एवं पदच्युति (ब) लोक सेवा संहिता

(स) योजनाएँ (द) प्रश्नकाल ( )

(2) लोक प्रशासन पर कार्यपालिका–नियंत्रण की प्रभावशीलता निम्नांकित में से किन किन पर निर्भर है ?

(अ) लोक सेवकों तथा मंत्रियों के बीच सम्बन्ध

(ब) मंत्रियों के अनुभव व योग्यताएँ

(स) मंत्रियों का विशेषज्ञ होना

(द) देश में विद्यमान राजनैतिक प्रणाली का स्वरूप

सही कूट चुनिये –

(अ) 1 तथा 2 (ब) 2 तथा 3

(स) 1, 2 तथा 3 (द) सभी सही ( )

(3) निम्नांकित में से कौनसा एक तरीका प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण का नहीं है –

(अ) सेवा नियम बनाना

(ब) अधिकारियों को सजा देना

(स) शिकायतें सुनना

(द) संसद में प्रशासन को बचाना ( )

(4) प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण का सबसे कम प्रभावी साधन है–

(अ) कार्यपालिका व्यवस्थापन (ब) बजटरी व्यवस्था

(स) अध्यादेश (द) लोकमत से अपील ( )

(5) निम्नलिखित में से कौनसा सही नहीं है –

सार्वजनिक व्यय पर वित्त मंत्रालय इन चरणों में अपना नियंत्रण रखता है–

(अ) नीतियों व कार्यक्रमों का सैद्धान्तिक रूप से अनुमोदन

(ब) बजट अनुमान प्रावधानों की स्वीकृति

(स) प्रशासनिक मंत्रालयों को प्रत्यायोजित अधिकारों की शर्तो के अनुसार व्यय से पहले स्वीकृति देना

(द) आन्तरिक वित्त सलाहकार की नियुक्ति ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनैतिक कार्यपालिका से क्या तात्पर्य है ?
2. स्थाई कार्यपालिका से क्या आशय है ?
3. प्रत्यायोजित विधान किस को प्रदत्त किया गया है ?
4. अध्यादेश कब व कौन जारी करता है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. कार्यपालिका नियंत्रण के चार तरीके बताइये ?
2. वित्त मंत्रालय प्रशासन पर किस प्रकार नियंत्रण करता है ?
3. प्रशासन पर कार्यपालिका नियंत्रण की चार समस्याएँ लिखिये?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रशासन पर कार्यपालिका के नियंत्रण के साधन एवं सीमाओं का विवेचन कीजिये ?
2. क्या प्रशासन पर कार्यपालिका का नियंत्रण प्रभावी है ? प्रशासन के समक्ष कार्यपालिक नियंत्रण की समस्याओं का उल्लेख कीजिये।

उत्तरमाला

(1) द (2) स (3) द (4) द (5) द

अध्याय–11

राज्यपाल : शक्तियाँ एवं भूमिका
(The Governor : Powers and Role)

''राज्यपाल संवैधानिक औचित्य का प्रहरी और वह कड़ी है जो राज्य को केन्द्र के साथ जोड़ते हुए भारत की एकता के लक्ष्य को प्राप्त करता है।'' के.के.मुंशी

भारत में संघीय व्यवस्था अपनाई गई है, जिसके अनुरूप दो स्तर पर शासन संचालन किया जाता है, केन्द्रीय स्तर पर तथा राज्य स्तर पर। केन्द्र में राष्ट्रपति तथा मंत्रिपरिषद सहित प्रधानमंत्री कार्यपालिका के प्रमुख भाग हैं। राज्य स्तर पर राज्यपाल तथा मंत्रिपरिषद सहित मुख्यमन्त्री मिलकर कार्यपालिका का गठन करते हैं, यानि केन्द्र में जो स्थिति राष्ट्रपति की है, राज्य में लगभग वही स्थिति राज्यपाल की है।

संविधान के भाग 6 में अनुच्छेद 153 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल होगा। एक ही व्यक्ति दो से अधिक राज्यों का भी राज्यपाल हो सकता है, यह व्यवस्था संविधान के सातवें संशोधन (1956) द्वारा की गई है।

यहाँ एक तथ्य स्पष्ट कर देना आवश्यक है। राज्यपाल का पद स्वतन्त्र भारत में नया नहीं है। ब्रिटिश भारत में भी प्रान्तों के राज्यपाल ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधित्व करते थे। लेकिन ब्रिटिश कालीन भारत के राज्यपाल व स्वतन्त्र भारत के राज्यपाल में मूलभूत अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम वर्ग केन्द्रीय सत्ता तथा निरंकुशता का प्रतीक था, वहीं दूसरी ओर स्वततंत्र भारत में राज्यपाल, केन्द्र और राज्य के मध्य ऐसी कड़ी है, जिसकी एक ओर राज्य के स्थानीय विकास व आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील भूमिका अपेक्षित है, दूसरी ओर यह भी आशा की जाती है कि वह राष्ट्रीय एकता व राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लक्ष्य को ध्यान में रखेगा।

नियुक्ति (Appointment)

संविधान के अनुच्छेद 155 में राज्यपाल की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति की जाती है तथा राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त वह अपने पद पर बना रह सकता है।

कार्यकाल तथा पदमुक्ति (Tenure and Dismissal)

भारतीय संविधान के अनुसार, राज्यपाल, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त कार्य करता है। सामान्यतया, राज्यपाल का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है, पर राष्ट्रपति उसे समय से पूर्व वापस बुला सकता है तथा पदमुक्त कर सकता है या राज्यपाल का दूसरे राज्य में स्थानान्तरण भी कर सकता है। राज्यपाल स्वयं भी राष्ट्रपति को संबोधित करके त्याग पत्र दे सकता है तथा पद मुक्त हो सकता है। सामान्यतया, अपने पाँच वर्ष का कार्यकाल समाप्त करके वह तब तक पद पर बना रह सकता है जब तक अन्य व्यक्ति उस पद पर नियुक्त न कर दिया जाए।

आवश्यक योग्यताएँ (Essetial Qualifications):

राज्यपाल के पद पर नियुक्ति के लिए आवश्यक है कि वह व्यक्ति

1. भारत का नागरिक हो।
2. 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो;
3. केन्द्र या राज्य विधायिका का सदस्य न हो, यदि वह सदस्य है तो राज्यपाल नियुक्त होते ही वह पद रिक्त माना जायेगा; तथा
4. किसी लाभ के पद पर आसीन न हो;

सामान्यतया यह परम्परा है कि राज्यपाल उस राज्य का निवासी न हो, यद्यपि इस परम्परा के अपवाद भी हैं। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से इस परम्परा के निर्वहन की अपेक्षा की गई है।

शपथ (Oath)

राज्यपाल को पद की शपथ, राज्य के मुख्य न्यायाधीश द्वारा दिलाई जाती है। राज्यपाल द्वारा संविधान के संरक्षण, जन कल्याण व सेवा की शपथ ली जाती है।

वेतन तथा अन्य सुविधाएँ (Salary and other Facilities)

राज्यपाल को 1.10 लाख रूपये मासिक वेतन प्राप्त होता है तथा पद की गरिमा के अनुकूल, अन्य भत्ते व सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। राज्यपाल के कार्यकाल के दौरान उसके वेतन भत्तों तथा अन्य सुविधाओं को कम नहीं किया जा सकता ।

शक्तियाँ व कार्य (Powers and Functions)

एक राज्यपाल को अपने कार्यों के निष्पादन में सहायता व परामर्श देने के लिए मंत्रिपरिषद होगी, ऐसी व्यवस्था संविधान द्वारा की गई है। संविधान के अनुच्छेद 163(1) द्वारा राज्यपाल को विवेकाधिकार की शक्तियाँ भी दी गई हैं। इस प्रकार राज्यपाल की शक्तियों को दो श्रेणी में रखा जा सकता है :

1. **मुख्यमन्त्री व मंत्रिपरिषद के परामर्श व सहायता से प्रयुक्त शक्तियाँ;**
2. **स्वविवेक के आधार पर प्रयुक्त शक्तियॉ।**

मुख्यमन्त्री व मंत्रिपरिषद के परामर्श से प्रयुक्त शक्तियाँ

(Powers Executed with the counsel of the Chief Minister)

इस श्रेणी में कार्यपालिका, विधायी, वित्तीय व न्यायिक शक्तियाँ आती हैं, जिनका विस्तृत विश्लेषण अग्रलिखित है :

कार्यपालिका शक्तियाँ (Excutive powers)

संविधान के अनुच्छेद 154 के अनुसार, राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होंगी और वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करेगा। इन शक्तियों के अन्तर्गत राज्यपाल विभिन्न पदों पर नियुक्तियाँ करता है, यथा :

1. मुख्य मन्त्री की नियुक्ति
2. मुख्य मन्त्री की सलाह पर मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति;
3. राज्य के महाअधिवक्ता एवं राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति, तथा;
4. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति को सलाह।

राज्यपाल मुख्यमन्त्री की सलाह से मन्त्रियों के विभाग का वितरण करता है तथा इन्हें पद व गोपनीयता की शपथ दिलाता है। उनका त्याग पत्र स्वीकार करता है तथा परिस्थिति के अनुसार उन्हें पदच्युत करता है। संविधान के अनुच्छेद 167 के अनुसार, प्रत्येक राज्य के मुख्यमंत्री का यह कर्त्तव्य होगा कि वह राज्य के कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी तथा मंत्रिपरिषद के निर्णयों की सूचना राज्यपाल को दे। राज्यपाल भी समय–समय पर मंत्रियों को सलाह, प्रोत्साहन व चेतावनी दे सकता है।

राज्यपाल राज्य की सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही के लिए उत्तरदायी है। वह राष्ट्रपति को राज्य के सम्बन्ध में प्रतिवेदन भेजता है। यदि राज्य में संवैधानिक संकट की स्थिति उत्पन्न होती है तो इसकी सूचना राष्ट्रपति को देता है, जिसके आधार पर राज्य में संवैधानिक संकट के आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। इन परिस्थितियों में राज्यपाल शासन के संचालन के लिए उत्तरदायी होता है।

राज्यपाल राज्य के विश्वविद्यालयों का पदेन कुलाधिपति होता है तथा विश्वविद्यालयों में कुलपति की नियुक्ति करता है। वह विश्वविद्यालय की चयन समिति में अपना प्रतिनिधि नियुक्त करता है। राज्यपाल द्वारा समय–समय पर विश्वविद्यालयों की कार्यवाही की जाँच भी की जा सकती है पर इस सम्बन्ध में संविधान द्वारा शक्तियाँ सुनिश्चित नहीं की गई हैं। अतः राज्यपाल की इस सन्दर्भ में विभिन्न राज्यों में तथा विभिन्न कालों में भूमिका भिन्न–भिन्न रही है।

इसके अतिरिक्त असम के राज्यपाल को जनजातीय क्षेत्रों के प्रबन्धन के लिए तथा सिक्किम के राज्यपाल को शान्ति स्थापित करने के लिए विशेष अधिकारों की व्यवस्था संविधान द्वारा की गई है।

विधायी शक्तियाँ (Legislative Powers)

कार्यपालिका की भाँति राज्यपाल विधायिका का भी प्रमुख है। विधायिका के चुनाव के पश्चात सामान्यतया राज्यपाल नई विधान सभा में उद्घाटन भाषण देता है। हर वर्ष पहले सत्र में सदन को सम्बोधित करता है, वह विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है, सत्रावसान कर सकता है तथा राज्य विधान सभा को भंग कर सकता है। राज्य विधान मण्डल के दोनों सदनों को अलग–अलग या संयुक्त रूप से सम्बोधित कर सकता है। विधान सभा में विचार के लिए अपना संदेश भेज सकता है।

विधान सभा द्वारा पारित विधेयक तभी कानून का रूप धारण कर सकता है जब राज्यपाल उस पर हस्ताक्षर करता है। राज्यपाल चाहे तो हस्ताक्षर के लिए आये विधेयक पर अपनी सहमति दे सकता है या विधान सभा में विचारार्थ पुनः वापिस भेज सकता है। विधान सभा जब उसे संशोधन सहित या रहित जैसे भी पुनः भेजे तो राज्यपाल के लिए उस पर हस्ताक्षर करना आवश्यक है। पुनः प्रेषित विधेयक को राज्यपाल पुर्नविचार के लिए वापस नहीं भेज सकता है। आवश्यकता होने पर राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख सकता है।

विधान सभा तथा विधान–परिषद में अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष तथा सभापति अथवा उपसभापति का स्थान रिक्त होने पर राज्यपाल किसी व्यक्ति को अध्यक्षता करने के लिए नियुक्त

कर सकता है।

विधानसभा जब सत्र में न हो तब शासन संचालन के लिए आवश्यक होने पर मुख्यमन्त्री की सलाह पर राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता है। संविधान के अनुच्छेद 213(1) के अन्तर्गत जारी अध्यादेश कानून की भाँति प्रभावी होते हैं तथा विधान सभा के सत्र में आने पर छः सप्ताह तक प्रभावी रहते हैं। इन छः सप्ताहों के बीच या तो विधान सभा उसे स्वीकृत कर देती है अन्यथा ये समाप्त हो जाते हैं। कुछ अध्यादेश राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के बिना जारी नहीं किये जा सकते।

भारत के कुछ राज्यों में द्विसदनीय विधान मण्डल है। ऐसे राज्यों में राज्यपाल द्वारा विधानमण्डल के दूसरे सदन विधान परिषद में कला, विज्ञान, समाज सेवा आदि क्षेत्रों में प्रसिद्ध व्यक्तियों को मनोनीत किया जा सकता है। ऐसे मनोनीत सदस्यों की संख्या कुल सदस्य संख्या का 1/6 होती है। ये नियुक्तियाँ मुख्य मंत्री की सलाह पर की जाती हैं।

वित्तीय शक्तियाँ (Financial Powers)

वित्तीय विधेयक राज्यपाल की पूर्वानुमति से ही विधान सभा में प्रस्तुत किया जा सकता है। राज्यपाल द्वारा वित्तीय वर्ष प्रारम्भ होने के पूर्व वार्षिक वित्तीय विवरण विधान सभा में प्रस्तुत किया जाता है। वह पूरक व अतिरिक्त व्यय के बजट को विधान सभा में प्रस्तुत करता है तथा बजट स्वीकृत होने तक आकस्मिक निधि से धन व्यय करने की आज्ञा दे सकता है।

न्यायिक शक्तियाँ (Judicial Powers)

राज्य सूची में दिये गये विषयों के सम्बन्ध में न्यायालय द्वारा दण्डित व्यक्तियों को राज्यपाल द्वारा क्षमा किया जा सकता है। वह दण्ड को निलम्बित तथा स्थगित कर सकता है। लेकिन राज्यपाल की अनुच्छेद 161 के अन्तर्गत क्षमादान की शक्तियाँ, राष्ट्रपति को अनुच्छेद 72 के अन्तर्गत प्रदत्त शक्तियों से भिन्न हैं। मृत्युदण्ड को क्षमा प्रदान करना व सैनिक न्यायालयों द्वारा दिये गये दण्ड को क्षमा करना राष्ट्रपति के अधिकार क्षेत्र में है। राज्यपाल को इस प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं।

राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल से परामर्श किया जाता है। जिलाधीश व अन्य न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति तथा पदोन्नति के सम्बन्ध में भी राज्यपाल को अधिकार प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त राज्यपाल, राज्य लोक सेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन तथा राज्य की आय व्यय के सम्बन्ध में महा लेखा परीक्षक का प्रतिवेदन प्राप्त करता है तथा उन्हें विधान मण्डल के समक्ष रखता है।

विवेकाधिकार शक्तियाँ (Discretionary Powers)

संविधान का अनुच्छेद 163(2) राज्यपाल की स्वविवेकीय उत्तरदायित्वों व शक्तियों को परिभाषित करता है। ऐसी शक्तियों के प्रयोग का निर्णय राज्यपाल स्वयं करता है तथा अनुच्छेद 163(3) के अनुसार "इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच नहीं की जायेगी कि क्या मंत्रियों ने किसी राज्यपाल को सलाह दी, और यदि दी तो क्या दी।" संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों का उल्लेख है यथा :

1. राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ भेजने के लिए रोक सकता है।
2. राज्य के संवैधानिक तन्त्र के विफल होने की सूचना अनुच्छेद 356 के तहत राष्ट्रपति को दे सकता है।
3. संघ राज्य क्षेत्र के प्रशासक के रूप में कुछ कार्यों को स्वतन्त्र रूप से करने का अधिकार राज्यपाल को है।
4. छठी अनुसूची असम के राज्यपाल को दो विवेकाधिकार प्रदान करती है।
5. संविधान के कुछ अनुच्छेदों के तहत यदि राष्ट्रपति कुछ निर्देश देता है तो राज्यपाल उन दायित्वों को पूरा करता है।

सामान्यतया संविधान निर्माताओं की राज्यपाल से यह अपेक्षा थी कि राज्य की दिन प्रतिदिन कार्यवाही में वे अधिक हस्तक्षेप नहीं करेंगे लेकिन समस्त गतिविधियों पर राज्य के वरिष्ठ नागरिक की हैसियत से एक सजग दृष्टि रखेंगे, आवश्यकता पड़ने पर सलाह भी देंगे, लेकिन अधिक अधिकार प्रयोग की अपेक्षा नहीं थी।

स्वतंत्रता के प्रारम्भिक वर्षों में केन्द्र तथा राज्य में एक ही दल की सरकार रहीं, लेकिन चौथे आम चुनावों के बाद परिस्थितियों में मोड़ आया। राज्यों में एक दल का वर्चस्व क्षीण होने लगा तथा मिली जुली सरकारों का दौर प्रारम्भ हुआ। धीरे–धीरे केन्द्र में ऐसी ही परिस्थितियाँ बनीं। इन परिवर्तित परिस्थितियों ने राज्यपाल को स्वविवेक प्रयोग के अनेक अवसर प्रदान किये। कुछ अवसरों पर राज्यपालों ने सूझबूझ तथा व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया तो कहीं कही उनके व्यवहार ने उनकी भूमिका को विवादास्पद बना दिया। उन परिस्थितियों की थोड़ी विस्तृत चर्चा आवश्यक है जहाँ राज्यपाल को स्वविवेक के अवसर प्रस्तुत हुए।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति व विमुक्ति (Appointment and Dismissal of the Chief Minister)

सामान्यतया विधान मण्डल में बहुमत दल के नेता को

राज्यपाल द्वारा सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाता है, तथा ऐसे में राज्यपाल को मात्र औपचारिकताओं का निर्वाह करना होता है। लेकिन विधान मण्डल में अगर किसी भी एक दल को बहुमत प्राप्त न हो तो मुख्यमंत्री पद के लिए आमंत्रित करने के राज्यपाल के दायित्व को महत्ता प्राप्त होती है और राज्यपाल के स्वविवेक के प्रयोग के अवसर बढ़ जाते हैं। राजस्थान में 1967 में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। राज्यपाल के सामने प्रश्न था कि सबसे बड़े दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करें या कई दलों के मिले जुले गठबन्धन के नेता को सरकार बनाने का अवसर दें। राज्यपाल ने पहला विकल्प चुना। लेकिन अन्ततः राज्य में विरोध को देखते हुए राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा। भारत के विभिन्न राज्यों में ऐसी परिस्थितियाँ समय–समय पर उत्पन्न होती रही हैं। इस सम्बन्ध में सरकारिया आयोग ने राज्यपाल के स्वविवेक को सीमित करने के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया है।

जहाँ तक मुख्यमन्त्री की नियुक्ति का प्रश्न है, संविधान के अनुसार, मंत्रि परिषद सहित मुख्यमन्त्री, राज्यपाल के प्रसाद–पर्यन्त अपने पद पर रह सकते हैं। लेकिन संविधान में यह भी व्यवस्था है कि मंत्रिपरिषद सहित मुख्यमन्त्री विधायिका के प्रति उत्तरदायी हैं। ऐसे में राज्यपाल के यथार्थ में अधिकार सीमित थे लेकिन यदि कोई सरकार अल्पमत में आ जाये तो राज्यपाल उसे विधानसभा में बहुमत सिद्ध करने का आदेश दे सकता है। यदि मुख्यमन्त्री व मंत्रिपरिषद विधान सभा में अपना बहुमत सिद्ध करने में असफल रहते हैं तो राज्यपाल उसे बर्खास्त कर सकता है। यदि विधानसभा में अविश्वास प्रस्ताव पारित होने के बाद भी मुख्यमन्त्री त्यागपत्र नहीं देता तो राज्यपाल उसे बर्खास्त कर सकता है।

विधानसभा की बैठक का आह्वान करना (To Call the Meeting of the Legislative Assembly)

सामान्यतया राज्यपाल मुख्यमन्त्री व उसके मन्त्रिमण्डल की सलाह पर विधान सभा की बैठक का आह्वान करता है। लेकिन विधान सभा में हार के भय से यदि कोई मुख्यमंत्री राज्यपाल को विधान सभा का सत्र बुलाने की सलाह न दें तो राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। डा. बी. आर. अम्बेडकर का मानना था विधान सभा आहूत करना राज्यपाल का अधिकार नहीं कर्त्तव्य है। 1970 में हुई राज्यपालों की संगोष्ठी में यह मत व्यक्त किया गया था कि मुख्यमन्त्री की सलाह के विरूद्ध भी राज्यपाल को विधानसभा के सत्र का आह्वान करना चाहिए।

विधान सभा : सत्रावसान व भंग करना (The Legislative Assembly : End of the Session and Dissolution)

विधान सभा के किसी सत्र का अवसान घोषित करते समय भी राज्यपाल द्वारा मुख्यमन्त्री तथा मंत्रिमण्डल द्वारा सलाह लेने की परम्परा है पर यदि कोई मुख्यमन्त्री हार से बचने या अविश्वास प्रस्ताव से बचने के लिए विधान सभा को भंग करने की सलाह दे तो राज्यपाल को स्वविवेक के प्रयोग का अधिकार हैं।

जहाँ तक विधान सभा भंग करने का प्रश्न है, कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल के पास मुख्यमंत्री तथा उसके मंत्रिमण्डल की सलाह मानने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है, जैसे – सरकार बहुमत में होते हुए भी विधानसभा भंग करने का परामर्श दे या बिना बजट पारित किये मंत्रिमण्डल त्याग पत्र दे तो अनुच्छेद 356 के तहत राज्यपाल विधान सभा भंग कर सकता है। लेकिन यदि कोई सरकार बहुमत खो देने के भय से विधान सभा भंग करने की सलाह दे तो राज्यपाल का यह विवेकाधिकार है कि वह ऐसे परामर्श की उपेक्षा करे।

राज्यपाल का सम्बोधन (Address of The Governor)

राज्यपाल के सभी भाषण मुख्यमंत्री व उसके मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किये जाते हैं। सामान्यतया राज्यपाल द्वारा उसे उसी रूप में प्रस्तुत करना चाहिए लेकिन यदि भाषण में राज्यपाल के किसी पूर्ववर्ती कार्य की आलोचना हो, या कोई वाक्यांश केन्द्र–राज्य सम्बन्ध में बाधा उत्पन्न कर रहा हो या संवैधानिक भावना के अनुकूल न हो तो उन वाक्यांशों को न पढ़ना राज्यपाल का स्वविवेकाधिकार है।

विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रोकना (Legislature for the Consideration of the President)

संविधान के अनुच्छेद 200 के अनुसार, राज्य विधायिका द्वारा पारित कोई विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचारार्थ रोका जा सकता है यदि वह अनुभव करे कि विधेयक असंवैधानिक है; देश के व्यापक हित के विरूद्ध है; राष्ट्रीय महत्त्व का है; निदेशक तत्वों के विरूद्ध है; उच्च न्यायालय की स्थिति को खतरे में डालता है या सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण से सम्बन्धित है।

विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखना राज्यपाल का विवेकाधिकार है क्योंकि ऐसा करने की सलाह

मुख्यमन्त्री द्वारा दी नहीं जा सकती। संविधान में यह स्पष्ट नहीं है कि ऐसा विधेयक कब तक रोका जा सकता है या कितने दिन में इसे वापस आ जाना चाहिए। राज्यपाल के इस अधिकार के दुरूपयोग होने की सम्भावना है।

विधेयक पर हस्ताक्षर (Signature on the Legistature)

विधायिका से पारित विधेयक, राज्यपाल के पास हस्ताक्षर के लिए भेजा जाता है, हस्ताक्षर के बाद ही वह कानून का रूप धारण कर सकता है। राज्यपाल का यह विवेकाधिकार है कि वह विधेयक पर हस्ताक्षर करे या उसे पुनर्विचार के लिए विधायिका के पास वापस भेज दे। यद्यपि पुनर्विचारित विधेयक संशोधन सहित या रहित, जिस भी रूप में वापस राज्यपाल के पास हस्ताक्षर के लिए आता है तो राज्यपाल के लिए उस पर हस्ताक्षर करना आवश्यक है। लेकिन कोई विधेयक जब विधायिका में पहली बार वापस जाता है तो उस पर नवीन दृष्टि से विचार होता है। विभिन्न राज्यपालों ने समय–समय पर अपने इस अधिकार का प्रयोग किया है।

सूचनाएँ प्राप्त करना (To Collect Informations)

संविधान के अनुच्छेद 167(1) के अनुसार, मुख्यमंत्री का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य प्रशासन तथा नये विधायकों सम्बन्धी निर्णयों से राज्यपाल को अवगत कराये। अनुच्छेद 167(ग) के तहत राज्यपाल को अधिकार है कि ऐसा विषय, जिस पर सम्बन्धित मंत्री ने निर्णय ले लिया हो, पर मन्त्रिमण्डल में विचारार्थ प्रस्तुत नहीं किया गया हो, को मुख्यमन्त्री से अपने पास मंगवा ले। राज्यपाल निर्णय के उन अंशों को रेखांकित कर सकता है जिस पर मंत्रिमण्डल द्वारा दुबारा विचार की आवश्यकता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि राज्यपाल को स्वविवेक शक्तियॉं उसे सम्पूर्ण शासन और प्रशासन पर एक सजग व चौकन्नी निगाह रखने का अधिकार देती हैं। यदि सभी व्यवस्था संविधान के अनुकूल चल रही है तो उसमें बाधा उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन यदि कहीं भी शासन–प्रशासन संविधान के अनुकूल मार्ग पर नहीं चल रहा हो तो राज्य प्रमुख होने के नाते सलाह देना राज्यपाल का कर्त्तव्य तथा अधिकार है।

क्या राज्यपाल संघ का अभिकर्त्ता है? (Is the Governor the Agent of the Union?)

यद्यपि संविधान का उद्देश्य राज्यपाल को केन्द्र तथा राज्य के मध्य संतुलनकारी कड़ी के रूप में कार्य करने की रही है तथापि कतिपय राज्यपालों के आचरण से यह लगने लगा कि राज्यपालों द्वारा राज्य के हित का ध्यान कम रखा जा रहा है, केन्द्रीय निर्देश पर काम करने की प्रवृत्ति अधिक हो रही है। विशेष रूप से संविधान के अनुच्छेद 356 के प्रयोग के माध्यम से राज्यों में राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति शासन लागू करने की अनुशंसा के अधिकार को लेकर विवाद की स्थिति आई। इस संवैधानिक प्रावधान के सम्बन्ध में डा. बी. आर. अम्बेडकर ने कहा था कि इस अनुच्छेद के प्रयोग का अवसर बहुत कम आयेगा किन्तु, उसका इतना अधिक प्रयोग हुआ कि इस व्यवस्था को समाप्त करने के सुझाव दिये जाने लगे। 1977 में जब केन्द्र में जनता पार्टी का शासन सत्ता में आया तो नौ कांग्रेस शासित राज्यों की सरकारें भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। तत्पश्चात् 1980 में इस प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति हुई। कांग्रेस ने केन्द्र में फिर सत्ता सम्हाली तो नौ गैर कांग्रेस शासित राज्यों में सरकारें भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। अन्य अवसरों पर ऐसी घटनाएँ हुई जिससे लगने लगा कि राज्यपाल केन्द्र के हितों के प्रति अधिक संवेदनशील हैं।

ऐसा नहीं कि राज्यपालों ने राज्य के हितों का कभी ध्यान रखा ही नहीं। कई बार राज्यपालों ने केन्द्र के साथ अपने सम्बन्धों का राज्य के हित में सकारात्मक रूप में प्रयोग किया। श्री वी.वी.गिरि जब केरल के राज्यपाल थे तो उन्होंने योजना आयोग से राज्य के लिए अधिक धन राशि की मांग की तथा उसमें वे सफल भी हुए। विभिन्न राज्यों में राज्यपालों ने राज्य की जनता के हित में हस्तक्षेप किया जिसके सकारात्मक परिणाम निकले। लेकिन पिछले कई दशकों में राज्यपाल ने केन्द्र के अभिकर्त्ता की भूमिका अधिक निभाई है ऐसा विशेषज्ञों का मानना है।

प्रो. के.वी. राव के अनुसार, राज्यपाल न तो राज्य के द्वारा चुना जाता है, न उसके द्वारा हटाया जाता है। वह राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होता है तथा केन्द्रीय निर्देश पर ही पद मुक्त होता है, अतः केन्द्र के लिए अधिक प्रतिबद्धता अस्वाभाविक नहीं है।

राज्यपाल की स्थिति (Position of the Governor)

राज्यपाल के सम्बन्ध में स्वयं राज्यपालों ने तथा अन्य विशेषज्ञों ने भिन्न मत व्यक्त किये हैं। सरोजिनी नायडू के अनुसार, वह "सोने के पिंजरे में बन्द चिड़िया के समान है।" श्री प्रकाश के अनुसार, उसे छूटी हुई जगह पर हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के अनुसार, "पद नहीं वेतन के आकर्षण के कारण ही कोई व्यक्ति राज्यपाल बनना स्वीकार करता है।" डा.

पट्टाभिसीतारमैय्या के अनुसार, राज्यपाल का पद "अतिथि सत्कार तथा राष्ट्रपति को एक पखवाड़े का प्रतिवेदन देने के लिए है।"

यह दृष्टिकोण का एक पहलू है। यदि विभिन्न राज्यों के राज्यपालों की कार्यवाहियों पर दृष्टि डालें तो कई सकारात्मक निर्णय सामने आते हैं यथा ;

- 1974 में पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री ए.एल.डायस ने सड़कों की खराब स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए मुख्यमंत्री श्री सिद्धार्थ शंकर राय व सार्वजनिक निर्माण मंत्री को बुलाकर सलाह दी जिसे स्वीकार कर लिया गया।
- उत्तर प्रदेश में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने मुसलमानों व शरणार्थियों के कल्याण के लिए कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाये।
- उड़ीसा के राज्यपाल, ए.एन. खोसला ने जल विद्युत संसाधनों के विकास के लिए योजना बनाई।
- राजस्थान के राज्यपाल, श्री मदनलाल खुराना ने गरीबी रेखा के नीचे के लोगों की समस्याओं को सुनने व निराकरण करने में पहल की।

उपरोक्त उदाहरण राज्यपालों की राज्य प्रशासन के सन्दर्भ में सकारात्मक भूमिका पर रोशनी डालते है। पर कई बार राज्यपालों की पहल, शासन–प्रशासन में हस्तक्षेप की सीमा में आने लगी। ऐसे में राज्यपाल व मुख्यमंत्री के मध्य टकराव की स्थिति उत्पन्न होना स्वभाविक है। पश्चिम बंगाल में राज्यपाल धर्मवीर व तत्कालीन मुख्यमंत्री अजय मुखर्जी के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे। राज्यपाल के रूप में डा. चेन्नारेड्डी की भूमिका भी विवादास्पद रही।

वस्तुतः 1967 से पहले कई कारणों से राज्यपाल का पद अधिक विवादास्पद नहीं बना। एक दल का वर्चस्व, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की आदर्श की खुमारी तथा ब्रिटिशकालीन राज्यपालों की भूमिका न दोहराने की प्रतिबद्धता के कारण राज्यपाल का पद शक्ति संघर्ष के घेरे में नहीं आया।

लेकिन चतुर्थ आम चुनाव के बाद जब राज्यों में गठबन्धन सरकारों का दौर प्रारम्भ हुआ तो केन्द्र व राज्य में अलग–अलग दलों की सरकारें बनीं। वहीं पर राज्यपाल की भूमिका में परिवर्तन आने लगा तथा उस पर केन्द्र के अभिकर्ता होने का आरोप लगने लगा। अनुच्छेद 356 के अत्यधिक प्रयोग के कारण भी राज्यपाल को केन्द्रोन्मुखी माना जाने लगा।

वस्तुतः संविधान निर्माता राज्यपाल को शक्ति नहीं सम्मान देना चाहते थे, जो राज्य के मुखिया को मिलना चाहिए। ऐसा व्यक्ति, जो सजग हो, जागरूक हो, राज्य तथा देश के व्यापक हितों को ध्यान में रखता हो तथा दलगत राजनीति से उठकर जन कल्याण की बात सोचता हो, वही राज्यपाल की पद की गरिमा को बनाये रख सकता है। इस सम्बन्ध में समय–समय पर विभिन्न आयोगों जैसे सरकारिया आयोग तथा अन्य सम्मेलनों में सुझाव दिये जाते रहे हैं। उन पर अमल करने की आवश्यकता है। सरकारिया आयोग तथा संविधान समीक्षा आयोग ने राज्यपाल के पद की आवश्यकता को स्वीकार किया है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- राज्यों में राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।
- राज्यपाल को पद की शपथ राज्य के मुख्य न्यायाधीश द्वारा दिलाई जाती है।
- राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होती है। जिससे राज्यपाल मुख्यमन्त्री, मुख्यमंत्री की सलाह से मन्त्रि परिषद के सदस्यों की नयुक्ति, राज्य के महाधिवक्ता एवं राज्य लोक सेवा आयोग के अध यक्ष की नियुक्ति, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति को सलाह आदि कार्य करता है।
- राज्यपाल विधायिका का प्रमुख है। वह नवगठित विधानसभा में उद्घाटन भाषण देता है, प्रत्येक वर्ष पहले सत्र में सदन को सम्बोधित करता है, विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है, सत्रावसान कर सकता है, विधानसभा को भंग कर सकता है।
- विधानसभा द्वारा पारित विधेयक तभी कानून का रूप धारण कर सकता जब राज्यपाल उस पर हस्ताक्षर करता है।
- राज्यपाल विधानसभा का सत्र न होने पर अध्यादेश जारी कर सकता है।
- वित्तीय विधेयक राज्यपाल की पूर्वानुमति से ही विधानसभा में प्रस्तुत किया जा सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. संविधान के किस अनुच्छेद द्वारा प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल की व्यवस्था की गई हैं

(अ) 150 (ब) 152
(स) 153 (द) 155 ( )

2. राज्यपाल की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?

(अ) प्रधानमंत्री (ब) राष्ट्रपति
(स) मुख्यमंत्री (द) निर्वाचन द्वारा ( )

3. राज्यपाल को प्रतिमाह कितना वेतन प्राप्त होता है?

(अ) 30,000 रू. प्रतिमाह

(ब) 33,000 रू. प्रतिमाह
(स) 1.10 लाख रू. प्रतिमाह

(द) 40,000 रू. प्रतिमाह ( )

4. राज्यपाल का कार्यकाल कितने वर्ष का है ?

(अ) 3 वर्ष (ब) 4 वर्ष
(स) 5 वर्ष (द) 6 वर्ष ( )

5. राज्यपाल अपना त्याग पत्र किसे सौंपता है?

(अ) राष्ट्रपति (ब) प्रधानमंत्री
(स) विधानसभा अध्यक्ष

(द) सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश ( )

6. कौन सा विधेयक राज्यपाल की पूर्वानुमति से ही विधानसभा में प्रस्तुत किया जा सकता है?

(अ) सामान्य विधेयक (ब) वित्त विधेयक

(स) संविधान संशोधन विधेयक

(द) उपरोक्त में से कोई नहीं ( )

7. राज्यपाल द्वारा जारी अध्यादेश कब तक लागू रह सकता है।

(अ) तीन माह (ब) छह माह
(स) विधान सभा सत्र प्रारम्भ होने से छह सप्ताह तक
(द) कोई समय सीमा नहीं ( )

8. देश की प्रथम महिला राज्यपाल कौन थी ?

(अ) श्रीमती सरोजिनी नायडू

(ब) श्रीमती पद्मजा नायडू

(स) श्रीमती एनी बीसेन्ट

(द) श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राज्यपाल को कितने प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हैं?
2. राज्यपाल की दो स्वविवेकीय शक्तियाँ बताइये।
3. अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्यपाल को क्या अधिकार प्राप्त हैं?
4. राज्यपाल की न्यायिक शक्तियाँ क्या हैं?
5. राज्यपाल को कौनसे वित्तीय अधिकार प्राप्त हैं?
6. संविधान के अनुच्छेद 154 द्वारा राज्यपाल के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की गई हैं?
7. राज्यपाल पद के लिए आवश्यक योग्यताएँ क्या हैं?
8. राजस्थान के वर्तमान राज्यपाल का नाम बताइये।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. "राज्यपाल सोने के पिंजरे में बंद चिड़िया के समान है"? अपना दृष्टिकोण व्यक्त कीजिए?
2. राज्यपाल की विधायी शक्तियों का परीक्षण कीजिए।
3. क्या राज्यपाल केन्द्र का एजेन्ट है? अपना अभिमत तर्क सहित व्यक्त कीजिये।
4. क्या आप मानते हैं कि, राज्यपालों द्वारा अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग किया गया?
5. राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
6. राज्यपाल की वांछित भूमिका चित्रित कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्यपाल की शक्तियों व कर्त्तव्यों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
2. अनुच्छेद 356 के प्रयोग के सन्दर्भ में राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों का परीक्षण कीजिए।
3. राज्यपाल के पद की आवश्यकता पर अपना मत व्यक्त करते हुए राज्यपाल के पद के लिए वांछित गुणों का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला

(1) स (2) ब (3) स (4) स
(5) अ (6) ब (7) स (8) अ

इकाई–VI

अध्याय–12

मुख्यमंत्री–मंत्रिपरिषद : रचना एवं भूमिका

(Chief Minister-Counsil of Ministers : Structure and Role)

राज्यपाल यदि राज्य कार्यपालिका का संवैधानिक प्रधान है तो मुख्यमंत्री कार्यपालिका का मुखिया है। केन्द्र में जो स्थान प्रधानमंत्री का है वही स्थान राज्य में मुख्यमंत्री का है। संविधान के भाग 6 अध्याय 2 अनुच्छेद 163–164 में राज्य मंत्रिपरिषद के गठन के सम्बन्ध में प्रावधान किये गये हैं।

मुख्यमंत्री (Cheif Minister)

मुख्यमंत्री की नियुक्ति (Appointment of the Chief Minister)

संविधान में अनुच्छेद 164 (1) में कहा गया है कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जायेगी। अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा की जायेगी।

विधानसभा में बहुमत दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है। यदि किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत न मिले तो कई दलों के गठबन्धन के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है। ऐसी स्थिति में निर्धारित समय में उसे विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करना पड़ता है।

मुख्यमंत्री को राज्य विधायिका में निम्न सदन का सदस्य होना चाहिए। जिन राज्यों में द्विसदनीय व्यवस्थापिका है वहाँ उच्च सदन के सदस्य को भी मुख्यमंत्री मनोनीत किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति दोनों सदनों का सदस्य नहीं है, तो भी वह मुख्यमंत्री बन सकता है, लेकिन छह महीने के भीतर उसे विधायक निर्वाचित हो जाना चाहिए। भारतीय राज्यों में उपर्युक्त दोनों स्थितियों के उदाहरण हैं। राजस्थान में श्री भैरोसिंह शेखावत 1977 में जब मुख्यमंत्री बने तो विधायिका के सदस्य नहीं थे।

पदमुक्ति (Dismissal)

संविधान के अनुच्छेद 164(1) के अनुसार मुख्यमंत्री राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर बने रहेंगे। यथार्थ में मुख्यमंत्री सदन में बहुमत होने तक अपने पद पर बने रहते हैं। जब सत्तारूढ़ दल सदन में बहुमत खो देता है या उनके विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाता है तो मुख्यमंत्री व मंत्रिपरिषद के सदस्यों को अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ता है। सामान्यतया मुख्यमंत्री का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है। कई बार एक मुख्यमंत्री और उसका दल इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर लेता है कि वह दोबारा चुनाव जीतता है और फिर मुख्यमंत्री बना रहता है। पश्चिम बंगाल में ज्योति बसु लम्बे समय तक मुख्य–मंत्री बने रहे। राजस्थान में मोहनलाल सुखाड़िया का कार्यकाल सबसे लम्बा रहा।

भूमिका एवं कार्य (Role and Functions)

मुख्यमंत्री किसी भी राज्य का वास्तविक शासक व सत्ता का केन्द्र होता है, जिसके चारों ओर समस्त राजनैतिक गतिविधियाँ घूमती रहती हैं। मुख्यमंत्री के कार्यों व भूमिका को निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है।

(i) मंत्रिपरिषद निर्माण (Formation of The Council of Ministor)

मंत्रिपरिषद निर्माण में मुख्यमंत्री केन्द्रीय भूमिका का निर्वाह करता है। संविधान के अनुसार मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा मंत्रिपरिषद के सदस्यों की नियुक्ति की जायेगी। लेकिन वास्तविकता यह है कि मुख्यमंत्री द्वारा मंत्रिपरिषद के सदस्यों की सूची, उनके विभागों के नाम के साथ राज्यपाल को सौंप दी जाती है, जिन्हें राज्यपाल द्वारा नियुक्त कर दिया जाता है।

(ii) विभाग वितरण (Division of Portfolios)

मंत्रिपरिषद में विभाग वितरण का दायित्व मुख्यमंत्री का है। अपने दल में मुख्यमंत्री की स्थिति उसे वास्तव में शक्तिशाली बनाती है। गठबन्धन सरकार का मुख्यमंत्री भी पर्याप्त शक्तिशाली होता है लेकिन गठबन्धन सरकार का मुख्यमंत्री कई प्रकार के संतुलन व समन्वय का ध्यान रखना पड़ता है। सामान्यतः मंत्रिपरिषद में विभाग वितरण में मुख्यमंत्री को कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है जैसे : राष्ट्रीय स्तर पर उच्च नेतृत्व की इच्छा, राज्य स्तर पर दल में व्यक्ति का प्रभाव, क्षेत्रों, जातियों का उचित प्रतिनिधित्व; महिलाओं, अनुसूचित जातियों, जनजातियों व पिछड़े वर्ग के लोगों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व आदि। गठबन्धन सरकार में सहयोगी दलों की विधानसभा में स्थिति तथा व्यक्ति

के महत्त्व व प्रभाव का ध्यान रखकर विभाग का आवंटन किया जाता है।

(iii) मंत्रियों की पदमुक्ति (Dismissal)

सामान्यतया मंत्रिपरिषद का कार्यकाल विधान सभा के कार्यकाल की भॉति पॉच वर्ष का होता हैं लेकिन कुछ परिस्थितियों में मुख्यमंत्री द्वारा मंत्रिपरिषद् को निम्न परिस्थितियों में त्याग पत्र देने की सलाह दी जा सकती है, यथाः यदि कोई मंत्री अत्यधिक अस्वस्थ हो; या मनोनुकूल काम न कर पा रहा हो। यदि मंत्री स्वयं त्यागपत्र न दे तो मुख्यमंत्री राज्यपाल को मंत्री को बर्खास्त करने की सलाह दे सकता है। ऐसा भी हो सकता हैं कि मुख्यमंत्री स्वयं त्याग पत्र दे दे तो मंत्रि–परिषद स्वयं भंग हो जाएगी। विधानसभा में बहुमत दल का नेता होने के कारण वह पुनः मुख्यमंत्री बन सकता है और अपने मनोनुकूल नये मंत्रि–परिषद् का गठन कर सकता है।

(iv) मंत्रिमण्डल का संचालन (Functioning of the Cabinet)

मंत्रिपरिषद् की महत्त्वपूर्ण इकाई मंत्रिमण्डल होती है। मुख्यमंत्री का दायित्व मंत्रिमण्डल की बैठक बुलाना व उसकी अध्यक्षता करना है। समस्त नीतिगत फैसले मंत्रिमण्डल में लिये जाते हैं जिनमें मुख्यमंत्री केन्द्रीय भूमिका निभाता है। मुख्यमंत्री के व्यक्तित्व का भी प्रभाव होता है। गठबन्धन सरकार में विभिन्न दलों के सदस्य, जिनमें से कुछ अन्ततः मंत्रिमण्डल के सदस्य भी होते हैं, में संतुलन व समन्वय कराना मुख्यमंत्री का काम है। मुख्यमंत्री को यह दायित्व अत्यन्त सूझबूझ व दूरदर्शिता से निभाना होता है। वास्तव में मंत्रिमण्डल के संचालन में मुख्यमंत्री महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(v) राज्यपाल व मंत्रिपरिषद् के मध्य कड़ी के रूप में कार्य (Funtions as a link between the Governor and the Council of Ministers)

संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार मुख्यमंत्री का यह दायित्व है कि वह मंत्रिमण्डल की गतिविधियों व निर्णयों की सूचना राज्यपाल को दे तथा यदि राज्यपाल कोई सलाह दे तो उसे मंत्रिमण्डल के सदस्यों तक प्रेषित करे। इस दृष्टि से मुख्यमंत्री राज्यपाल व मंत्रिपरिषद् के मध्य कड़ी का काम करता है।

(vi) राजनीतिक दल के नेता के रूप में कार्य (Functions as the Leader of the Political Party)

मुख्यमंत्री सरकार व शासन को नेतृत्व प्रदान करता है साथ ही वह दल का नेता होने के कारण दलीय हितों का भी ध्यान रखता है। अपने दल के दूरगामी उद्देश्यों व लक्ष्यों पर दृष्टि रखना मुख्यमंत्री का दायित्व व कर्त्तव्य है।

(vii) सरकार के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में कार्य (Functions as the Chief Spokesman of the Government)

मुख्यमंत्री सरकार का प्रमुख प्रवक्ता होता है। सरकारी नीतियों की घोषणा तथा निर्णयों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण मुख्यमंत्री द्वारा ही दिये जाते हैं। मंत्रिपरिषद् के किसी वक्तव्य से यदि भ्रम या विवाद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो मुख्यमंत्री द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण ही अधिकृत माना जाता है।

(viii) विधायिका सम्बन्धी कार्य (Functions related to the Legislature)

यद्यपि मुख्यमंत्री कार्यपालिका का प्रमुख है लेकिन विधायिका में भी उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। सभी सरकारी विधेयक मुख्यमंत्री की सहमति व सलाह से ही विधायिका में रखे जाते हैं। गैर सरकारी विधेयक भी तब तक पारित नहीं हो सकता जब तक कि मुख्यमंत्री व मंत्रिपरिषद् की उसमें सहमति न हो क्योंकि वह बहुमत दल से सम्बद्ध होते हैं। वित्त मंत्री द्वारा बजट विधायिका में प्रस्तुत किया जाता है पर मुख्यमंत्री पूरी प्रक्रिया से जुड़ा रहता है। कई बार मुख्यमंत्री द्वारा वित्त जैसा महत्त्वपूर्ण विभाग अपने पास ही रख लिया जाता है। प्रश्नोत्तर काल में यदि कोई मंत्री सही उत्तर या स्पष्टीकरण न दे पाये तो मुख्यमंत्री द्वारा सरकार का पक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

राज्यपाल द्वारा जारी अध्यादेश मुख्यमंत्री तथा मंत्रिमण्डल द्वारा ही स्वीकृत किये जाते हैं तथा विधानसभा की कार्य सूची विधान सभा अध्यक्ष द्वारा मुख्यमंत्री की सलाह पर निश्चित की जाती है।

मुख्यमंत्री का विधानसभा में विरोधी दल के सदस्यों पर भी पर्याप्त प्रभाव होता है। मुख्यमंत्री सामान्यतया इन सदस्यों के साथ सम्मान पूर्ण व्यवहार करते हैं। विधान सभा भंग करने की राज्यपाल को सलाह देने के अधिकार के कारण मुख्यमंत्री कुछ सीमा तक विरोधी दल के सदस्यों को अपने नियंत्रण में रख पाने में सफल होते हैं।

(ix) शासन के मुखिया के रूप में कार्य (Functions as the Head of the Government)

मुख्यमंत्री का प्रशासन के साथ सम्पर्क सामान्यतया मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के माध्यम से होता है, पर कई बार मुख्यमंत्री महत्त्वपूर्ण शासकीय विभाग अपने अधीन रखते हैं। सामान्य प्रशासन, प्रशासनिक सुधार, योजना व कार्मिक विभाग मुख्यमंत्री अपने पास रखते हैं; ऐसा कई राज्यों में देखा गया है। मुख्यमंत्री का विभिन्न विभागों में समन्वय सन्तुलन रखना आवश्यक है तभी

उसकी सरकार द्वारा बनाई नीतियों का उचित क्रियान्वयन हो पायेगा, जिस पर उसकी सफलता निर्भर करती है।

नीति निर्माण व क्रियान्वयन में लोक सेवकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि आवश्यक सूचनाएँ व आँकड़ें वे ही प्रदान करते हैं तथा नीति निर्माण के पश्चात् उनका क्रियान्वयन करते है। मुख्यमंत्री का शीर्ष पर बैठे लोक सेवकों के साथ सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध आवश्यक है। मुख्यमंत्री समय–समय पर प्रशासनिक अधिकारियों से बैठकों के माध्यम से सम्पर्क स्थापित करते हैं। वे प्रशासनिक गतिविधियों तथा विभिन्न कार्यक्रम क्रियान्वयन की जानकारी लेते हैं साथ ही उन्हें परामर्श व निर्देश प्रदान करते हैं। इस सारी प्रक्रिया का उद्देश्य मुख्यमंत्री द्वारा अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना है तथा प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा कार्यक्रम क्रियान्वयन के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर करना है, जिनके निराकरण के बाद कार्यक्रम का सुचारू संचालन सम्भव है।

(x) केन्द्रीय प्रशासन सम्बन्धी कार्य (Functions related to the Central Administration)

एक मुख्यमंत्री अपने राज्य में जो कुछ निर्णय लेता है और जिस तरह से नीतियों का निरूपण व निस्तारण करता है उससे उसकी राष्ट्रीय स्तर पर भी एक छवि बनती है। उसकी राष्ट्रीय स्तर पर सकारात्मक छवि तथा मान्यता प्राप्त होने से राज्य की जनता में भी सम्मान बढ़ता है। आन्ध्रप्रदेश के मुख्यमंत्री चन्द्रबाबू नायडू द्वारा राज्य में जिस प्रकार कम्प्यूटरीकरण किया गया उससे उनकी छवि "हाई टैक" मुख्यमंत्री की बनी। पश्चिम बंगाल के पूर्व मुख्यमंत्री ज्योति बसु अपने लम्बे कार्यकाल के कारण राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। राजस्थान के पूर्व मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाड़िया, श्री भैरोसिंह शेखावत, श्री अशोक गहलोत आदि ने अपनी नीतियों व निर्णयों से राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान प्राप्त किया है। इसके अतिरिक्त प्रधानमंत्री द्वारा भी कई बार मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन व बैठक आयोजित किये जाते हैं ताकि राज्यों की समस्याओं को बेहतर ढंग से समझा जा सके। ऐसे अवसरों पर कोई मुख्यमंत्री अपने राज्य की उपलब्धियों व समस्याओं को किस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर रखता है तथा राष्ट्र का ध्यान आकर्षित करता है उससे अपने राज्य में उसकी छवि पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

(xi) जनसम्पर्क सम्बन्धी कार्य (Functions related to Public Relations)

मुख्यमंत्री वस्तुतः जनता के विश्वास का प्रतीक होता है। अपनी समस्त आशाओं व आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राज्य की जनता मुख्यमंत्री की ओर बहुत उम्मीद भरी दृष्टि से देखती है। यही कारण है कि सरकार के अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के कार्यों के लिए मुख्यमंत्री को उत्तरदायी ठहराया जाता है तथा मुख्यमंत्री शासन का प्रतीक बन जाता है जैसे सुखाड़िया सरकार, शेखावत सरकार आदि। राजनैतिक दल भी चुनाव के समय भावी मुख्यमंत्री के व्यक्तित्व तथा नेतृत्व को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं जिससे जनता को यह अहसास हो जाये कि उसके हाथों में राज्य की जनता का भविष्य सुरक्षित है। इस दृष्टि से मुख्यमंत्री निरन्तर जनता के सम्पर्क में रहता है।

(xii) संचार माध्यमों के साथ सम्बन्ध (Relations with Media)

संचार माध्यम जनता व सरकार के बीच सेतु का काम करते हैं। एक मुख्यमंत्री के लिए आवश्यक है कि वह अपने कार्यों के सकारात्मक परिणामों को संचार साधनों के माध्यम से जनता के बीच पहुँचाये तथा यदि कोई नकारात्मक खबर या मुद्दा उठता हो तो उनके सम्बन्ध में विश्वसनीय स्पष्टीकरण दे। इस सभी काम के लिए मुख्यमंत्री का संचार साधनों के साथ स्वस्थ सम्बन्ध आवश्यक है।

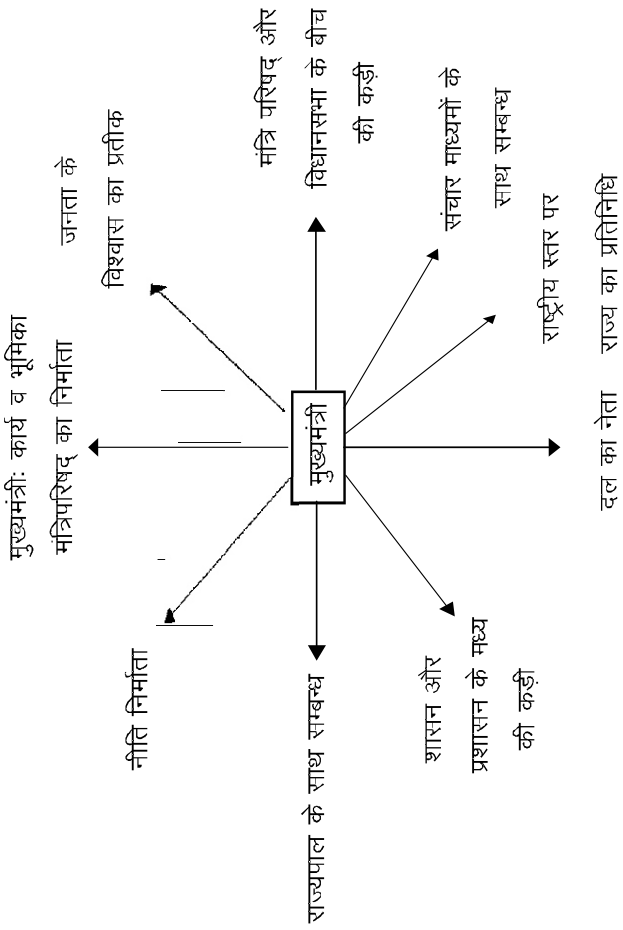

मुख्यमंत्री की राज्य प्रशासन में वास्तविक स्थिति (The Real Role of the Chief Minister in Administration)

संविधान ने यद्यपि मुख्यमंत्री को राज्य शासन में केन्द्रीय भूमिका प्रदान की है लेकिन मुख्यमंत्री की ऐसी स्थिति अन्य कई बातों पर भी निर्भर करती है। विधानसभा में उसके दल के प्राप्त स्थान उसे मजबूत या कमजोर बनाते हैं। यदि सत्तारूढ़ दल को अच्छा बहुमत प्राप्त होता है तो मुख्यमंत्री की स्थिति भी अधिक सुदृढ़ हो जाती है।

गठबन्धन सरकार में मुख्यमंत्री को समन्वय व संतुलन के लिए अतिरिक्त प्रयास करने पड़ते हैं। उसकी शक्ति व क्षमता का बड़ा भाग इसी प्रयास में व्यय हो जाता है। ऐसे में उसे अपना स्थान बनाये रखने के लिए अधिक प्रयास करना पड़ता है जिससे उसकी स्थिति की दृढ़ता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

मुख्यमंत्री की स्थिति इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसके केन्द्र सरकार के साथ किस प्रकार के सम्बन्ध है तथा वह राज्य के लिए कितनी केन्द्रीय सहायता प्राप्त करने में सफल हो पाता हैं। वस्तुतः राज्य सरकारों के पास विभिन्न विकास व कल्याणकारी योजनाओं के लिए पर्याप्त साधन नहीं होते अतः केन्द्रीय अनुदान व ऋण की आवश्यकता होती है। एक मुख्यमंत्री किस प्रकार अपने राज्य की आवश्यकताओं को प्रस्तुत करता है तथा अधिक केन्द्रीय सहायता प्राप्त करने में सफल होता है उससे राज्य में उसकी स्थिति पर प्रभाव पड़ता है।

मुख्यमंत्री का अपना व्यक्तित्व, विचार, कार्यशैली आदि भी उसके महत्त्व को बढ़ाने या घटाने के कारण बन सकते हैं। कोई मुख्यमंत्री अपने सुदर्शन व्यक्तित्व से जनता को विमुग्ध करता है तो किसी की अभिजात्य पृष्ठभूमि लोगों को प्रभावित करती है। कोई मुख्यमंत्री "सादा जीवन उच्च विचार" के मूलमंत्र से जनता का हृदय जीत लेता है तो किसी मुख्यमंत्री की वाणी और वाक्पटुता सिर पर चढ़ कर बोलती है। किसी मुख्यमंत्री की जनहित नीतियाँ व उनके क्रियान्वयन की पद्धति सीधे मन को छूती हैं। लेकिन यह सच है कि अन्ततः जन समस्याओं के लिए संवेदनशीलता, स्वच्छ छवि, वचन व कर्म में साम्य और कल्याणकारी कार्यक्रमों का सच्चे मन से क्रियान्वयन किसी भी मुख्यमंत्री की सफलता का मूलमंत्र है।

मंत्रिपरिषद : संगठन व कार्य (Council of Ministers Organization and Functions)

संविधान के अनुच्छेद 163 के अनुसार "उन बातों को छोड़कर जिन में राज्यपाल स्वविवेक से कार्य करता है, अन्य कार्यों के निर्वाह में उसे सहायता प्रदान करने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी, उसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा।" स्पष्ट है कि मंत्रिपरिषद सहित मुख्यमंत्री शासन संचालन के वास्तविक सूत्रधार है।

मंत्रिपरिषद : गठन (Council of Ministers : Formation)

मंत्रिपरिषद की संरचना के विभिन्न आयाम हैं जिन्हें निम्निलिखित शीर्षकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है:

मुख्यमंत्री (The Chief Minister)

मंत्रिपरिषद गठन के मार्ग में मुख्यमंत्री की नियुक्ति पहला कदम हैं। संविधान के अनुच्छेद 164 के अनुसार मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है तथा मुख्यमंत्री की सलाह से राज्यपाल द्वारा मंत्रिपरिषद के अन्य मंत्रियों की नियुक्ति की जाती है। विधान सभा चुनावों में जब किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत मिलता है तो दल के नेता को राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है तथा सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाता है। लेकिन जब किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत न मिले तो गठबन्धन दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है। ऐसे मुख्यमंत्री को निर्धारित समय में विधान सभा में अपने गठबन्धन दल का बहुमत सिद्ध करना पड़ता है।

राजस्थान में ऐसी स्थिति सर्वप्रथम सन् 1967 में बनी थी, पर तब कई कारणों से राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया था। इस राज्य में पहली गठबन्धन सरकार सन् 1977 में श्री भैरोसिंह शेखावत की बनी थी। ऐसी परिस्थितियों में राज्यपाल के स्वविवेक के अवसर बढ़ जाते हैं।

मंत्रिपरिषद व मंत्रिमण्डल (Council of the Ministers and the Cabinet)

संविधान में एक अपवाद को छोड़कर सभी स्थानों पर मंत्रिपरिषद शब्द का प्रयोग हुआ है। मंत्रिपरिषद में मंत्रियों की चार श्रेणियाँ होती हैं, यथा :

(i) कैबिनेट मंत्री

(ii) राज्य मंत्री

(iii) उपमंत्री

(iv) संसदीय सचिव

मंत्रि परिषद में उपर्युक्त श्रेणियों के मंत्री होते हैं जबकि मंत्रिमण्डल छोटी पर अधिक महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिशाली इकाई होती है। इसमें कैबिनेट स्तर के तथा स्वतंत्र प्रभार वाले राज्य मंत्री सम्मिलित होते हैं। मंत्रिमण्डल के सभी मंत्री किसी न किसी विभाग के प्रभारी होते हैं। वे मंत्रिपरिषद में शीर्ष पर होते हैं तथा नीति निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

जहाँ तक राज्य मंत्रियों की स्थिति है उनमें से कुछ को तुलनात्मक रूप से कम महत्त्वपूर्ण विभागों का प्रभार मिलता है जबकि कुछ राज्यमंत्री कैबिनेट मंत्री के साथ सहयोग करते हैं। उपमंत्री कैबिनेट मंत्री के सहायक के रूप में कार्य करते हैं। सामान्यतः भारत में चतुर्थ श्रेणी के मंत्री अर्थात् संसदीय सचिव नहीं बनाए जाते हैं। ब्रिटेन में इन मंत्रियों की नियुक्ति की परम्परा है। इस प्रकार मंत्रिपरिषद वृहत संगठन है जिसके अन्तर्गत मंत्रिमण्डल छोटी पर शक्तिशाली इकाई है।

मंत्रियों की योग्यता (Qualifications of the Ministers)

मंत्रिपरिषद का सदस्य बनने के लिए व्यक्ति को विधायिका के किसी सदन का सदस्य होना चाहिए। कोई व्यक्ति विधायिका का सदस्य हुए बिना भी मंत्री पद पर नियुक्त किया जा सकता है पर उसे छह महीने के अन्दर विधायिका के किसी सदन का सदस्य बन जाना चाहिए।

मंत्रियों की नियुक्ति (Appointment of the Ministers)

मुख्यमंत्री द्वारा मंत्रियों के नाम तथा उनके विभागों की सूची राज्यपाल को सौंपी जाती है। राज्यपाल द्वारा मंत्रियों की नियुक्ति की जाती है।

शपथ ग्रहण (Oath Taking)

मुख्यमंत्री सहित मंत्रिपरिषद के सभी सदस्यों को पद व गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ती है। राज्यपाल द्वारा मंत्रियों को पद व गोपनीयता की शपथ दिलाई जाती है।

आकार (Size)

मंत्रिपरिषद के आकार के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है। बड़े राज्य जैसे उत्तर प्रदेश में मंत्रिपरिषद का आकार बड़ा तथा छोटे राज्य जैसे मणिपुर में छोटा आकार होना सामान्य हैं लेकिन गठबन्धन सरकारों में विभिन्न दलों की इच्छाओं व आकांक्षाओं के कारण मंत्रिपरिषद का आकार बढ़ता जाता है। मंत्रिपरिषद के आकार के सम्बन्ध में संविधान के 91वें संशोधन द्वारा तय किया गया है कि विधान सभा के सदस्यों की संख्या के 15 प्रतिशत ही मंत्री बनाये जा सकते हैं। जैसे राजस्थान विधानसभा के सदस्यों की संख्या 200 है तो अधिकतम 30 मंत्री बनाए जा सकते हैं।

विभाग वितरण (Distribution of Portfolios)

मंत्रियों के विभागों का वितरण मंत्रिपरिषद संगठन की दिशा में महत्त्वपूर्ण चरण है। संविधान के अनुसार राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह से मंत्रियों की नियुक्ति करता है। व्यवहार में मुख्यमंत्री द्वारा विभागों का वितरण किया जाता है तथा इस कार्य में उसकी इच्छा निर्णायक होती है लेकिन फिर भी विभागों के आवंटन में मुख्यमंत्री सामान्यतया निम्नलिखित बातों का ध्यान रखते हैं :

- दल के वरिष्ठ तथा दल में प्रभाव रखने वाले व्यक्तियों को महत्त्वपूर्ण विभाग प्रदान किये जाते हैं।
- विभिन्न क्षेत्रों तथा जातियों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व होना चाहिए।
- महिलाओं, अनुसूचित जाति, जन जाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग के लोगों को मंत्रिपरिषद में उचित स्थान मिलना चाहिए।
- राष्ट्रीय स्तर पर दल के उच्च नेतृत्व की इच्छा भी महत्त्वपूर्ण होती है।
- गठबन्धन सरकार में सहयोगी दलों की सदस्य संख्या व प्रभाव के अनुकूल विभाग आवंटन आवश्यक है।
- अन्ततः व्यक्ति की योग्यता, व्यापक जनाधार, लोकप्रियता, व्यक्तित्व आदि भी विभाग आबंटन के निर्णायक तत्व हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कई बार विभागों के वितरण के माध्यम से व्यक्ति को पुरस्कृत या दण्डित भी किया जाता है।

कार्यकाल (Tenure)

सामान्यतया विधानसभा की भाँति मंत्रिपरिषद का कार्यकाल भी पाँच वर्ष का होता है। मंत्रिपरिषद विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है तथा उसके विश्वास पर्यन्त पद पर रहती है। कई परिस्थितियों में मंत्रिपरिषद का कार्यकाल छोटा भी हो सकता है, यथा दल बदल के कारण सत्ता दल का अल्पमत में आ जाना या राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो जाना। मुख्यमंत्री द्वारा किसी मंत्री से त्यागपत्र की माँग की जा सकती है या राज्यपाल को उसे पदमुक्त करने की सलाह दी जा सकती है।

मंत्रिपरिषद की शक्तियाँ तथा कार्य (Powers and Functions of the Council of Ministers)

मंत्रिपरिषद का उत्तरदायित्व राज्यपाल को सलाह तथा उसके कार्य में सहयोग देना है, यह संविधान के अनुच्छेद 163 की व्यवस्था है। वस्तविकता यह है कि कार्यपालिका सम्बन्धी सभी दायित्व वस्तुतः मंत्रि परिषद द्वारा निभाये जाते है। मंत्रि

परिषद के प्रमुख दायित्व निम्नलिखित हैं :

(i) नीति निर्माण (Policy-Formation)

शासन के विभिन्न विभागों के सम्बन्ध में नीति निर्माण मंत्रि परिषद का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। विभाग विशेष का मंत्री सम्बन्धित लोक सेवकों की सूचना के आधार पर तथा उनकी सहायता से नीतियाँ बनाती है जिन्हें मंत्रिपरिषद की छोटी पर महत्त्वपूर्ण इकाई मंत्रिमण्डल में रखा जाता है। विचार विमर्श के पश्चात विधान मण्डल का अनुमोदन आवश्यक है। विधान मण्डल से अनुमोदित नीति का सफल क्रियान्वयन सुनिश्चित करना भी मंत्रिपरिषद का दायित्व है।

(ii) विधान मण्डल में शासन का पक्ष रखना (To put the Functioning of the Regime in the Legislature)

मंत्रि–परिषद के सदस्य विधान मण्डल की गतिविधियों में भाग लेते हैं। वे सदन में अपने विभाग से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देते हैं तथा वाद विवाद में भाग लेते हैं। विधान सभा में शासन का प्रतिनिधित्व करते हुए उसका दृष्टिकोण स्पष्ट करते हैं। कभी–कभी वाद विवाद के दौरान आवश्यकता पड़ने पर मुख्यमंत्री भी सम्बन्धित मंत्री के पक्ष को रखने में सहायता देते हैं।

(iii) कानून निर्माण में भागीदारी (Contribution to Law Formation)

कानून निर्माण का कार्य यद्यपि विधायिका का है तथापि मंत्रिपरिषद इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वित्त विधेयक राज्यपाल की पूर्वानुमति से वित्त मंत्री द्वारा विधान मण्डल में रखा जाता है। समस्त सरकारी विधेयक मंत्रिपरिषद द्वारा विधानमण्डल में रखे जाते हैं। विधान मण्डल में सत्ता रूढ़ दल का बहुमत होने के कारण वे ही विधेयक पारित हो पाते हैं जिन्हें सत्तारूढ़ दल का समर्थन प्राप्त होता है। प्रदत्त विधायन के कारण भी मंत्रिपरिषद की भूमिका महत्त्वपूर्ण हुई है। विधानमण्डल द्वारा कोई विधेयक व्यापक रूप में पारित कर दिया जाता है उसका सूक्ष्म विस्तार मंत्रिपरिषद के द्वारा ही दिया जाता है।

राज्यपाल द्वारा जो अध्यादेश लाये जाते हैं, वे वस्तुतः मंत्रिपरिषद द्वारा ही तैयार किये जाते हैं। विधान सभा में विभिन्न अवसरों पर पढ़े जाने वाले राज्यपाल के अभिभाषण को मंत्रिपरिषद द्वारा ही तैयार किया जाता है।

(iv) राज्यपाल को परामर्श (Counsel to the Governor)

राज्यपाल के समस्त कार्यों के सम्बन्ध में मंत्रिपरिषद द्वारा ही परामर्श दिया जाता है। राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियों की दृष्टि से देखें तो उच्च पदों पर समस्त नियुक्तियाँ मंत्रिपरिषद के परामर्श पर ही राज्यपाल द्वारा की जाती हैं और अन्ततः राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियों के सम्बन्ध में परामर्श दिया जाता है।

(v) बजट तैयार करना (To Prepare the Budget)

सरकार का महत्त्वपूर्ण दायित्व आर्थिक व्यवस्था का सुसंचालन है। मंत्रिपरिषद में वित्त मंत्री द्वारा वर्ष के आरम्भ में राज्य का वार्षिक बजट प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुतः यह बजट मंत्रिपरिषद् में निर्धारित नीति के आधार पर ही किया जाता है। बजट तैयार होने के पश्चात् विधान सभा में पारित हो, यह सुनिश्चित करना भी मंत्रि–परिषद् का दायित्व है।

(vi) मंत्रिपरिषद, मंत्रीमण्डल की कार्यप्रणाली (Functional System of the Council of Ministers and the Cabinet)

मंत्रिपरिषद की महत्त्वपूर्ण इकाई मंत्रीमण्डल द्वारा ही समस्त निर्णय लिये जाते हैं। सर्वप्रथम मंत्रिमण्डल की बैठक के लिए कार्यसूची बनाई जाती है। मंत्रिमण्डल की कार्यसूची में विचार के लिए कोई विषय तभी स्वीकृत होता है, जब सम्बन्धित मंत्री से स्वीकृत होकर वह विषय मुख्यमंत्री द्वारा "मंत्रीमण्डलीय मीमो" के लिए स्वीकार कर लिया जाए।

मुख्यमंत्री की सहमति से मंत्रिमण्डल की बैठक बुलाई जाती है। सामान्यतया दो दिन की सूचना के पश्चात् बैठक बुलाई जानी चाहिए पर आवश्यकता पड़ने पर या आकस्मिक स्थिति में कुछ घण्टों की सूचना पर भी बैठक बुलाई जा सकती है।

मंत्रिमण्डल में विचारार्थ विषयों की सूची मंत्रियों को भिजवा दी जाती है। सामान्यतया निर्णय सूचीवार ही लिए जाते हैं। पर कभी–कभी किसी विषय को आवश्कतानुसार पहले भी ले लिया जाता है। सम्बन्धित विभाग के शासन सचिव को भी बैठक में बुला लिया जाता है, ताकि आवश्यक सूचनाएँ तुरन्त उपलब्ध हो सकें।

मंत्रिमण्डल के निर्णयों को सम्बन्धित विभाग में सूचना के लिए भेज दिया जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया जाता है कि उस निर्णय का क्रियान्वयन किसके द्वारा किया जायेगा। सम्बन्धित विभाग के मंत्री तथा सचिव का यह दायित्व होता है कि वह उस निर्णय के क्रियान्वयन का दायित्व ग्रहण करे।

(vii) सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility)

मंत्रिपरिषद के सदस्य सामूहिक उत्तर दायित्व के सिद्धान्त के अनुसार "साथ तैरते तथा साथ डूबते" हैं। मंत्रिपरिषद में

किसी एक मंत्री के निर्णय कार्य के लिए सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद उत्तरदायी होता है। किसी एक मंत्री की त्रुटि के लिए विधानसभा द्वारा सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद का त्याग पत्र माँगा जा सकता है।

मंत्रिपरिषद में किसी एक मंत्री का निर्णय समस्त मंत्रि परिषद का निर्णय होता है। विधान सभा में जब विचारार्थ कोई विधेयक प्रस्तुत किया जाये तो व्यक्तिगत रूप में असहमत होते हुए भी सभी मंत्री विधान सभा में उसके पक्ष में अपना मत व्यक्त करते हैं। कई बार एक मंत्री के विभाग के सम्बन्ध में मुख्यमंत्री या अन्य मंत्री भी उत्तर दे सकते हैं इस प्रकार वे अपने सहयोगी की सहायता करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मंत्री के व्यक्तिगत आचरण के लिए सम्बन्धित मंत्री ही उत्तरदायी होता है समस्त मंत्रिपरिषद उसके लिए जिम्मेदार नहीं होती।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- केन्द्र में जो स्थान प्रधानमंत्री का है, वही स्थान राज्य में मुख्यमंत्री का है।
- मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है।
- मुख्यमन्त्री सदन में बहुमत होने तक अपने पद पर बने रहते हैं।
- मुख्यमंत्री के कार्य हैं– मंत्रि परिषद का निर्माण, विभागों का मन्त्रियों में वितरण, मन्त्रियों की पदमुक्ति, मंत्रिमण्डल का संचालन, राज्यपाल व मंत्रिपरिषद के मध्य कड़ी के रूप में कार्य, राजनीतिक दल के नेता के रूप में कार्य, सरकार के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में कार्य, विधायिका सम्बन्धी कार्य, विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य, केन्द्रीय प्रशासन सम्बन्धी कार्य, जनसम्पर्क सम्बन्धी कार्य, संचार माध्यमों के साथ सम्बन्ध ।
- मुख्यमन्त्री की राज्य के शासन में केन्द्रीय भूमिका होती है।
- मुख्यमन्त्री की सलाह से राज्यपाल के द्वारा मन्त्रिपरिषद की नियुक्ति की जाती है।
- मंत्री परिषद में मंत्रियों की चार श्रेणियाँ होती हैं,– कैबिनट मंत्री, राज्य मंत्री, उप मंत्री, संसदीय सचिव
- संविधान के 91 वें संशोधन के अनुसार विधानसभा की सदस्य संख्या के 15 प्रतिशत ही मंत्री बनाये जा सकते हैं।
- मंत्रिपरिषद की शक्तियाँ तथा कार्य हैं– नीति निर्माण, विधानमण्डल में शासन का पक्ष रखना, कानून निर्माण में भागीदारी, राज्यपाल को परामर्श, बजट तैयार करना।
- मंत्रि परिषद के सदस्य सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुसार साथ–साथ तैरते तथा साथ–साथ डूबते है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. मुख्यमंत्री की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है ?
   (अ) प्रधानमंत्री (ब) राष्ट्रपति
   (स) राज्यपाल (द) मुख्यन्यायाधीश ( )
2. संविधान के किस अनुच्छेद में मुख्यमंत्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में प्रावधान हैं ?
   (अ) 164(1) (ब) 164(2)
   (स) 164(3) (द) 164(4) ( )
3. राज्य विधान मण्डल की सदस्यता के बिना कोई मुख्यमंत्री कितने समय तक अपने पद पर बना रह सकता है ?
   (अ) तीन महीने (ब) छह महीने
   (स) आठ महीने (द) दस महीने ( )
4. राजस्थान में पहली गठबन्धन सरकार किस मुख्यमंत्री के नेतृत्व में बनी ?
   (अ) श्री मोहनलाल सुखाड़िया
   (ब) श्री महारावल लक्ष्मण सिंह
   (स) श्री भैरोसिंह शेखावत
   (द) श्री हरिदेव जोशी ( )
5. राजस्थान के किस मुख्यमंत्री का कार्यकाल सबसे लंबा रहा?
   (अ) मोहनलाल सुखाड़िया
   (ब) भैंरोसिंह शेखावत
   (स) शिवचरण माथुर
   (द) अशोक गहलोत ( )
6. भारत में किस मुख्यमंत्री को सर्वप्रथम "हाई टैक" मुख्यमंत्री की संज्ञा दी गई?
   (अ) ज्योति बसु (ब) चन्द्रबाबू नायडू
   (स) मोहनलाल सुखाड़िया (द) बीजू पटनायक ( )
7. देश की पहली महिला मुख्यमंत्री कौन थीं ?
   (अ) सुचेता कृपलानी (ब) सरोजिनी नायडू
   (स) विजयलक्ष्मी पण्डित (द) नन्दिनी सत्पथी ( )
8. मंत्रिपरिषद की सदस्य संख्या अधिकतम कितनी हो सकती है ?
   (अ) विधानसभा सदस्यों का पाँच प्रतिशत

(ब) विधानसभा सदस्यों का दस प्रतिशत

(स) विधानसभा सदस्यों का पन्द्रह प्रतिशत

(द) विधान सभा सदस्यों का बीस प्रतिशत ( )

9. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद के तहत् मुख्यमंत्री राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहेगे।

(अ) 164 (1) (ब) 164 (2)

(स) 163 (1) (द) 165 (2) ( )

10. मुख्यमंत्री के कार्य हैं :

(अ) मंत्रिपरिषद् कार्य

(ब) विधायक सम्बन्धी कार्य

(स) मंत्रिमंडल का संचालन

(द) उपरोक्त सभी ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राज्यपाल द्वारा किस व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है?
2. किन परिस्थितियों में राज्यपाल मुख्यमंत्री को पद मुक्त कर सकता है?
3. मंत्रिपरिषद में मंत्रियों की कितनी और कौनसी श्रेणियाँ है?
4. मंत्रिपरिषद व मंत्रिमण्डल में क्या अन्तर है?
5. सामूहिक उत्तरदायित्व से क्या तात्पर्य है?
6. मंत्रिपरिषद किस प्रकार कानून निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है?
7. मंत्रिपरिषद के दो महत्त्वपूर्ण विभाग (मंत्रालय) बताइये?
8. राजस्थान की पहली महिला मुख्यमंत्री कौन हैं?
9. मुख्यमंत्री के कोई पाँच कार्य बताइये।
10. किस संविधान संशोधन के द्वारा मंत्रिपरिषद की संख्या तय की गई है।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मुख्यमंत्री पद के लिए आवश्यक योग्यताएँ क्या हैं?
2. मुख्यमंत्री अपने पद पर कब तक बना रह सकता है?
3. मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद का गठन करते समय किन बातों का ध्यान रखता है?
4. मुख्यमंत्री और राज्यपाल के सम्बन्धों का वर्णन कीजिए?
5. मुख्यमंत्री की प्रशासनिक भूमिका का चित्रण कीजिए?
6. गठबन्धन सरकार के मुख्यमंत्री की स्थिति का विश्लेषण कीजिए?
7. किन परिस्थितियों में मुख्यमंत्री किसी मंत्री से त्यागपत्र की माँग कर सकता है?
8. राजस्थान के मुख्यमंत्रियों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए?
9. राज्य का मुख्यमंत्री किन दो कार्यो से जनसम्पर्क से जुड़ा रहता है?
10. मुख्यमंत्री की सफलता के लिए कौन से आवश्यक गुण होने चाहिए?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. मुख्यमंत्री पद के लिए आवश्यक योग्यताएँ क्या हैं? मुख्यमंत्री की नियुक्ति में कब राज्यपाल के स्वविवेक प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है?
2. मुख्यमंत्री के कार्यों व उत्तर दायित्वों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए?
3. मुख्यमंत्री के मंत्रिपरिषद के साथ अन्तःक्रिया पर अपने विचार प्रकट कीजिए?
4. राज्य प्रशासन में मुख्यमंत्री की भूमिका के विशेष सन्दर्भ में मुख्यमंत्री की शक्तियों का विवेचन कीजिए?
5. मुख्यमंत्री की राज्य शासन में वास्तविक स्थिति का विश्लेषण कीजिये।

उत्तरमाला

(1) स (2) अ (3) ब (4) स (5) अ

(6) ब (7) अ (8) स (9) अ (10) द

इकाई–VI

अध्याय–13

राज्य सचिवालय : संगठन एवं कार्य

(State Secretariat : Organization and Functions)

राज्य शासन सचिवालय वह स्थान है जहाँ से शासन व प्रशासन के सत्ता–सूत्रों का संचालन होता है। यह नीति निर्माता के रूप में राजनैतिक नेतृत्व तथा नीति–क्रियान्वयन के रूप में लोक सेवकों की संयुक्त कार्यस्थली है। यहीं नीतियॉ तथा कार्यक्रम आकार लेते हैं तथा यहीं से उनके क्रियान्वयन के लिए आवश्यक निर्देश प्राप्त होते हैं।

संगठन (Formation)

प्रत्येक राज्य का अपना शासन सचिवालय होता है जो विभिन्न विभागों में बँटा होता है। सचिवालय का सर्वोच्च राजनीतिक अधिकारी, मुख्यमंत्री तथा सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी मुख्य सचिव होता है।

प्रत्येक विभाग का राजनैतिक प्रमुख केबिनेट मंत्री या राज्यमंत्री होता है। राज्यमंत्री कई बार कैबिनेट मंत्री के साथ सम्बद्ध होते हैं तो कई बार किसी विभाग के स्वतंत्र प्रभारी होते हैं। कुछ स्थितियों में राज्यमंत्री किन्हीं विषयों के लिए स्वतंत्र प्रभारी होते हैं तो किन्हीं विषयों के लिए कैबिनेट मंत्री के साथ जुड़े हुए होते हैं। कुछ विभागों में उपमंत्री भी होते हैं पर उनके पास स्वतंत्र प्रभार नहीं होता है।

मुख्य सचिव जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य होता है, राज्य प्रशासन का मुख्य समन्वयक होता है तथा राज्य के सम्पूर्ण प्रशासन के लिए उत्तरदायी हेाता है। वह सभी विभागों पर नज़र रखता है तथा उनकी महत्त्वपूर्ण फाइलें उसके पास आती हैं। वह दो विभागों का सचिव भी होता है – सामान्य प्रशासन विभाग तथा मंत्रिमण्डल सचिवालय। मंत्रीमण्डल के पास जाने वाली समस्त फाइलें मुख्य सचिव के माध्यम से जाती हैं। मुख्य सचिव के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण पद अतिरिक्त मुख्य सचिव का है जो मुख्य सचिव के समान वेतन प्राप्त करता है।

राज्य सचिवालय में विभिन्न विभागों के कार्यालय होते हैं। विभागों की संख्या परिवर्तित होती रहती है। वर्तमान में राज्य सचिवालय में निम्न विभाग हैं :

सचिवालय के विभाग
(Departments of the Secretariat)

1. आयोजना विभाग
2. उद्योग विभाग
3. ऊर्जा विभाग
4. एन. आई. सी. कम्प्यूटर
5. कृषि विभाग
6. कार्मिक विभाग (क)
7. कार्मिक विभाग (ख व ग)
8. खान विभाग
9. खाद्य एवं नागरिक रसद विभाग
10. खेल कूद एवं युवा मामले विभाग
11. गृह (अभियोजन) विभाग
12. गृह विभाग
13. ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज विभाग
14. चिकित्सा एवं स्वास्थ विभाग (क. आयुर्वेद विभाग)
    (ख. परिवार कल्याण विभाग)
    (ग. चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विभाग)
15. निर्वाचन विभाग
16. जन अभियोग निराकरण विभाग
17. जनजाति क्षेत्रीय विकास विभाग
18. जन स्वास्थ्य अभियांत्रिकी विभाग
19. नगरीय विकास एवं आवासन विभाग
20. पर्यटन, कला एवं संस्कृति विभाग
21. पर्यावरण विभाग
22. परिवहन विभाग
23. पशुपालन विभाग
24. प्रशासनिक सुधार विभाग
25. भू–जल विभाग
26. महाधिवक्ता कार्यालय
27. मंत्रिमण्डल सचिवालय
28. मुख्यमंत्री सचिवालय

29. मुख्य सचिव कार्यालय
30. मुद्रण एवं लेखन सामग्री विभाग
31. राजकीय उपक्रम विभाग
32. राजस्व एवं उपनिवेशन विभाग
33. लोकायुक्त सचिवालय
34. वन विभाग
35. वित्त विभाग
36. विधि एवं न्याय विभाग (क)
    विधि रचना एवं संहिताकरण (ख)
37. विभागीय जाँच
38. शिक्षा विभाग
    * उच्च शिक्षा (क)
    * माध्यमिक शिक्षा (संस्कृत शिक्षा सहित) (ख)
    * प्राथमिक शिक्षा (ग)
    * तकनीकी शिक्षा (घ)
39. श्रम एवं नियोजन विभाग
40. सहकारिता विभाग
41. सहायता विभाग
42. सामान्य प्रशासन विभाग
43. सार्वजनिक निर्माण विभाग
44. सिंचाई विभाग
45. सी. ए. डी. एण्ड वाटर यूटिलाइजेशन विभाग
46. सैनिक कल्याण, देवस्थान, वक्फ विभाग
47. समाज कल्याण विभाग
48. सूचना एवं जन सम्पर्क निदेशालय

प्रत्येक विभाग की संगठनात्मक व्यवस्था का ढाँचा समान होता है अर्थात् पदों के स्तर। लेकिन पदों की संख्या में भिन्नता होती है।

प्रत्येक विभाग का राजनीतिक मुखिया एक मंत्री होता है।

विभाग में प्रशासनिक मुखिया शासन सचिव अथवा प्रमुख शासन सचिव होता है। शासन सचिव एक अथवा दो अथवा दो से अधिक विभागों का मुखिया भी हो सकता हैं। प्रमुख शासन सचिव तथा शासन सचिव के वेतनमानों में अन्तर होता है। उनके अधिकारों व उत्तरदायित्वों में कोई अन्तर नहीं है। कई बार ऐसा भी होता है कि एक सचिव दो या उससे अधिक मंत्रियों के अधीन कार्य करता है। कभी–कभी एक मंत्री के अधीन एक से अधिक सचिव काम करते हैं।

कुछ विभागों में विशिष्ट शासन सचिव होते हैं जो प्रमुख शासन सचिव या शासन सचिव के अधीन होते हैं। सामान्यतया इस स्तर का एक ही पद एक विभाग में होता है, लेकिन कुछ विभागों में इस स्तर के दो पद भी होते हैं।

पद सोपान की इस श्रृंखला की अगली निम्न सीढ़ी उपसचिव के पद की होती है। ये पाँच प्रकार की सेवाओं के होते हैं : भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय वन सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, राजस्थान प्रशासनिक सेवा, राजस्थान लेखा सेवा, राजस्थान सचिवालय सेवा, अन्य विशिष्ट सेवाएँ जैसे विधि, सांख्यिकी आदि। एक विभाग में एक से अधिक सेवाओं के उपसचिव हो सकते हैं जैसे गृह तथा वित्त विभाग।

उपसचिव के बाद सहायक सचिव का पद होता है जिसके अधिकारी सामान्यतया राजस्थान सचिवालय सेवा के सदस्य होते हैं। तत्पश्चात अनुभाग अधिकारी होता है जो राजपत्रित होता है तथा राजस्थान सचिवालय सेवा के माध्यम से पद ग्रहण करता है। इसके बाद वरिष्ठ सहायक, वरिष्ठ लिपिक, कनिष्ठ लिपिक व चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी होते हैं। राजस्थान सचिवालय सेवा की इस पद सोपान व्यवस्था को अग्रलिखित सारणी के माध्यम में समझा जा सकता है :

राजस्थान शासन सचिव
राजनैतिक नेतृत्व
।
मुख्यमंत्री
।
कैबिनेट मंत्री
।
राज्यमंत्री
।
उपमंत्री
प्रशासनिक नेतृत्व
मुख्य सचिव
।
अतिरिक्त मुख्य सचिव
।
प्रमुख शासन सचिव
।
सचिव
।
विशिष्ट सचिव
।
उपसचिव
।
सहायक सचिव
।
अनुभाग अधिकारी
।
वरिष्ठ सहायक
।
वरिष्ठ लिपिक
।
कनिष्ठ लिपिक
।
चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी

इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट सहायक निजी सचिव भी होते हैं जो मंत्रियों के साथ संलग्न होते हैं। ये या तो सेवानिवृत्त अधिकारी होते हैं या विभिन्न सेवाओं से प्रतिनियुक्ति पर आये अधिकारी होते हैं। मुख्य सचिव तथा अन्य सचिवों के निजी सचिव भी होते हैं जो राजस्थान शासन सचिवालय के वरिष्ठ स्टेनोग्राफर होते हैं।

उपरोक्त पद श्रृंखला के अतिरिक्त राजस्थान सचिवालय के सम्बन्ध में कुछ अन्य व्यवस्थाएँ है जिन्हें समझ लेना आवश्यक है, यथाः

(i) सचिवालय के अधीन कई कार्यपालक विभाग अथवा निदेशालय होते हैं, जो सचिवालय के अंग नहीं होते। उदाहरण के लिए उच्च तकनीकी शिक्षा विभाग सचिवालय का अंग है पर कॉलेज शिक्षा निदेशालय सचिवालय का अंग नहीं है, यह कार्यकारी विभाग है।

(ii) विभाग तथा कार्यकारी विभाग में अन्तर है – विभागों का सम्बन्ध मूलतः 'नीति' से होता है। नीतियों के क्रियान्वयन के लिए जो संस्थाएँ है उन्हें कार्यकारी संस्थाएँ या विभाग कहते हैं। कार्यकारी विभागों के प्रमुखों को सामान्यतया विभागाध्यक्ष कहते हैं पर इन्हें अलग–अलग नामों से भी पुकारा जाता है, जैसे निदेशक, महानिदेशक, महानिरीक्षक, आयुक्त, नियंत्रक आदि।

(iii) सचिवालय विभागों की स्थिति वरिष्ठ तथा निदेशालय विभागों की स्थिति कनिष्ठ होती है।

(iv) सचिवालय के प्रत्येक विभाग के साथ कार्यकारी विभाग सम्बद्ध नहीं होते जैसे प्रशासनिक सुधार।

(v) सचिवालय विभाग का प्रमुख सामान्यज्ञ होता है जबकि निदेशालय विभाग का प्रमुख साधारणतया विशेषज्ञ होता है।

(vi) सचिवालय स्टाफ अभिकरण है जबकि निदेशालय सूत्र अभिकरण है।

(vii) कुछ विभागों में सचिवालय–निदेशालय का पृथक्करण नहीं होता जैसे पंचायती राज विभाग, जबकि कुछ विभाग सचिवालय तक ही सीमित हैं जैसे कार्मिक तथा नियोजन विभाग।

पिछली अर्धशती में सचिवालय के कई बार पुनर्गठन हुए। कुछ नये विभागों का सृजन हुआ, कुछ का पृथक्करण हुआ तथा कुछ विभागों का विस्तार हुआ। वर्तमान में राजस्थान शासन सचिवालय में जो विभाग/संगठन अस्तित्व में हैं, उनका विवरण पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है।

शासन सचिवालय : भूमिका
Government Secretariat : Role

राज्य का शासन सचिवालय ही वास्तव में वह यंत्र है जिसकी सहायता से राज्यपाल तथा राजनैतिक कार्यपालिका यानि मंत्रिपरिषद सहित मुख्यमंत्री अपने अधिकारों का प्रयोग करते हैं। सचिवालय का प्रमुख दायित्व मंत्रिपरिषद को नीति निर्माण में सहायता करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक सूचनाएँ, आँकड़ें तथा अन्य सामग्री उपलब्ध कराना है। इसके अतिरिक्त सचिवालय राज्य सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों व कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की भी देख–रेख करता है। मुख्य रूप से शासन सचिवालय की भूमिका के विविध आयामों को निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है :

(i) नीति–निर्माण (Policy-Making)

सचिवालय वस्तुतः नीति निर्माण की प्रमुख संस्था है। यहाँ नई नीतियाँ बनती हैं, पुरानी संशोधित होती हैं तथा कुछ अनावश्यक व अनुपयोगी होने के कारण समाप्त हो जाती हैं। सरकार द्वारा व्यवस्था को समुचित रूप में बनाये रखने के लिए कुछ नीतियाँ बनाई जाती हैं तो कुछ नीतियाँ व्यवस्था के सुधार से सम्बन्धित होती हैं। जनकल्याण में सम्बन्धित अनेक नीतियाँ चुनावों से पूर्व राजनैतिक दलों द्वारा घोषित की जाती हैं। उन स्वप्नों को तथा वायदों को यथार्थ स्वरूप देना सचिवालय का दायित्व है। शासन सचिवालय के विभिन्न विभाग अपने–अपने क्षेत्र से सम्बन्धित नीतियों बनाते हैं, जिनका समन्वय शासन सचिवालय द्वारा किया जाता है। इस प्रक्रिया के पश्चात् ही नीतियों को अन्तिम रूप राजनैतिक नेतृत्व द्वारा दिया जाता है।

(ii) सूचना–संग्रहण (Information-Collection)

सचिवालय द्वारा राज्य प्रशासन के विभिन्न पहलूओं के बारे में सूचनाएँ एकत्र की जाती हैं, उनका वर्गीकरण तथा विश्लेषण किया जाता है। इन्हीं सूचनाओं के आधार पर नीति–निर्माण, नीति–निष्पादन तथा मूल्यांकन का कार्य होता है। सामान्यतया यह दायित्व आयोजन तथा वित्त विभाग द्वारा निभाया जाता है।

(iii) समन्वय (Coordination)

प्रशासन की विभिन्न गतिविधियाँ निदेशालयों, मंडलों, निगमों, लोक उपक्रमों आदि के माध्यम से संचालित होती हैं। इन सबमें समन्वय आवश्यक है ताकि राज्य के समन्वित विकास को दिशा दी जा सके।

यह दायित्व सचिवालय निभाता है। राजनैतिक कार्यपालिका में मुख्यमंत्री तथा प्रशासन में मुख्य सचिव समन्वयकर्ता की भूमिका निभाता है। सभी महत्त्वपूर्ण नीतियाँ, वित्तीय नीतियाँ **तथा कार्मिक प्रशासन के अनेक मामले मुख्य सचिव तथा मुख्य मंत्री के बिना निर्णीत नहीं होतीं। मुख्य सचिव मंत्रिमण्डल सचिव है तथा अन्तरविभागीय समितियों का अध्यक्ष है, उसकी इस पद**

स्थिति से ही समन्वय का कार्य हो पाता है। प्रशासन में समन्वयकारी भूमिका निभाने वाली संस्थाएँ हैः मंत्रीमण्डल सचिवालय, मुख्यमंत्री का कार्यालय, मुख्य सचिव का कार्यालय, आयोजना, वित्त, विधि, कार्मिक, प्रशासनिक सुधार, सामान्य प्रशासन विभाग आदि। समन्वय के कारण ही दोहराव तथा आपसी टकराव काफी हद तक कम किये जा सकते हैं।

(iv) नियम निर्माण व नियंत्रण (Rules Making and Control)

प्रशासन के विभिन्न विभाग अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिए नियम निर्माण करते हैं, जिन्हें मंत्रिमण्डल या सम्बन्धित विभाग के मंत्री द्वारा घोषित किया जाता है। इस प्रकार सचिवालय के विभागों द्वारा सरकारी प्रशासन के विभिन्न पहलूओं से सम्बन्धित नियम बनाये जाते हैं। साथ ही सरकारी योजनाओं व नीतियों का सही रूप से क्रियान्वयन निदेशालयों तथा संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है, इस पर निगाह रखना सचिवालय का दायित्व है।

(v) विधायी दायित्व (Legislative Duties)

राज्य सरकार के शासन प्रशासन सम्बन्धी विधान सभा में उठाये गये प्रश्नों का उत्तर तथा नये पुराने विधेयकों के निर्माण–संशोधन के सम्बन्ध में विचार शासन सचिवालय में ही होता है। विधान मण्डल में प्रस्तुति के लिए विधेयक तैयार करना, विधान मण्डल बुलाने, स्थगित करने, सत्र समाप्त करने, भंग करने आदि कार्यों में सचिवालय सहायता करता है। अध्यादेश जारी करने, राज्यपाल के अभिभाषण तैयार करने में भी सचिवालय की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

(vi) कार्मिक प्रशासन (Personnel Administration)

सचिवालय ही वह स्थान है, जहाँ लोक सेवकों की भर्ती, नियुक्ति, प्रशिक्षण, पदोन्नति, स्थानान्तरण, सेवा शर्तें तथा अनुशासनात्मक कार्यवाही के विषय में नीतियाँ तथा पद्धतियाँ तय की जाती हैं। नये पदों का सृजन, अधिकारियों की पुनर्नियुक्ति, त्यागपत्र, विशेष वेतन, भत्ते, पेंशन आदि मामलों के सम्बन्ध में यहीं निर्णय लिये जाते हैं। बदलती परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनुरूप प्रशासन में जो सुधार व बदलाव किये जाते हैं उनके सम्बन्ध में भी यहीं निर्णय लिए जाते हैं।

(vii) वित्त सम्बन्धी कार्य (Finance-related Work)

राज्य के वित्तीय प्रशासन में सचिवालय के वित्त विभाग की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। बजट निर्माण के पूर्व विभिन्न विभागों से प्राप्त आय–व्यय के अनुमानों का अध्ययन तथा संशोधन करना इस विभाग का दायित्व है। विधान सभा में जब इस सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाते हैं तो उनका उत्तर यहीं तैयार किया जाता है। वित्त विभाग बजट के सफल क्रियान्वयन के लिए नियंत्रक व पर्यवेक्षक की भूमिका निभाता है तथा लेखा सेवा पर प्रशासनिक नियंत्रण रखता है।

(viii) सामान्य प्रशासन (General Administration)

सामान्य प्रशासन विभाग के अर्न्तगत समस्त सरकारी सम्पदा आती है। सरकारी आवास, भवन, विश्राम गृह, वाहन आदि इसी विभाग के क्षेत्राधिकार में है। विभिन्न उत्सवों, मेलों, कार्यक्रमों के दौरान प्रबन्ध तथा राज्य के सम्बन्ध में व्यवस्था भी इसी विभाग का दायित्व है।

(ix) केन्द्र तथा अन्य राज्यों से सम्बन्धित दायित्व (Duties Related to Centre and other States)

केन्द्र सरकार से मिलने वाली समस्त प्रकार की आर्थिक सुविधाएँ तथा अन्य निर्देश सचिवालय के द्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं। राज्य के अन्य राज्यों के साथ मामले जैसे जल वितरण, सीमा निर्धारण, पर्यावरण सुरक्षा, तस्करी नियंत्रण आदि मामले निपटाने में मुख्य सचिव सहित मुख्यमंत्री महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और उनको इस दायित्व को पूर्ण करना सचिवालय के सहयोग से ही सम्भव है।

(x) प्रशासनिक सुधार (Adminstrative Reforms)

शासन के समस्त विभागों तथा संस्थाओं से सम्बन्धित प्रशासनिक सुधारों को लागू करना व उनका मूल्यांकन करना प्रशासनिक सुधार विभाग का काम है। 1955 में स्थापित "संगठन व पद्धति" जिसे सामान्य भाषा में "ओ एण्ड एम" सम्भाग के नाम से जाना जाता है, इसी विभाग का अंग है।

(xi) प्रशासकीय नेतृत्व (Administrative Leadership)

वस्तुतः सचिवालय राज्य के सम्पूर्ण प्रशासन को नेतृत्व, मार्गदर्शन व परामर्श प्रदान करता है, नियंत्रण व निरीक्षण करता है। किसी भी राज्य का विकास व नीतियों का सफल क्रियान्वयन शासन सचिवालय के उचित देखरेख व समन्वय से ही सम्भव है। नवीन नीतियों व कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए जब परिवर्तित दृष्टिकोण तथा समझ की आवश्यकता होती है तो सचिवालय ही उचित मार्ग सुझाता है। प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर अधिकारियों व कर्मचारियों की समस्याओं का मानवोचित हल निकाल कर उनका मार्ग प्रशस्त करता है।

सचिवालय : आन्तरिक कार्यप्रणाली
(Secretariat: Internal Work System)

संविधान के अनुच्छेद 166 के प्रावधानों के अन्तर्गत प्रकाशित कार्यविधि नियम (रूल्स ऑफ बिजनेस) के अनुसार, सचिवालय

का प्रशासन संचालित होता है। सचिवालय नियमावली (सेक्रेट्रेरियेट मैन्युल) के दो भागों में सरकारी काम के संचालन की विधि तथा विभिन्न अधिकारियों की भूमिका आदि निहित हैं। इस नियमावली में समय–समय पर संशोधन, परिवर्तन, अद्यतन, प्रकाशन आदि का दायित्व कार्मिक तथा प्रशासनिक सुधार विभाग के अनुभाग (एक) का है।

सचिवालय के प्रत्येक भाग को अनुभागों में बाँटा जाता है, जिसका प्रभारी अनुभाग अधिकारी होता है। अनुभाग अधिकारी द्वारा पत्रावलियाँ सहायक सचिव को भेजी जाती हैं जहाँ से वे क्रमशः उच्च पदाधिकारियों के पास जाती है। फाइल के दो भाग होते हैं। एक भाग, टिप्पणी से सम्बन्धित होता है, जिसमें विभाग का मत तथा कार्यवाही के लिए सुझााव भेजे जाते हैं। दूसरा भाग, पत्र व्यवहार से सम्बन्धित है जिसमें किसी भी विषय पर भेजे गये तथा प्राप्त पत्रों को पंजीकृत किया जाता है।

आलोचना (Criticism)

सचिवालय कार्य प्रणाली तथा आन्तरिक प्रशासन की समय–समय पर आलोचना की जाती है। प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(i) सचिवालय में "नोट" प्रणाली अनेक वर्षों से चली आ रही है। किसी फाइल पर कनिष्ठ लिपिक द्वारा जो मत लिखा जाता है, वह अपने विभिन्न पड़ावों से गुजरते हुए सम्बन्धित अधिकारी तक पहुँचता है। बीच में कभी उसके समर्थन में तथा कभी विरोध में टिप्पणियाँ लिखी जाती हैं। यह सारी कार्यवाही अत्यन्त विलम्बकारी है।

(ii) सचिवालय के सम्बन्ध में आलोचना का एक बिन्दु यह भी है कि यहाँ सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण है फलतः अन्य कार्यकारी संस्थाएँ तथा क्षेत्रीय संस्थाएँ निष्प्रभावी व सत्ताहीन बन कर रह जाती हैं।

(iii) सचिवालय के सामान्यज्ञ अधिकारी, निदेशालय के तकनीकी अधिकारियों के प्रस्तावों व निर्णयों की बारीकियों को समझे बिना उसमें संशोधन कर देते हैं या रोक–टोक लगाते हैं। तकनीकी अधिकारियों के आत्मसम्मान पर इससे विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(iv) तकनीकी अधिकारियों की तकलीफ यह भी है कि सचिवालय के सामान्यज्ञ प्रशासक, मंत्रियों यानि सत्ता के निकट होने के कारण निर्णयों को अपनी इच्छा के अनुकूल परिवर्तित करने में सफल हो जाते हैं। जिससे अन्ततः शक्ति तथा प्रभाव का संतुलन भी सचिवालय के पक्ष में हो जाता है।

(v) सचिवालय में ईमानदारी, दक्षता व कुशलता के स्थान पर सत्ता के अनुकूलता का गुण ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। सत्ता के विपरीत निर्णय, चाहे वह कितना भी जनहितकारी क्यों न हो, अधिकारियों को पुरस्कार की जगह दण्ड का कारण बन जाता है।

(vi) धन का अपव्यय, सचिवालय की आलोचना का एक और पक्ष है। जब एक नई योजना स्वीकृत होती है तो व्यवस्था सम्बन्धी खर्च यथा फर्नीचर, कर्मचारी तथा अन्य सुविधाओं पर अत्यधिक खर्च होता है। वास्तविक योजना को वांछित राशि नहीं मिल पाती। इसके पूर्व हुई योजनाओं पर संगठन व संरचनात्मक व्यय बेकार हो जाता है।

(vii) कर्मचारियों व अधिकारियों की अत्यधिक संख्या अन्ततः खर्च बढ़ाती है। उतने काम को कम लोगों में भी अधिक कुशलता पूर्वक चलाया जा सकता है।

सचिवालय तथा प्रशासनिक सुधार
(Secretariat and Administrative Reforms)

राजस्थान शासन सचिवालय की कमियों को दूर करने तथा सम्पूर्ण कार्यप्रणाली को अधिक कुशलता व दक्षता प्रदान करने हेतु समय–समय पर प्रशासनिक सुधार समितियाँ गठित की जाती रही हैं, जिन्होंने अपने सुझाव दिये हैं। सर्वप्रथम इस दिशा में व्यवस्थित अध्ययन 1951 में ही प्रारम्भ हो गया। 1955 में संगठन तथा पद्धति (ओ एण्ड एम) अनुभाग की रचना हुई, जो बाद में प्रशासनिक सुधार समिति का हिस्सा बन गया। 1963 में 'राजस्थान प्रशासनिक समिति' गठित की गई। 1967–70 में केन्द्रीय सरकार द्वारा 'प्रशासनिक सुधार आयोग' स्थापित किया गया। 1969 तथा 1971 में क्रमशः 'सचिवालय पुनर्गठन समिति' तथा 'सचिवालय प्रक्रिया समिति' गठित की गई। इस सम्बन्ध में संगोष्ठियों में सुझाव प्रस्तुत किये जाते रहे हैं।

6, जून 1992 को अवकाश प्राप्त मुख्य सचिव जी. के. भनोत की अध्यक्षता में 'प्रशासनिक सुधार समिति' गठित की गई। समिति का कार्यकाल 31 मार्च 1995 को पूरा हुआ। समिति के मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं :

(i) नियमों का सरलीकरण होना चाहिए।

(ii) शक्तियों का प्रत्यायोजन व सत्ता का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए।

(iii) वन एवं पर्यावरण, श्रम एवं रोजगार, लोक उद्यम, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, युवा कल्याण एवं खेल विभागों में पृथक सचिव के पद समाप्त कर देने चाहिए।

(iv) भनोत समिति ने कुछ विभागों के सचिवों के स्तर को नीचा करने का सुझाव भी दिया है।

(v) विकास आयुक्त के पद से जुड़ी शक्तियों में वृद्धि होनी चाहिए।

उपर्युक्त प्रमुख सुझावों के अतिरिक्त समिति ने जन अभियोगों के त्वरित निस्तारण के सम्बन्ध में भी सुझाव दिये हैं। 1999 में मुख्यमंत्री श्री शिवचरण माथुर की अध्यक्षता में 'राजस्थान प्रशासनिक सुधार आयोग' गठित किया गया। आयोग ने ग्यारह विषयों पर अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। आयोग के सुझावों पर सरकार द्वारा विचार किया जा रहा है। वस्तुतः सुझाव चाहें कितने भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, उनका क्रियान्वयन दृढ़ इच्छा शक्ति के साथ होना आवश्यक है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- राज्य शासन सचिवालय वह स्थान है, जहाँ से शासन व प्रशासन के सत्ता सूत्रो का संचालन होता है।
- विभाग का राजनैतिक प्रमुख केबिनेट मंत्री या राज्यमंत्री होता है।
- मुख्य सचिव जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य होता है, राज्य प्रशासन का मुख्य समन्वयक होता है तथा राज्य के सम्पूर्ण प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता है।
- राज्य सचिवालय में विभिन्न विभागों के कार्यालय होते हैं।
- राज्य सचिवालय के दायित्व हैं– नीति निर्माण, सूचना संग्रहण, समन्वय, नियम निर्माण व नियंत्रण, विधायी दायित्व, कार्मिक प्रशासन, वित्त सम्बन्धी कार्य, सामान्य प्रशासन, केन्द्र तथा अन्य राज्यों से सम्बन्धित दायित्व, प्रशासनिक सुधार, प्रशासकीय नेतृत्व।
- सचिवालय के प्रत्येक भाग को अनुभागों में बाँटा जाता है जिसका प्रभारी अनुभाग अधिकारी होता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. राज्य सचिवालय का सर्वोच्च राजनैतिक अधिकारी कौन होता है:
   (अ) राज्यपाल (ब) मुख्यमंत्री
   (स) कैबिनेट मंत्री (द) उपरोक्त कोई नहीं ( )
2. राज्य सचिवालय का प्रशासनिक प्रमुख कौन होता है:
   (अ) मुख्यमंत्री (ब) मुख्य सचिव
   (स) विभागीय सचिव (द) विशिष्ट सचिव ( )
3. मुख्य सचिव निम्नलिखित में से किस सेवा का अधिकारी होता है:
   (अ) भारतीय प्रशासनिक सेवाएँ
   (ब) राजस्थान–प्रशासनिक सेवाएँ
   (स) राजस्थान–सचिवालय–सेवाएँ
   (द) अन्य विशिष्ट सेवाएँ ( )
4. प्रशासनिक सुधार से सम्बन्धित भनोत समिति कब गठित हुई?
   (अ) 1990 (ब) 1991
   (स) 1992 (द) 1993 ( )
5. प्रशासनिक सुधार आयोग 1999 के अध्यक्ष कौन थे?
   (अ) श्री हीरालाल देवपुरा
   (ब) श्री अशोक गहलोत
   (स) श्री शिवचरण माथुर
   (द) उपरोक्त में कोई नहीं ( )
6. राज्य के प्रशासन का मुख्य समन्वयक होता है –
   (अ) मुख्यमंत्री (ब) मुख्य सचिव
   (स) कैबिनेट मंत्री (द) सचिव ( )
7. किसी भी विभाग का राजनैतिक प्रमुख होता है,
   (अ) सचिव (ब) उपसचिव
   (स) कैबिनेट मंत्री (द) राज्यमंत्री ( )
8. नीति–निर्माण की प्रमुख संस्था है,
   (अ) विभाग (ब) सचिव
   (स) मुख्यमंत्री (द) सचिवालय ( )
9. बजट–निर्माण का कार्य करता है
   (अ) वित्त मंत्रालय (ब) मुख्य सचिव
   (स) मुख्यमंत्री (द) विशिष्ट सचिव ( )
10. नीतियों का निर्धारण कौन करता है
    (अ) राजनैतिक कार्यपालिका
    (ब) प्रशासनिक कार्यपालिका
    (स) कार्यपालिका (द) वित्त मंत्रालय ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. शासन सचिवालय के राजनैतिक प्रमुख तथा प्रशासनिक प्रमुख कौन होते हैं?
2. प्रमुख शासन सचिव तथा शासन सचिव में क्या अन्तर होता है?
3. अनुभाग अधिकारी किन सेवाओं के माध्यम में पद ग्रहण करता है?
4. विभाग तथा कार्यकारी विभाग में क्या अन्तर है?
5. सचिवालय विभाग तथा निदेशालय विभाग में किस की स्थिति वरिष्ठ तथा किस की कनिष्ठ होती है?

6. किसी ऐसे विभाग का नाम बताये जिसमें सचिवालय तथा निदेशालय का पृथक्करण नहीं होता?
7. राज्य सचिवालय किस प्रकार विधायी भूमिका निभाते हैं?
8. सचिवालय कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में कोई दो आलोचना के बिन्दु बताइये?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. सचिवालय के संगठन का वर्णन कीजिए?
2. शासन सचिवालय राज्य की नीति निर्माण में किस प्रकार भूमिका निभाता है?
3. सचिवालय की समन्वयकारी भूमिका का विश्लेषण कीजिए ?
4. सचिवालय में कार्मिक प्रशासन का क्या कार्य है ?
5. सचिवालय की प्रशासकीय नेतृत्व की भूमिका का चित्रण कीजिए ?
6. सचिवालय कार्य प्रणाली की प्रमुख आलोचनाएँ क्या हैं ?
7. विशिष्ट शासन सचिव के पद का वर्णन कीजिए ।
8. उपसचिव की सेवाओं का वर्णन करिये।
9. सचिवालय स्टाफ क्या होता है, टिप्पणी लिखिये।
10. मुख्य सचिव के कार्यों का वर्णन करिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजस्थान के शासन सचिवालय के संगठन व कार्य पर निबन्ध लिखिए।
2. सचिवालय के कार्य पद्धति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. राज्य शासन सचिवालय के कार्य व शक्तियों का विश्लेषण किजीए। सचिवालय कार्य पद्धति में सुधार के लिए सुझाव दीजिए।
4. अब तक किये गये प्रशासनिक सुधारों का वर्णन कीजिए।
5. नीति–निर्माण में सचिवालय की भूमिका का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला

(1) ब (2) ब (3) अ (4) स (5) स
(6) ब (7) स (8) द (9) अ (10) अ

इकाई–VII

अध्याय–14

केन्द्रीय व्यवस्थापिका: संरचना एवं भूमिका

(Central Legislature : Structure and Role)

भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय विधान मण्डल को संसद की संज्ञा दी गयी है। भारतीय राज व्यवस्था में कार्यपालिका की तरह व्यवस्थापिका का गठन भी दो स्तर पर हुआ है– संघ स्तर पर संघीय व्यवस्थापिका व राज्य स्तर पर राज्य व्यवस्थापिका।

संघीय व्यवस्थापिका (Union Legislature):

राष्ट्रीय स्तर पर संविधान में व्यवस्थापिका के लिए दो सदनों का प्रावधान किया गया हैं। संविधान के अनुच्छेद 79 में यह प्रावधान रखा गया है कि : 'संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी, जिन्हें क्रमशः राज्य सभा तथा लोकसभा के नाम से जाना जाएगा। संविधान निर्माताओं ने इस प्रकार की व्यवस्थापिका को प्रमुखतः इस कारण अपनाया क्योंकि भारतीय एक लम्बे समय से इस व्यवस्था से परिचित थे। 1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियमों में केन्द्र में द्वि सदनीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था की गयी थी। इसके अलावा भारत में संघीय शासन व्यवस्था का प्रावधान रखा गया। इस कारण एक सदन जब आम जनता का प्रतिनिधित्व करता है तो दूसरा सदन, संघ की इकाइयों (राज्य और केन्द्र प्रशासित क्षेत्र) का प्रतिनिधित्व करता है।

भारतीय संविधान मे संघीय स्तर पर द्वि सदनीय व्यवस्थापिका को 'संसद' अथवा 'पार्लियामेंट' कहा जाता है। संसद के निम्न तीन अंग है –

(1) राज्यसभा (Rajya Sabha): यह उच्च सदन है, जिसमें राज्यों के विधान सभाओं द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं।

(2) लोकसभा (Lok Sabha) : यह निम्न सदन है। इसे लोकप्रिय सदन भी कहा जाता है क्योंकि इसमें जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं।

(3) राष्ट्रपति (President): यह कार्यपालिका का संवैधानिक प्रधान है। राष्ट्रपति की कानून निर्माण के क्षेत्र में भी भूमिका होती है। राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होता , परन्तु वह इसका तीसरा अंग होता है।

राज्यसभा (Council of States / Rajya Sabha)

राज्यसभा संसद का उच्च सदन है और उसका अभिन्न अंग भी है। इसे द्वितीय सदन व 'वयोवृद्ध' सदन भी कहा जाता है।

संरचना व संगठन (Composition and Organisation) : लोकसभा की तुलना में राज्य सभा एक लघु सदन है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 80 के अनुसार, इस सदन की अधिकतम सदस्य संख्या 250 हो सकती है। वर्तमान में इसकी सदस्य संख्या 245 है। राज्य सभा में सदस्यों का चयन दो आधार पर किया जाता है (i) मनोनयन (ii) निर्वाचन के आधार पर

राज्य सभा में राष्ट्रपति द्वारा 12 सदस्य मनोनीत किये जाते हैं। राष्ट्रपति ऐसे सदस्यों को मनोनीत करता है जो कि विज्ञान, कला, साहित्य या समाज सेवा के क्षेत्र में विशिष्ट ज्ञान या अनुभव रखते हों। मनोनीत सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग नहीं लेते है। मनोनीत 12 सदस्यों के अलावा शेष सदस्य राज्यों और केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों में से निर्वाचित किये जाते हैं। हमारे संविधान में इकाइयों को अमेरिका की तरह समान प्रतिनिधित्व की व्यवस्था नहीं है अपितु इकाइयों को जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। राज्य की जनसंख्या के प्रथम 50 लाख व्यक्तियों तक प्रति 10 लाख के लिए एक और उसके बाद प्रति 20 लाख पर एक के हिसाब से प्रतिनिधित्व प्रदान करने का प्रावधान है।

राज्य सभा का निर्वाचन : राज्य सभा के सदस्यों का निवार्चन संघ के विभिन्न क्षेत्रों की विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता है। जिन संघीय क्षेत्रों में विधान सभाएँ नहीं होती है वहाँ पर राज्य सभा सदस्यों के निर्वाचन के लिए विशेष निर्वाचक मण्डल गठित किये जाते हैं।

संविधान के अनुच्छेद 80(4) के अनुसार राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से राज्य विधान सभा के चुने हुये सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अर्न्तगत एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा किया जाता है।

राजस्थान से राज्य सभा में 10 सदस्य यहाँ की विधान सभा द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं।

(राज्यसभा में विभिन्न राज्यों और केन्द्र प्रशासित प्रदेशों का वर्तमान समय में प्रतिनिधित्व –)

राज्य व संघ क्षेत्र का नाम	सदस्य संख्या
आन्ध्रप्रदेश	18
असम	7
बिहार	16
झारखण्ड	6
गुजरात	11
जम्मू कश्मीर	4
केरल	9

राज्य व संघ क्षेत्र का नाम	सदस्य संख्या
मध्यप्रदेश	11
महाराष्ट्र	19
कर्नाटक	12
उड़ीसा	10
पंजाब	7
राजस्थान	10
उत्तर प्रदेश	31
छत्तीस गढ़	5
तमिलनाडू	18
पश्चिम बंगाल	16
हरियाणा	5
हिमाचल प्रदेश	3
नागालैण्ड	1
मेघालय	1
मणिपुर	1
त्रिपुरा	1
उत्तराखण्ड	3
सिक्किम	1
अरूणाचल प्रदेश	1
गोआ	1
मिजोरम	1
संघीय क्षेत्र	
दिल्ली	3
पुल्दुचेरी	1
कुल निर्वाचित सदस्य	**233**

सदस्यों की योग्यताएँ (Qualifications of the Members) :

राज्यसभा के सदस्य बनने हेतु संविधान के अनुच्छेद 84 द्वारा निम्न योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं –

(1) वह भारत का नागरिक हो

(2) वह 30 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो

(3) वह किसी लाभ के पद पर न हो।

(4) उसके पास वे सब योग्यताएँ हो जो संसद के कानून द्वारा निर्धारित की गयी हों।

1951 के लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के अनुसार, राज्य सभा के सदस्य के लिए आवश्यक है कि उसका नाम, उस राज्य के किसी निर्वाचन क्षेत्र की सूची में हो, जिस राज्य से वह राज्य सभा का चुनाव लड़ना चाहता है।

कार्यकाल (Tenure) – राज्यसभा एक स्थायी सदन है। इसे राष्ट्रपति द्वारा लोक सभा की तरह भंग नहीं किया जा सकता है।

राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष होता है, परन्तु सभी सदस्यों का निवार्चन एक साथ नहीं होता है। इसके कुल सदस्य संख्या का एक तिहाई भाग, प्रति दो वर्ष पश्चात् पद निवृत्त हो जाता है, और उनके स्थान पर नवीन एक तिहाई सदस्य निर्वाचित किये जाते हैं। इस प्रकार राज्य सभा का स्थायित्व व निरन्तरता बनी रहती है। इसके अलावा सदस्य समय से पूर्व त्याग पत्र भी दे सकता है या कोई व्यक्ति सदस्यता के दौरान कोई अयोग्यता ग्रहण कर लेता है तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है।

गणपूर्ति (Quorum)– राज्य सभा की कार्यवाही के संचालन हेतु आवश्यक गणपूर्ति, कुल सदस्य संख्या का 1/10 भाग निर्धारित की गयी है।

पदाधिकारी (Presiding Officers) – राज्यसभा के दो प्रमुख पदाधिकारी होते हैं – सभापति व उपसभापति। संविधान के अनुच्छेद 89 के अनुसार, भारत का उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होगा तथा राज्यसभा अपने में से किसी एक सदस्य को उपसभापति निर्वाचित करेगी। अनुच्छेद 91(i) के अनुसार राज्यसभा में सभापति का पद रिक्त हो या

उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा हो अर्थात् सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति, सभापति के कर्त्तव्यों का निर्वहन करता है। यदि उपसभापति का पद रिक्त हो तो, राज्यसभा का ऐसा सदस्य, जिसको राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए नियुक्त करे, इस पद के कर्त्तव्यों को निर्वहन करेगा। इनका वेतन भारत की संचित निधि में से दिया जाता है। ये विधान मण्डल के अध्यक्षों की भॉति सदन में अनुशासन व व्यवस्था बनाये रखने, सदन की कार्यवाहियों का संचालन, कार्यवाही सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय, सदस्यों को भाषण देने की अनुमति एवं प्रश्नो पर मतदान एवं उसका परिणाम घोषित करने आदि कार्यो को करते हैं।

राज्य सभा के अधिकार कार्य और शक्तियॉं
(Rights, Functions and Powers of Rajya Sabha)

राज्यसभा को लोकसभा का सहायक व सहयोगी सदन माना जाता है। इसके प्रमुख अधिकार व शक्तियॉं **निम्नलिखित है :**

(1) विधायी या कानून निर्माण सम्बन्धी शक्तियॉं (Legislative Powers) : संघीय व्यवस्थापिका (संसद) का प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण कार्य है– विधि निर्माण करना। इस दृष्टि से दोनों लोकसभा व राज्यसभा को साधारण विधेयकों (अवित्तीय) पर विधि निर्माण का समान अधिकार है। साधारण विधेयक दोनों सदनों में से पहले किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। दोनों सदनों की स्वीकृति के पश्चात् ही विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु भेजा जाता है। इस तरह राज्यसभा साधारण विधेयकों को अस्वीकार कर सकती है, उनमें संशोधन कर सकती है।

व्यवहार में सभी महत्त्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही पेश किये जाते हैं। यदि साधारण विधेयक को लेकर दोनों सदनों में गतिरोध उत्पन्न हो जावे या दूसरा सदन विधेयक को स्वीकृत न करके उसे 6 माह तक रोके रखे, ऐसी स्थिति में संविधान के अनुच्छेद 108 के अनुसार, राष्ट्रपति दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाता है। इस संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा की जाती है। इसके अन्तर्गत विधेयक का निर्णय दोनों सदनों के सदस्यों के बहुमत के आधार पर लिया जाता है। 1961 में 'दहेज निषेध विधेयक' (Dowry Abolition Bill) व मई 1978 में "बैंकिंग सेवा आयोग विधेयक" पर विचार करने हेतु दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की व्यवस्था की गयी थी।

(2) कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियॉं (Executive Powers)–

भारतीय संविधान में संसदीय शासन व्यवस्था का प्रावधान रखा गया है। संसदीय शासन में कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद) लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। अतः भारत में भी मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है, न कि राज्यसभा के प्रति। इस कारण राज्य सभा के सदस्यों को सरकार से (मंत्रिपरिषद) प्रश्न एवं पूरक प्रश्न पूछने, स्थगन प्रस्ताव तथा कामरोको प्रस्ताव रखने, प्रशासन से जानकारी प्राप्त करने व सरकार की आलोचना करने का अधिकार तो है परन्तु उन्हें अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा हटाने का अधिकार नहीं है। यह केवल लोकसभा के पास है। अतः कार्यपालिका शक्ति अर्थात् शासन पर नियंत्रण की दृष्टि से लोकसभा को राज्यसभा की तुलना में अधिक शक्तिशाली बनाया गया है।

(3) वित्तीय शक्तियॉं (Financial Power)– संविधान द्वारा वित्तीय विषयों में राज्यसभा की तुलना में लोकसभा को अधिक शक्तियॉं प्रदान की गयी है।, फिर भी राज्यसभा वित्तीय क्षेत्र में कुछ शक्तियों का प्रयोग करती है। संविधान के अनुसार, वित्तीय, विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से, वित्तमंत्री द्वारा, सर्वप्रथम, लोकसभा में ही पेश किया जाता है, राज्यसभा में नहीं। लोकसभा को ही इसे स्वीकृत, अस्वीकृत, कटौती एवं संशोधन करने सम्बन्धी अधिकार प्राप्त है। लोकसभा की स्वीकृति के पश्चात् ही वित्त विधेयक राज्यसभा में पेश होता है। राज्य सभा, वित्त विधेयक या बजट पर 14 दिन तक विचार विमर्श कर सकती है। इन चौदह दिनों में यदि राज्यसभा वित्त विधेयक को पारित नहीं करती है या उसे रोके रखती है तो विधेयक स्वतः ही पारित मान लिया जाता है। राज्यसभा वित्तीय विधेयकों पर अपना सुझाव प्रस्तुत कर सकती है। इस प्रकार के सुझाव व संशोधनों को मानना या न मानना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। राज्यसभा उसे सुझाव मानने, हेतु बाध्य नहीं कर सकती है। इस प्रकार वित्त विधेयक या बजट पर राज्य सभा को केवल 14 दिन तक रोके रखने का अधिकार प्राप्त है। अतः इस दृष्टि से राज्य सभा लोकसभा की तुलना में एक निर्बल सदन माना जाता है। फिर भी कभी–कभी राज्य सभा द्वारा दिये गये सुझाव लोकसभा में विचारणीय होते हैं।

(4) संविधान संशोधन की शक्ति (Power of Amending the Constitution)– संविधान में संशोधन के क्षेत्र में लोकसभा व राज्यसभा को समान शक्तियॉं प्रदान की गयी हैं। संविधान संशोधन विधेयक संसद के दोनों सदनों में से पहले किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। संविधान संशोधन हेतु दोनों ही सदनों में निर्धारित बहुमत से स्वीकृति आवश्यक होती है। संशोधन विधेयक पर दोनों सदनों में गतिरोध होने पर दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का कोई संवैधानिक प्रावधान नहीं है। अतः एक सदन की असहमति होने पर संशोधन विधेयक

स्वतः ही अस्वीकृत माना जाता है। इस प्रकार संविधान संशोधन के सम्बन्ध में राज्यसभा को लोकसभा के समान ही शक्ति प्राप्त है। 1978 में 45वाँ संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा द्वारा पारित करने के पश्चात् राज्य सभा में गया तो उसने कुछ संशोधन कर दिये। लोकसभा ने राज्यसभा के द्वारा किये गये संशोधनों को मान लिया। इस तरह इस दृष्टि से दोनों सदनों को समान शक्ति प्राप्त है।

(5) निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ (Elective Powers)– राज्यसभा को निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ भी प्राप्त है जैसे अनुच्छेद 54(i) के अनुसार, राज्यसभा के निर्वाचित सदस्य, लोकसभा के निर्वाचित सदस्यों के साथ राष्ट्रपति निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचक मण्डल के अंग है, अर्थात् राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते है। अनुच्छेद 66(ii) के अनुसार, राज्यसभा के सदस्य, लोकसभा के सदस्यो के साथ उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं।

(6) विविध शक्तियाँ (Miscellaneous Powers)–

राज्यसभा को निम्न विविध शक्तियाँ प्राप्त है :

(i) महाभियोग लगाने का अधिकार : राज्यसभा, लोकसभा के सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश एवं उच्च न्यायालय के न्यायधीशों को महाभियोग द्वारा अपदस्थ कर सकती है। महाभियोग प्रस्ताव दोनों सदनों की स्वीकृति के पश्चात् ही मान्य हेाता है।

(ii) राज्यसभा, लोकसभा के साथ मिलकर उपराष्ट्रपति को भी महाभियोग लगाकर पदच्युत कर सकती है। उपराष्ट्रपति पर महाभियोग प्रस्ताव सर्वप्रथम राज्यसभा में ही पेश किया जा सकता है। राज्यसभा की स्वीकृति के पश्चात् यह प्रस्ताव लोकसभा में जाता है। दोनों सदनों की स्वीकृति के बाद ही उपराष्ट्रपति को पदच्युत किया जा सकता है।

(iii) राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा का अनुमोदन भी लोकसभा के साथ–साथ राज्य सभा द्वारा भी होना आवश्यक है। लोकसभा के विघटन की स्थिति में अनुमोदन केवल राज्यसभा से लेना अनिवार्य है।

(7) अनन्य शक्तियाँ या विशेष अधिकार (Exculsive Powers)– राज्य सभा को संघीय शासन में संघ की इकाइयों का प्रतिनिधि सदन होने के कारण दो ऐसी अनन्य शक्तियाँ प्राप्त है जो कि लोकसभा को प्राप्त नहीं है। ये दो शक्तियाँ हैं :

(i) राज्य सूची के विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित करने का अधिकारः– संविधान के अनुच्छेद 249 के अनुसार , राज्य सभा उपस्थित एवं मतदान में सम्मिलित होने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित कर सकती है। राज्य सूची के उस विषय पर एक वर्ष के लिये संसद कानून बना सकती है।

(ii) अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना का अधिकार : संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार , राज्य सभा में 2/3 बहुमत से प्रस्ताव पारित होने पर केन्द्र सरकार द्वारा नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना की जा सकती है। इस तरह राज्य सभा को ही राष्ट्रीय हित में अखिल भारतीय सेवा की रचना करने का अधिकार है।

राज्य सभा की शक्तियों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वित्तीय मामलों में व शासन पर नियंत्रण रखने की दृष्टि से यह लोकसभा की तुलना में एक कमजोर सदन है। परन्तु राज्य सभा न सिर्फ द्वितीय सदन है, अपितु द्वितीय महत्त्व का सदन भी है। इस तरह राज्यसभा न तो ब्रिटिश लॉर्डसभा की तरह एक निर्बल सदन है और न ही अमेरीकी सीनेट की तरह एक शक्तिशाली सदन है। इसकी स्थिति दोनों के मध्य की मानी जा सकती है।

लोकसभा (House of the Peoples / Lok Sabha)

लोकसभा एक जन प्रतिनिधि सभा है। संघीय संसद के निम्न सदन, प्रथम सदन या लोकप्रिय सदन को लोकसभा के रूप में जाना जाता है। यह भारतीय नागरिकों का सदन हैं।

संरचना (Composition)

प्रारम्भ में लोकसभा की सदस्य संख्या 500 रखी गयी थी जो कि समय–समय पर परिवर्तित होती रही है। 1956 में संविधान के सातवें संशोधन द्वारा लोकसभा की सदस्य संख्या को बढ़ाकर 520 कर दिया गया। 1974 में संविधान के 31वें संशोधन द्वारा लोकसभा की सदस्य संख्या अधिकतम 547 (545 निर्वाचित व 2 मनोनीत सदस्य) निश्चित की गयी। इसके पश्चात् 1987 में निश्चित किया गया कि लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या (530+20+2) = 552 हो सकती है। वर्तमान में लोकसभा की 545 सदस्य संख्या है। इनमें से 530 राज्यों से, 13 संघ शासित क्षेत्रों से व दो सदस्य निर्वाचित न होने पर एंग्लो इण्डियन समुदाय में से मनोनीत किये जाते हैं। भारतीय संविधान में प्रावधान रखा गया है कि प्रति दस वर्ष पश्चात् होने वाली जनगणना के आधार पर 'परिसीमन आयोग' लोकसभा में राज्य व केन्द्र शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधियों की संख्या का निर्धारण करेगा।

84 वें संविधान संशोधन के अनुसार 2001 ई के बाद भी लोकसभा की सदस्य संख्या एवं लोकसभा में राज्यों के प्रतिनिधित्व मे कोई परिवर्तन नहीं किया जायेगा।

निर्वाचन (Election)–

लोकसभा का निर्वाचन प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर होता है। लोकसभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है। प्रारम्भ में 21 वर्ष की आयु के व्यक्ति को वयस्क माना जाता था, 1988–89 में भारतीय संविधान में 61वें संशोधन के अनुसार वयस्कता की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी है। लोकसभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र एकल सदस्यीय रखे गये हैं। मूल संविधान में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु 10 वर्ष की अवधि हेतु स्थान सुरक्षित रखने थे। जिन्हें 62वें संविधान संशोधन (1990) के अनुसार, 25 जनवरी 2000 ई तक, एवं 79 वें संवैधानिक संशोधन (1999) के अनुसार, अब उसे 25 जनवरी 2010 ई तक, स्थान आरक्षित कर दिये गये हैं।

लोकसभा की सदस्यता हेतु अर्हता (Qualification for the members of Lok-Sabha)–

संविधान के अनुच्छेद 84 द्वारा, लोकसभा की सदस्यता के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं :

(i) भारत का नागरिक होना चाहिए।

(ii) 25 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।

(iii) उसमें वह सब योग्यताएँ **हों, जिन्हें संसद निर्मित विधि के द्वारा विहित किया जाए।**

सदस्यता के लिए अनहर्ताएँ –

अनु0 102 के अनुसार, कोई व्यक्ति संसद का सदस्य चुनने के लिए अयोग्य होगा यदि वह :–

(i) भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत वह कोई लाभ का पद धारण किये हो।

(ii) वह किसी सक्षम न्यायालय द्वारा पागल ठहराया गया हो,

(iii) वह दिवालिया हो।

(iv) निर्वाचन सम्बन्धी अपराध के लिए दोषी पाये जाने पर निवार्चन आयोग द्वारा संसद का चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित कर दिया गया है।

(v) वह विदेशी हो अर्थात भारत का नागरिक न हो।

(vi) संसद के दोनों सदनों का सदस्य हो या संसद व राज्य विधान मण्डल दोनों का सदस्य हो तो किसी एक सदन की सदस्यता छोड़नी पड़ती है।

लोकसभा में स्थानों का आवंटन

राज्य व संघ क्षेत्र का नाम	सदस्य संख्या
आन्ध्रप्रदेश	42
असम	14
बिहार	40
झारखण्ड	14
गुजरात	26
जम्मू कश्मीर	06
केरल	20
मध्य प्रदेश	29
छत्तीसगढ़	11
महाराष्ट्र	48
कर्नाटक	28
उड़ीसा	21
पंजाब	13
राजस्थान	25
उत्तर प्रदेश	80
उत्तराखण्ड	05
पश्चिमी बंगाल	42
हरियाणा	10
हिमाचल प्रदेश	04
नागालैण्ड	01
मेघालय	02
मणिपुर	02
त्रिपुरा	02
सिक्किम	01
अरूणाचल प्रदेश	02
गोआ	02
मिजोरम प्रदेश	01
संघीय क्षेत्र	
दिल्ली	07

पुंदुचेरी	01
दादरा तथा नागर हवेली	01
लक्षद्वीप	01
दमन व दीव	01
चण्डीगढ़	01
अण्डमान तथा निकोबार	01
कुल निर्वाचित सदस्य	**543**

कार्यकाल (Term)–

लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है। यह एक अस्थायी सदन है क्योंकि प्रधान मंत्री के परामर्श पर राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा को निर्धारित कार्यकाल से पूर्व भी भंग किया जा सकता है। इस अवधि को आपात उद्घोषणा के लागू होने की स्थिति में संसद कानून बनाकर एक वर्ष के लिये बढ़ा सकती है।

लोकसभा का सत्र, सत्रावसान और विघटन (Session, Prorogation and dissolution of Loksabha) –

संविधान के अनुच्छेद 85 के अनुसार, लोकसभा का अधिवेशन एक वर्ष में दो बार बुलाना आवश्यक है और दोनों में 6 माह से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए। इसका अधिवेशन बुलाने व स्थगित करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है। अनु. 85(2) के अनुसार, राष्ट्रपति समय–समय पर किसी सदन का सत्रावसान कर सकेगा।

गणपूर्ति (Quorum)–

लोकसभा की बैठक की गणपूर्ति हेतु कुल सदस्यों के दसवें भाग को माना जाता था। 42वें संविधान संशोधन के अनुसार, सदन की बैठक की गणपूर्ति सदन द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार होगी।

पदाधिकारी (Presiding officers of the Lok Sabha)–

लोकसभा के प्रमुख पदाधिकारी एक अध्यक्ष व उपाध्यक्ष होता है। संविधान के अनुच्छेद 93 के अनुसार, लोकसभा अपने में से ही दो सदस्यों को अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष निर्वाचित करेगी। अनुच्छेद 95 के अनुसार, अध्यक्ष का पद रिक्त होने पर उपाध्यक्ष और यदि उपाध्यक्ष का पद रिक्त हो तो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त व्यक्ति इस पद के कर्त्तव्यों का पालन करेगा।

अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को उनके पद से हटाया जा सकता है यदि लोकसभा इस आशय का प्रस्ताव तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से पास कर दे। इस प्रकार के प्रस्ताव को पेश करने हेतु 14 दिन पूर्व सूचना देना अनिवार्य है।

संविधान के अनुसार, अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को वे सभी वेतन व भत्ते मिलते है जिन्हें संसद समय–समय पर निर्धारित करें। दोनों ही पदाधिकारियों को निःशुल्क निवास स्थान तथा केन्द्रीय मंत्रियों को मिलने वाली सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं।

अध्यक्ष के कार्य व शक्तियाँ (Functions and powers of the Speaker) -

भारत में लोकसभा के अध्यक्ष की शक्तियाँ तथा कार्य निम्नलिखित हैं :

(i) वह लोकसभा की सभी बैठकों की अध्यक्षता करता है।

(ii) वह सदन में शान्ति, व्यवस्था व अनुशासन बनाये रखने का कार्य करता है।

(iii) वह सदन के नेता के परामर्श से विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में विचार–विमर्श व वाद–विवाद का समय निश्चित करता है।

(iv) वह लोकसभा के सदस्यों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों को स्वीकार अथवा नियम विरूद्ध होने पर अस्वीकार करता है।

(v) लोकसभा अध्यक्ष ही यह निर्णय करता है कि कोई विधेयक वित्त विधेयक है अथवा नहीं।

(vi) अध्यक्ष ही बजट सम्बन्धी भाषणों की समय सीमा निश्चित करता है।

(vii) लोकसभा अध्यक्ष ही सदस्यों को भाषण देने की अनुमति प्रदान करता है एवं भाषणों के क्रम का भी निर्धारण करता है।

(viii) संसद और राष्ट्रपति के मध्य सम्पूर्ण पत्र व्यवहार उसके ही द्वारा होता है।

(ix) अध्यक्ष, सदन की कुछ समितियों का पदेन सभापति होता है।

(x) वह संविधान तथा प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों की व्याख्या करता है।

(xi) अध्यक्ष को सदन में मतदान करने का अधिकार नहीं है परन्तु निर्णायक मत दे सकता है।

(xii) वह सदन द्वारा पास किये गये विधेयकों को प्रमाणित करता है।

(xiii) वह संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन होने पर उसकी अध्यक्षता करता है।

(xiv) 52वें संविधान संशोधन अधिनियम के आधार पर अध्यक्ष,

दल बदल पर उठे किसी प्रश्न पर निर्णय प्रदान करता है।

(xv) वह सदस्यों के त्याग पत्र को स्वीकार या अस्वीकार करता है।

इस प्रकार लोकसभा अध्यक्ष की शक्तियॉ व अधिकार काफी व्यापक व विस्तृत है। वह सदन की प्रतिष्ठा, गरिमा व विशेषाधिकारों को बनाये रखता है एवं उसका पद बड़े उत्तरदायित्व का होता है। पं. नेहरू के शब्दों में "अध्यक्ष सदन के गौरव तथा सदन की स्वतंत्रता का प्रतिनिधित्व करता है।"

लोकसभा की शक्तियाँ व कार्य (Powers and Functions of Lok-Sabha)

लोकसभा संसद का लोकप्रिय सदन है क्योंकि इसके सदस्यों को जनता के द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। संसदीय व्यवस्था में कानून बनाने और मंत्रिपरिषद पर नियंत्रण की निर्णायक शक्ति जनप्रिय सदन को ही प्राप्त होती है। भारत में संसदीय शासन व्यवस्था अपनाये जाने के कारण संविधान द्वारा राज्य सभा की तुलना में लोकसभा को ही अधिक महत्त्वपूर्ण शक्तियॉ व प्रभावपूर्ण स्थिति प्राप्त है। लोकसभा की प्रमुख शक्तियाँ व कार्यों को निम्न रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है –

(1) विधायी या कानून निर्माण सम्बन्धी शक्तियाँ (Legislative powers):

संविधान के अनुसार, भारत में संसद संघ सूची, समवर्ती सूची व अवशिष्ट विषयों पर कानून निर्माण का कार्य करती है। आपात काल में व अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्य सभा द्वारा राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित करने पर कानून निर्माण का कार्य, संसद, राज्य सूची के विषयों पर भी करती है।

सामान्यतः साधारण विधेयक संसद के दोनों ही सदनों में पेश किये जा सकते है और उस पर दोनों ही सदनों की सहमति आवश्यक होती है। परन्तु व्यवहार में महत्त्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही पेश किये जाते हैं। साधारण विधेयक पर दोनों सदनों में गतिरोध होने की स्थिति में संविधान के अनुच्छेद 108 के अनुसार, राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है जिसकी अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है। संयुक्त बैठक में बहुमत के आधार पर सम्बन्धित विधेयक पर निर्णय किया जाता है। लोकसभा की सदस्य संख्या राज्य सभा की दुगुनी से भी ज्यादा होती है अतः विधेयक पर निर्णय लोक सभा की इच्छा के अनुरूप ही होता है। इस प्रकार विधि निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णायक शक्ति लोकसभा के पास होती है।

(2) वित्तीय शक्तियाँ (Financial Powers) :

भारतीय संविधान में वित्तीय क्षेत्र में लोकसभा को राज्य सभा की तुलना में अधिक प्रधानता एवं प्राथमिकता प्रदान की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 109 के अनुसार, वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं, राज्य सभा में नहीं। लोकसभा का राष्ट्रीय वित्त पर पूर्ण नियंत्रण होता है। लोकसभा द्वारा पारित होने के पश्चात् ही वित्त विधेयक व बजट राज्य सभा में पेश किया जाता है। राज्य सभा के पास जाने पर वह उसे – (i) पारित कर दे (ii) कुछ संशोधनों या सुझावों सहित लौटा दे या (iii) वित्त विधेयक को 14 दिन तक रोक सकती है। प्रथम स्थिति में राज्य सभा द्वारा पारित करने पर राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु भेज दिया जाता है। राज्य सभा द्वारा दिये गये सुझावों एवं संशोधनों को मानना या न मानना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। यदि राज्य सभा वित्त विधेयक पर 14 दिन तक कोई भी निर्णय नहीं ले पाती है तो वित्त विधेयक या बजट लोकसभा द्वारा पारित रूप में ही मान लिए जाऐंगे। इस तरह वित्त सम्बन्धी क्षेत्र में राज्य सभा को केवल मात्र 14 दिन तक रोके रखने का अधिकार है। वित्त विधेयक व बजट के अलावा अन्य अनुदान सम्बन्धी माँगें भी लोकसभा में ही पेश की जाती हैं। कोई विधेयक, धन विधेयक है या नहीं इस विषय में भी निर्णय करने का अधिकार लोकसभा अध्यक्ष को ही प्राप्त होता है। अतः वित्तीय क्षेत्र में लोकसभा, राज्यसभा की तुलना में अधिक शक्तिशाली सदन है।

(3) कार्यपालिका अर्थात् शासन पर नियंत्रण (Power to Conrol the Executive or Government) :

भारत में संविधान द्वारा संसदीय शासन व्यवस्था की स्थापना की गयी है। संसदीय शासन में संघीय कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद) व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। भारत में भी मंत्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति ही उत्तरदायी है। मंत्रिपरिषद तभी तक अपने पद पर बनी रह सकती है, जब तक की उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। सरकार के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव केवल लोकसभा में ही पारित किया जा सकता है। लोकसभा शासन व कार्यपालिका पर अनेक प्रकार से नियंत्रण रखती हैं जैसे –

(i) प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछकर : लोकसभा के सदस्य मंत्रियों से सरकारी नीति व शासन के कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं।

(ii) आलोचना व निंदा द्वारा : लोकसभा के सदस्य सरकार के कार्यों व नीतियों की आलोचना व निंदा कर सकते हैं।

(iii) विधेयक में संशोधन या उसे अस्वीकृत करके : लोकसभा

के सदस्य सरकारी विधेयक में ऐसा कोई संशोधन प्रस्तुत करके, जिससे सरकार की असहमति हो, या सरकारी विधेयक अथवा बजट को अस्वीकार करके अपना विरोध अभिव्यक्त कर सकती है।

(iv) कामरोको व ध्यानाकर्षण प्रस्ताव द्वारा : लोकसभा ध्यानाकर्षण प्रस्ताव व कामरो को प्रस्ताव पास करके भी सरकार के कार्यों व नीतियों की त्रुटियों को उजागर कर सकती है।

(v) अविश्वास प्रस्ताव : लोकसभा की कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद) पर नियंत्रण की महत्त्वपूर्ण शक्ति अविश्वास प्रस्ताव है। वह मंत्रिपरिषद के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर उसे पदच्युत कर सकती है। जैसा कि 7 नवम्बर 1990 को अप्रैल 99 में लोकसभा से विश्वास मत प्राप्त न होने के कारण सरकार को त्याग पत्र देने पड़े।

(vi) अनेक आयोगों के प्रतिवेदनों पर विचार करके : लोकसभा संघ लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग, भाषा आयोग, भारत के नियंत्रक व महालेखा परीक्षक एवं अनुसूचित जाति व जनजाति आयोग आदि के वार्षिक प्रतिवेदनों पर विचार करके भी कार्यपालिका को नियंत्रित करती है।

राज्य सभा को भी प्रश्न, पूरक प्रश्न, आलोचना, निंदा व कामरोको प्रस्ताव लाने का अधिकार है परन्तु अविश्वास प्रस्ताव केवल लोक सभा द्वारा ही लाया जा सकता है। अतः कार्यपालिका पर नियंत्रण की दृष्टि से भी राज्यसभा की तुलना में लोकसभा को अधिक महत्त्वपूर्ण व प्रभावशाली शक्तियॉं प्रदान की गयी है।

(4) संविधान संशोधन करने सम्बन्धी शक्तियाँ (Power to Amend the Constitution) :

संविधान द्वारा विधि निर्माण के साथ–साथ संविधान में संशोधन करने का अधिकार प्रदान किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 368 में संशोधन की प्रक्रिया का प्रावधान दिया गया है जिसके द्वारा संशोधन की तीन विधियाँ निर्धारित की गयी हैं – (i) साधारण बहुमत से (i) कुल सदस्यों के बहुमत एवं उपस्थित सदस्यों के 2/3 बहुमत से (i) संसद के विशेष बहुमत एवं भारतीय संघ के आधे राज्यों के विधान मण्डलों की स्वीकृति से।

संविधान के अधिकांश भाग में संशोधन केवल संसद के द्वारा ही किया जाता है, कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों मे संसद के साथ–साथ आधे राज्यों के विधान मण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होती है। इस दृष्टि से संसद के दोनों सदनों की शक्तियाँ समान है। संविधान में संशोधन सम्बन्धी विधेयक लोकसभा अथवा राज्यसभा किसी भी सदन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं और वे तभी पारित माने जाएँगें, जब संसद के दोनों सदन पृथक–पृथक अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से उसे पारित कर दें। संशोधन प्रस्ताव पारित होने हेतु दोनों सदनों की सहमति आवश्यक है क्योंकि गतिरोध की अवस्था में इस प्रकार के प्रस्ताव पर विचार के लिए संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाने का कोई प्रावधान नहीं है।

(5) निवार्चन सम्बन्धी कार्य (Elective Functions) :

लोकसभा निर्वाचक मण्डल के रूप में भी कार्य करती है। वह प्रमुख रूप से निम्न निर्वाचनों में भाग लेती है –

(i) राष्ट्रपति के निर्वाचन में – अनुच्छेद 54 के अनुसार, लोकसभा के निर्वाचित सदस्य राज्यसभा व राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।

(ii) उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में – अनुच्छेद 66 के अनुसार, लोकसभा और राज्य सभा मिलकर उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करती है।

(iii) अध्यक्ष व उपाध्यक्ष का निर्वाचन – लोकसभा सदस्यों द्वारा अपने में से ही सदन का एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष निर्वाचित किया जाता है।

(6) कुछ उच्च अधिकारियों को पदच्युत करने सम्बन्धी कार्य (Functions regarding dismissing Higher Officers):

(i) लोकसभा राज्यसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति को महाभियोग लगाकर पद से हटाने की कार्यवाही कर सकती है। महाभियोग की कार्यवाही संसद के दोनों सदनों में से किसी में भी प्रारम्भ की जा सकती है। दोनों सदनों द्वारा महाभियोग स्वीकृत करने पर राष्ट्रपति को पद त्यागना पड़ता है।

(ii) उपराष्ट्रपति को पदच्युत करने के लिए प्रस्ताव का प्रारम्भ, राज्य सभा में किया जाता है। राज्य सभा में प्रस्ताव पारित होने पर वह लोकसभा में आताहै। यदि लोकसभा उस प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति दे दे तो उपराष्ट्रपति को अपना पद त्यागना होता है।

(iii) लोकसभा अपने अध्यक्ष व उपाध्यक्ष को भी पद से हटा सकती है।

(iv) सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के न्यायधीशों (मुख्य न्यायाधीश सहित) को हटाने का प्रस्ताव दोनों सदनों के विशिष्ट बहुमत से एक ही सत्र में पास कर दिया जावे तो राष्ट्रपति उन्हें पदमुक्त कर सकता है।

(7) विविध कार्य (Miscellaneous Functions):

(i) आपात काल की घोषणा की स्वीकृति : जब राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352, 356 व 360 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा की जाती है तो उसकी स्वीकृति संसद के द्वारा एक निर्धारित अवधि के अन्तर्गत लेनी होती है। स्वीकृति के अभाव में इस प्रकार की घोषणा एक माह बाद स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

(ii) विभिन्न आयोगों जैसे वित्त आयोग, संघ लोक सेवा आयोग, अल्पसंख्यक आयोग और नियंत्रक व महालेखा परीक्षक आदि के द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर लोकसभा और राज्य सभा में विचार विमर्श किया जाता है।

(iii) यदि राष्ट्रपति द्वारा किसी को सर्वक्षमा प्रदान की जाती है तो उसकी स्वीकृति भी संसद से ली जाती है।

(iv) लोकसभा जनप्रतिनिधि सदन होता है। इस कारण यह जनता और शासन के मध्य कड़ी का कार्य करता है। इस सदन के सदस्य लोकसभा में प्रश्नों, प्रस्तावों और वाद विवाद के द्वारा जनता की शिकायतें और भावनाएँ सरकार तक पहुँचाते हैं एवं इस बात के लिए सचेष्ट रहते हैं कि शासन की नीतियाँ एवं कार्य जनहित के अनुरूप सम्पन्न होवें।

उपरोक्त शक्तियों एवं कार्यों से यह स्पष्ट होता है कि लोकसभा के पास में महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ और कार्य है एवं यह संसद का अति महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली सदन है। यह एक लोकप्रिय जन प्रतिनिधि सदन है। इसलिए कुछ लोग लोकसभा को ही संसद का पर्याय मानते है।

संसद के दोनों सदनों (लोकसभा व राज्यसभा) की तुलनात्मक स्थिति :

संसद के दोनों सदनों के अधिकारों, उनके कार्यों तथा उनकी संरचना के आधार पर दोनों सदनों का तुलनात्मक अवलोकन कर सकते हैं।

संरचना के आधार पर :

(i) लोकसभा संसद का निम्न सदन है जिसे जनप्रतिनिधि सदन एवं लोकप्रिय सदन भी कहा जाता है जबकि राज्यसभा उच्च सदन एवं द्वितीय व वरिष्ठ सदन के नाम से जाना जाता है।

(ii) लोक सभा एक प्रतिनिधि सदन है जो कि भारत की जनता का प्रतिनिधित्व करती है जबकि राज्यसभा संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करती है।

(iii) लोकसभा के सदस्यों का निर्वाचन सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है जबकि राज्य सभा सदस्यों का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मतपद्धति व अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर किया जाता है।

(iv) लोकसभा सदस्य बनने हेतु न्यूनतम आयु 25 वर्ष पूर्ण करना आवश्यक है जबकि राज्य सभा सदस्य बनने हेतु न्यूनतम आयु 30 वर्ष पूर्ण करना अनिवार्य है।

(v) कार्यकाल की दृष्टि से भी दोनों सदनों में अन्तर है। लोकसभा एक अस्थायी सदन है, जिसका कार्यकाल 5 वर्ष है, जबकि राज्य सभा एक स्थायी सदन है, जिसे भंग नहीं किया जाता है, अपितु इसके एक तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष पश्चात् अपना स्थान रिक्त करते रहते हैं। इस प्रकार राज्य सभा के प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल 6 वर्ष होता है।

शक्तियों व कार्यों के आधार पर तुलना : शक्तियों व कार्यों के आधार पर लोकसभा व राज्य सभा की तुलना निम्न तीन बिन्दुओं के आधार पर की जा सकती है

(i) वे कार्य व अधिकार जिनमें लोकसभा राज्य सभा से अधिक शक्तिशाली है।

(ii) वे कार्य व अधिकार जिनमें लोकसभा व राज्य सभा की स्थिति समान है।

(iii) वे कार्य व अधिकार जिनमें राज्यसभा लोकसभा की तुलना में अधिक प्रभावशाली है।

वे कार्य व अधिकार क्षेत्र जिनमें लोकसभा राज्य सभा से अधिक प्रभावशाली है :

(1) वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में : संविधान में वित्तीय क्षेत्र में लोकसभा को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। राज्य सभा के पास वित्तीय शक्तियाँ प्रायः नगण्य हैं। कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं इस बात का निर्णय भी लोकसभा अध्यक्ष के द्वारा ही किया जाता है। संविधान के अनुसार वित्त विधेयक सर्वप्रथम लोक सभा में ही पेश किये जाते हैं। लोकसभा में पारित होने के पश्चात् वे राज्य सभा में जाते है। राज्यसभा को उसे 14 दिन में स्वीकृत करना होता है। यदि इस अवधि में वह इसे कुछ सुझावो व संशोधनों सहित पुनः लोकसभा में लौटा देती है तो यह लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है कि उन संशोधनों एवं सुझावों को वह स्वीकार करे या नहीं। यदि राज्य सभा वित्त विधेयक को 14 दिन तक रोके रखे तो यह विधेयक स्वतः ही उसी रूप में पारित मान लिया जाता है जिस रूप में लोकसभा ने उसे पारित किया था। इस प्रकार राज्यसभा को वित्त विधेयक को मात्र 14 दिन विलम्बित करने का अधिकार है। इस विषय

में प्रमुख अधिकार लोकसभा के पास ही है।

(2) मंत्रिपरिषद पर नियंत्रण के सम्बन्ध में : भारत में संसदीय शासन व्यवस्था है और संसदीय शासन में मंत्रिपरिषद संसद के लोकप्रिय सदन लोकसभा के प्रति ही उत्तरदायी होता है, राज्यसभा के प्रति नहीं। राज्यसभा मंत्रिपरिषद के सदस्यों से प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछ सकती है। आलोचना व निंदा कर सकती है, कामरोको व स्थगन प्रस्ताव ला सकती है, शासन के कार्यों की जानकारी प्राप्त कर सकती है परन्तु अविश्वास प्रस्ताव लाकर उसे पदच्युत नहीं कर सकती है। मंत्रिमण्डल को पदच्युत करने का अधिकार केवल लोकसभा के पास है। अतः मंत्रिपरिषद पर नियंत्रण की दृष्टि से लोकसभा राज्य सभा से अधिक शक्तिशाली सदन है।

(3) साधारण विधेयक के सम्बन्ध में : सैद्धांतिक दृष्टि से साधारण विधेयक के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्तियाँ प्राप्त है। साधारण विधेयक संसद के दोनों सदनों में से पहले किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। राज्यसभा साधारण विधेयक को संशोधित कर सकती है उसे अस्वीकृत कर सकती है। दोनों सदनों द्वारा पारित होने के पश्चात् ही साधारण विधेयक पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होते है।

परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से देखा जावे तो महत्त्वपूर्ण विधेयक पहले लोकसभा में ही पेश किये जाते हैं। साधारण विधेयक पर दोनों सदनों में गतिरोध की स्थिति उत्पन्न होने पर संविधान के अनुच्छेद 108 के प्रावधानानुसार, राष्ट्रपति दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन आहूत करता है, जिसकी अध्यक्षता भी लोक सभा अध्यक्ष के द्वारा ही की जाती है। संयुक्त अधिवेशन में विधेयक को बहुमत के आधार पर पास किया जाता है। लोकसभा की सदस्य संख्या राज्य सभा की सदस्य संख्या से दुगुनी से भी अधिक होती है, इस कारण विधेयक लोकसभा की इच्छानुसार ही स्वीकृत होता है। अतः व्यवहारिक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारण विधेयक के विषय में लोकसभा को राज्यसभा की तुलना में अधिक अधिकार व शक्तियाँ प्राप्त है।

वे कार्य व अधिकार जिसमें लोकसभा और राज्य सभा की स्थिति समान है –

(i) संविधान में संशोधन की दृष्टि से – संविधान के अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत दी गयी संशोधन प्रक्रिया के प्रावधानों के अनुसार, संविधान में संशोधन करने की दृष्टि से दोनों सदनों (लोकसभा व राज्यसभा) को समान शक्तियाँ प्राप्त है। संविधान में संशोधन से सम्बन्धित विधेयक संसद के किसी भी सदन में पहले पेश किया जा सकता है। ऐसे विधेयकों को दोनों ही सदनों में पारित होना अनिवार्य है। राज्य सभा द्वारा उसमें सुझाव व संशोधन यदि दिये जाते हैं तो लोकसभा द्वारा सहमति देने पर ही संविधान में संशोधन संभव है। दोनों सदनों में किसी संशोधन विधेयक पर गतिरोध की स्थिति है तो संविधान में संशोधन नहीं किया जा सकता है क्योंकि साधारण विधेयक की तरह संविधान संशोधन विधेयक पर गतिरोध की अवस्था में संयुक्त बैठक का प्रावधान नहीं है। अतः संविधान संशोधन की शक्ति के आधार पर दोनों सदनों की समान स्थिति है।

(ii) निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ – राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में दोनों सदनों की समान शक्तियाँ है। इन दोनों के निर्वाचन में दोनों ही सदनों (लोकसभा व राज्यसभा) के सदस्य समान रूप से भाग लेते हैं।

(iii) महाभियोग सम्बन्धी शक्तियाँ : राष्ट्रपति, सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश व अन्य न्यायाधीशों को महाभियोग लगाकर पदच्युत करने के विषय में दोनों ही सदनों को समान अधिकार व शक्तियाँ प्राप्त हैं। पदच्युति का कोई भी प्रस्ताव तब तक मान्य नहीं हो सकता है, जब तक दोनों ही सदनों द्वारा पास न कर दिया जावे।

(iv) आपात काल की घोषणा की स्वीकृति : राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352, 356 व 360 के अन्तर्गत की जाने वाली आपात काल की घोषणा का अनुमोदन दोनों सदनों द्वारा होना अनिवार्य है।

(v) आयोगों के प्रतिवेदनों पर विचार विमर्श : संघ लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग, अल्प संख्यक आयोग एवं नियंत्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदनों पर विचार विमर्श दोनों ही सदनों में किया जाता है।

वे कार्य व अधिकार जिनमें राज्यसभा, लोकसभा की तुलना में अधिक प्रभावशाली है –

(i) राज्यसूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित करने का अधिकार : संविधान के अनुच्छेद 249 के अनुसार, राज्य सभा राज्य सूची के किसी भी विषय को उपस्थित व मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित कर सकती है। ऐसा होने पर उस विषय पर संसद द्वारा कानून बनाया जा सकता है। इस प्रकार का कानून 1 वर्ष तक लागू रहता है।

(ii) नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना : संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार, राज्य सभा राष्ट्रीय हित में नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना हेतु प्रस्ताव पास कर सकती है। इस प्रकार का प्रस्ताव भी उपस्थित व मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से ही स्वीकृत किया जाता है।

(iii) उपराष्ट्रपति पर महाभियोग : उपराष्ट्रपति को पदच्युत

करने हेतु महाभियोग प्रस्ताव पहले राज्यसभा में ही लगाया जाता है, लोकसभा में नहीं। निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि लोकसभा एक लोकप्रिय व जनप्रतिनिधि सदन है। अतः संसदीय शासन के अन्तर्गत लोकप्रिय सदन को ही अधिक शक्तियाँ व अधिकार प्राप्त होते है। भारत में लोकसभा को राज्यसभा की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण व शक्तिशाली सदन बनाया गया है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने राज्य सभा को प्रथम सदन का पूरक व सहयोगी सदन के रूप में बनाया है। अतः राज्य सभा की स्थिति भी अपने स्थान पर सुदृढ़ है। भारत में राज्य सभा अमेरिका की सीनेट के समान शक्तिशाली नहीं है तो ब्रिटिश लार्ड सभा की तरह निर्बल व कमजोर सदन भी नहीं है। अतः यह लोकसभा का सहायक व सहयोगी सदन है।

संसद में विधि–निर्माण की प्रक्रिया

(Process Of Law-Making In Parliament)

संसद (संघीय व्यवस्थापिका) का महत्त्वपूर्ण कार्य, विधि का निर्माण करना है। विधि निर्माण करने सम्बन्धी सभी प्रस्ताव विधेयक कहलाते है। विधेयक पर संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति के पश्चात् राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होते हैं। उसके बाद वह कानून अर्थात् अधिनियम का रूप ग्रहण कर लेता है।"विधेयक कानून के प्रस्ताव का सुस्पष्ट प्रारूप है, जिसे व्यवस्थापिका में उसकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है।"

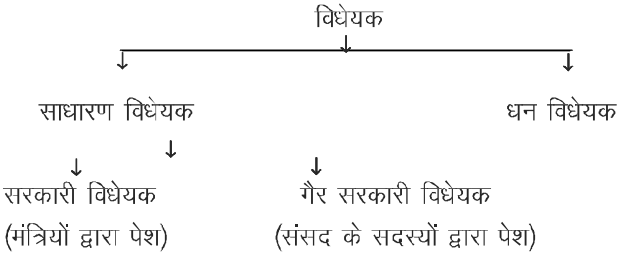

विधेयक दो प्रकार के होते हैं – (i) साधारण विधेयक (Ordinary Bills)

(ii) धन विधेयक (Money Bills)।

साधारण विधेयक :– दो प्रकार के होते हैं– (1) सरकारी विधेयक (2) गैर सरकारी विधेयक

सरकारी विधेयक– जो विधेयक सरकार की तरफ से मंत्रिपरिषद के किसी सदस्य द्वारा पेश किया जाता है वह सरकारी विधेयक कहलाता है।

गैर सरकारी विधेयक – मंत्रियों के अलावा संसद के किसी अन्य सदस्य द्वारा प्रस्तावित किया जाने वाला विधेयक गैर सरकारी विधेयक कहलाता है।

धन विधेयक – किसी कर को लगाने या घटाने–बढ़ाने तथा सरकारी कोष से किसी राशि को निकालने या कोष में इस राशि को जमा करने आदि से सम्बन्धित विधेयकों को धन विधेयक कहा जाता है।

संविधान के अनुच्छेद 110 के अनुसार, धन विधेयक के अन्तर्गत, उधार,, संचित निधि, इसकी अभिरक्षा, विनियोग, संचित निधि में धन की प्राप्ति तथा अभिरक्षा आदि विषय सम्भावित होते हैं।

साधारण विधेयक – धन विधेयक के अलावा सभी विधेयक साधारण विधेयक कहलाते है।

साधारण विधेयक पर विधि निर्माण प्रक्रिया –

साधारण विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं। ये विधेयक किसी मंत्री या संसद के किसी सदस्य द्वारा प्रस्तावित किये जाते है।

साधारण विधेयक को संसद में निम्नलिखित स्तरों से गुजरना पड़ता है

(1) प्रथम वाचन : विधेयक को प्रस्तावित करना

(2) द्वितीय वाचन

(3) समिति स्तर

(4) प्रतिवेदन स्तर

(5) तृतीय वाचन

(6) विधेयक द्वितीय सदन में

(7) दोनो सदनों में गतिरोध की अवस्था में संयुक्त अधिवेशन

(8) राष्ट्रपति की स्वीकृति एवं अनुमति

(1) विधेयक का प्रस्तुतीकरण एवं प्रथम वाचन (Presentation of Bill & First Reading) :

विधेयक का प्रथम वाचन एक औपचारिकता है, संसद में विधेयक की प्रस्तुति के लगभग एक सप्ताह पूर्व सदन के अध्यक्ष को इसकी सूचना देनी होती है। विधेयक को प्रस्तावित करने के लिए नियत तिथि को अध्यक्ष प्रभारी मंत्री को बुलाता है। कतिपय विधेयक, जैसे की राज्यों की सीमा आदि से सम्बन्धित विधेयक, राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के बिना संसद में प्रस्तावित नहीं किये जा सकते। इस प्रकार के विधेयकों में राष्ट्रपति की स्वीकृति विधेयक के साथ संलग्न की जाती है। प्रभारी मंत्री विधेयक को प्रस्तावित अनुमति का प्रस्ताव रखता है। विधेयक को अध्यक्ष की अनुमति से गजट में प्रकाशित करने का भी प्रावधान है। प्रस्तावक, विधेयक को प्रारम्भ करने के लिए सदन की अनुमति प्राप्त करता है। विधेयक के प्रस्तुतीकरण के समय सामान्यतः कोई वाद–विवाद नहीं होता। यदि प्रस्तावक का विरोध होता है तो अध्यक्ष की

अनुमति से प्रस्तावक उस सम्बन्ध में संक्षिप्त वक्तव्य दे सकता है। अध्यक्ष उसके विरोध करने वाले सदस्यों को भी उस पर बोलने की आज्ञा प्रदान कर सकता है। सामान्यतः विधेयक को प्रस्तावित करने का विरोध नहीं होता है। विधेयक को प्रस्तुत करना ही प्रथम वाचन कहलाता है। इस चरण से गुजरने पर विधेयक को सरकारी गजट में प्रकाशित करवाया जाता है।

(2) द्वितीय वाचन (Second Reading) : विधेयक की प्रस्तुती एवं प्रथम वाचन के पश्चात विधेयक की प्रतियों सदन के सदस्यों को वितरित की जाती है और अध्यक्ष की अनुमति से निर्धारित दिनांक को विधेयक का द्वितीय वाचन प्रारम्भ होता है। इसके दो स्तर होते है –

प्रथम स्तर पर विधेयक के गुण दोषों पर सामान्य रूप से प्रकाश डाला जाता है। इसकी मुख्य धाराओं पर विस्तृत रूप से वाद–विवाद नहीं होता है। विधेयक के सिद्धान्तों का प्रायः पास कर दिया जाता है। साधारण वाद–विवाद के बाद निम्न विकल्पों में से एक को मान लिया जाता है। ये विकल्प निम्न है –

(i) साधारण बहस के बाद ही सदन विधेयक पर विस्तृत रूप में विचार विमर्श करे।

(ii) विधेयक को विशेष रूप से गठित प्रवर समिति को सौंप दिया जावे।

(iii) विधेयक को दोनों सदनों की संयुक्त समिति को सौंप दिया जावे।

(iv) जनमत जानने के लिए विधेयक को प्रकाशित कर दिया जावे। उसके बाद निश्चित तिथि को उसकी धाराओं व उपधाराओं में बहस हो सकती है।

प्रायः महत्त्वपूर्ण व जटिल विधेयकों को प्रवर समिति के पास भेज दिया जाता है। कुछ विधेयक दोनों सदनों की संयुक्त समिति को भी भेजे जाते हैं। सामाजिक महत्त्व के विधेयकों को जनमत जानने हेतु प्रसारित कर दिया जाता है। साधारण वाद–विवाद के पश्चात् उक्त चारों में से जिस प्रकार का प्रस्ताव रखा जाता है, उस प्रस्ताव पर संशोधन भी रखे जा सकते हैं और मतदान के बाद जो भी प्रस्ताव स्वीकार होता है उसी प्रक्रिया के अनुसार विधेयक आगे बढ़ जाता है।

(3) समिति स्तर (Committee Level): जब विधेयक को प्रवर समिति या संयुक्त समिति के पास भेजने का प्रस्ताव सदन में स्वीकृत होता है तो समितियों का गठन किया जाता है। प्रवर समिति में विधेयक के प्रस्तावक के अलावा अन्य सदस्य योग्यता व सम्बन्धित विधेयक के विषय में विशेष ज्ञान के आधार पर नियुक्त किये जाते हैं। इनमें विरोधी दल के सदस्यों को भी सम्मलित किया जाता है। यदि संयुक्त समिति का गठन होता हैं तो दूसरे सदन की सहमति ली जाती है और दोनों सदनों में से सदस्य लिए जाते हैं। इसमें लोकसभा तथा राज्यसभा के सदस्यों का अनुपात 2 : 1 का रहता है समिति विधेयक की प्रत्येक धारा पर विस्तार से विचार करती है उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन करती है। जब समिति विधेयक पर विचार कर लेती है तो वह अपना प्रतिवेदन सदन के सम्मुख प्रस्तुत करती है।

(4) प्रतिवदेन स्तर (Report Level): समिति का प्रतिवेदन प्राप्त होने पर विधेयक का प्रस्तावक निश्चित दिन सदन के सम्मुख प्रतिवेदन पर विचार करने का प्रस्ताव रखता है। विधेयक को प्रकाशित करने के पश्चात् विधेयक की प्रतियाँ **सदन के सदस्यों को वितरित की जाती हैं। समिति द्वारा प्रस्तुत किये गये विधेयक पर सदन में धारा वार–विस्तार पूर्वक विचार–विमर्श किया जाता है। विधेयक की धाराओं में संशोधन भी किये जाते हैं और प्रस्तावित संशोधनों पर मत लिए जाते है और इसके उपरान्त विधेयक की प्रत्येक धारा पर मतदान होता है।**

(5) तृतीय वाचन (Third Reading) : प्रतिवेदन स्तर के पश्चात् विधेयक का तृतीय वाचन होता है। जो कि सदन में विधेयक की अंतिम अवस्था होती है। इस स्तर पर संक्षिप्त बहस होती है एवं केवल शाब्दिक और भाषा सम्बन्धी संशोधन प्रस्तुत किये जाते हैं। संक्षिप्त बहस के पश्चात् विधेयक पर मतदान होता है। निर्धारित बहुमत से पारित होने के बाद सदन का अध्यक्ष यह प्रमाणित कर देता है कि विधेयक सदन में पारित हो गया है।

(6) विधेयक द्वितीय सदन में (Bill Transmitted to other house) : एक सदन द्वारा पारित होने के पश्चात् विधेयक दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। दूसरे सदन में प्रथम सदन द्वारा अपनायी गयी प्रक्रिया को दोहराया जाता है। दूसरे सदन विधेयक के सम्बन्ध में निम्नलिखित निर्णय ले सकता है –

(i) पहले सदन द्वारा पारित रूप में ही विधेयक को दूसरा सदन पारित कर दे।

(ii) द्वितीय सदन विधेयक को अस्वीकृत कर सकता है।

(iii) द्वितीय सदन द्वारा विधेयक में इस प्रकार के संशोधन कर दिये जाये जो कि प्रथम सदन को मान्य नहीं होवें।

(iv) द्वितीय सदन विधेयक को 6 माह तक बिना पारित किये रोके रख सकता है।

(7) दोनों सदनों में गतिरोध की अवस्था में संयुक्त अधिवेशन (Joint sitting of the two house to, resolve dead lock) : यदि दोनों सदनों में उस विधेयक पर संशोधनों को लेकर सहमति नहीं बन पाती है तो गतिरोध की अवस्था आ जाती है। ऐसी स्थिति में संविधान के अनुच्छेद 108 के अनुसार, राष्ट्रपति दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुलाता है। संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है। संयुक्त अधिवेशन में सम्बन्धित विधेयक पर दोनों सदनों के उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत से निर्णय लिया जाता है। दोनों सदनों की बैठक में बहुमत से पास किया हुआ विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास माना जाता है।

यदि दूसरा सदन 6 माह तक कोई कार्यवाही न करता है उस स्थिति में भी राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलवा सकता है।

(8) राष्ट्रपति की स्वीकृति (Assent of President) : जब विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत कर दिया जावे या संयुक्त अधिवेशन में बहुमत से पारित हो जाता है तब उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु भेजा जाता है। राष्ट्रपति उस विधेयक पर –

(i) अपने हस्ताक्षर कर स्वीकृति प्रदान कर सकता है।

(ii) अपनी स्वीकृति रोक सकता है।

(iii) अपने सुझावों सहित दोनों सदनों को पुनर्विचार हेतु लौटा सकता है।

प्रथम स्थिति में (स्वीकृति के पश्चात्) विधेयक कानून या अधिनियम का रूप ग्रहण कर लेता है। परन्तु दूसरी व तीसरी स्थिति में दोनों सदन उस विधेयक को संशोधनों सहित या बिना संशोधनों के पुनः पारित कर दे तो विधेयक पर राष्ट्रपति को अपनी अनुमति देनी होगी। इसके बाद वह विधेयक कानून का रूप ग्रहण कर लेता है।

धन विधेयक की प्रक्रिया (Process of Money Bills)

साधारणतया आय व्यय से सम्बन्धित सभी विधेयक धन विधेयक कहलाते हैं। संविधान के अनुच्छेद 110 के अनुसार धन विधेयक किसी कर को लगाने, हटाने, घटाने या बढ़ाने, भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने अथवा कोई प्रत्याभूति देने, भारत की संचित निधि मे धन ड़ालने अथवा निकालने आदि विषयों से सम्बन्धित होता है। कोई विधेयक धन विधेयक है अथवा नहीं, इस प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होने पर लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होता है।

संसद में धन विधेयक पारित करने हेतु उसी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है जो साधारण विधेयक की प्रक्रिया है। फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ विशेष बाते हैं।

(i) वित्त विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति से ही प्रस्तुत किये जाते हैं।

(ii) धन विधेयक सर्वप्रथम लोकसभा में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं, राज्यसभा में नहीं।

(iii) धन विधेयक सरकारी विधेयक होते हैं जो कि वित्त मंत्री द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं।

(iv) लोकसभा द्वारा पारित होने पर धन विधेयक राज्य सभा में प्रस्तुत किये जाते हैं और राज्य सभा को 14 दिन के अन्दर धन विधेयक पर विचार करके लौटाना पड़ता है। यदि इस अवधि में राज्य सभा अपना मत व्यक्त नहीं करती है तो 14 दिन की समाप्ति पर विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है और राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु भेज दिया जाता है।

(v) यदि राज्य सभा धन विधेयक को सुझावों व संशोधनों सहित लोकसभा को लौटा देती है तो इस प्रकार के संशोधनों एवं सुझावों को स्वीकार या अस्वीकार करने का अंतिम अधिकार लोकसभा को प्राप्त होता है।

(vi) संसद द्वारा पारित धन विधेयक पर राष्ट्रपति अनुमति प्रदान कर देता है वह उन्हें न तो अस्वीकार कर सकता है और न ही पुनर्विचार हेतु लौटाता है। इस तरह धन विधेयक पर राज्य सभा की तरह राष्ट्रपति के अधिकार सीमित है।

बजट प्रक्रिया (Budget Process)

बजट सरकार का अगले वित्तीय वर्ष के लिए संभावित आय और व्यय का ब्यौरा होता है। यह विधेयक नहीं होता। इसमें प्रस्तावित कर एवं शुल्क जैसे आय के मद, वित्त विधेयक के रूप में लोकसभा में प्रस्तुत किये जाते हैं। यह सर्वप्रमुख धन विधेयक माना जाता है। खर्चों के प्रस्ताव लोकसभा मे विनियोग विधेयक के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं।

भारत सरकार का वार्षिक बजट दो भागों में होता है – (i) रेल्वे बजट (ii) सामान्य बजट

रेल्वे बजट – रेलवे से सम्बन्धित आय और व्यय के वार्षिक अनुमान रेल्वे बजट के रूप में रखे जाते हैं। यह संसद में रेल्वे मंत्री द्वारा रखा जाता है।

सामान्य बजट – सामान्य बजट में रेल्वे को छोड़कर शेष सभी विभागों की अनुमानित आय और व्यय का विवरण रहता

है। राष्ट्रपति वित्त मंत्री के द्वारा वार्षिक बजट लोकसभा में फरवरी महीने की अंतिम तिथि को प्रस्तुत करता है।

सामान्य बजट का निर्माण वित्त मंत्रालय द्वारा एवं रेल्वे बजट का निर्माण रेल्वे मंत्रालय द्वारा किया जाता है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- संघीय व्यवस्थापिका को संसद कहते हैं। संसद के तीन अंग हैं (i) उच्च सदन– राज्य सभा (ii) निम्न सदन (लोक सभा) (iii) राष्ट्रपति
- राज्यसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 250 हो सकती है। वर्तमान में इसकी सदस्य संख्या 245 है।
- राज्यसभा सदस्यों का निर्वाचन विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता है। इनका निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अर्न्तगत एकल संक्रमणीय मतपद्धति द्वारा किया जाता है।
- राज्यसभा एक स्थायी सदन है, इसे राष्ट्रपति द्वारा भंग नहीं किया जाता है। उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है।
- राज्यसभा की प्रमुख शक्तियाँ– (i) विधायी या कानून निर्माण संबधी शक्तियाँ (ii) कार्यपालिका संबधी शक्तियाँ (iii) संविधान संशोधन की शक्ति (iv) निर्वाचन संबधी शक्तियाँ (v) महाभियोग लगाने का अधिकार (vi) आपातकाल की घोषणा का अनुमोदन (vii) राज्यसूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित करने का अधिकार (viii) अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना का अधिकार
- लोकसभा भारतीय प्रजातंत्र का महत्त्वपूर्ण सदन है वर्तमान में इसकी सदस्य संख्या 545 इनमें 530 राज्यों से व 13 संघशासित राज्यों और 2 सदस्य एंग्लोइंडियन समुदाय में से मनोनीत किये जाते हैं।
- लोकसभा में निर्वाचित सदस्यों का निर्वाचन जनता प्रत्यक्ष मतदान द्वारा करती है। मतदान 18 वर्ष की आयु के नागरिक करते हैं।
- लोकसभा सांसदों का कार्यकाल सामान्यतया 5 वर्ष निर्धारित किया गया है।
- लोकसभा की कार्यवाही का अधिवेशन वर्ष में कम से कम दो बार बुलाना आवश्यक है और उन दोनों अधिवेशनों की अवधि में 6 माह से ज्यादा अन्तर नहीं होना चाहिये।
- लोकसभा या संसद अपने कार्यों अथवा शक्तियों के तहत कानून निर्माण करती है। इसके अन्य कार्य तथा शक्तियाँ वित्तीय शक्तियाँ है। शासन या कार्यपालिका पर नियंत्रण, संविधान में संशोधन की शक्ति, निर्वाचन के कार्य, उच्च अधिकारियों को पदच्युत करने की शक्ति, विभिन्न आयोगों के प्रतिवेदनों पर विचार विमर्श।
- संसद के दोनों सदनों राज्यसभा और लोकसभा की तुलनात्मक स्थिति के रूप में लोकसभा के पास ज्यादा अधिकार और शक्तियाँ और कुछ ही मामलों में जैसे राज्यसूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित करने का अधिकार, नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना, उपराष्ट्रपति पर महाभियोग में राज्यसभा लोकसभा से ज्यादा शक्तिशाली है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

(1) सामूहिक रूप से केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् जिसके प्रति उत्तरदायी होती है वह है–

(अ) राष्ट्रपति (ब) संसद

(स) लोकसभा (द) राज्यसभा ( )

(2) राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन जिसके द्वारा किया जाता है, वह है

(अ) जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर

(ब) लोकसभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा

(स) विधान परिषद् के सदस्यों द्वारा

(द) विधानसभा के सदस्यों द्वारा ( )

(3) लोकसभा द्वारा पारित धन विधेयक को राज्यसभा जितनी अवधि तक रोक सकती है, वह है

(अ) एक माह तक (ब) 3 माह तक

(स) 14 दिन तक (द) 15 दिन तक ( )

(4) संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता जिसके द्वारा की जाती है, वह है

(अ) लोकसभा अध्यक्ष (ब) प्रधानमंत्री

(स) उपराष्ट्रपति (द) राष्ट्रपति ( )

(5) राज्य सभा के सदस्यों का कार्यकाल होता है

(अ) 5 वर्ष (ब) 6 वर्ष

(स) 4 वर्ष (द) अनिश्चित कार्यकाल ( )

(6) राजस्थान राज्य से कितने लोकसभा के सदस्य निर्वाचित होकर जाते हैं ?

(अ) 30 सदस्य (ब) 54 सदस्य

(स) 25 सदस्य (द) 15 सदस्य ( )

(7) राज्य सूची में दिये गये विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित करने का अधिकार जिसे है, वह है

(अ) लोकसभा (ब) राज्यसभा

(स) संसद के दोनों सदन

(द) संसद के दोनों सदन व राष्ट्रपति ( )

(8) 'कोई विधेयक धन विधेयक है अथवा नहीं इस विषय में अनिश्चितता होने पर अन्तिम निर्णय का अधिकार जिसे प्राप्त है, वह है

(अ) राष्ट्रपति (ब) राज्यसभा का सभापति

(स) लोकसभा अध्यक्ष (द) प्रधानमंत्री ( )

(9) राज्य सभा का सदस्य बनने हेतु न्यूनतम आयु सीमा है

(अ) 25 वर्ष (ब) 21 वर्ष

(स) 18 वर्ष (द) 30 वर्ष ( )

(10) संविधान के अनुच्छेद 79 के अनुसार संसद का निर्माण होता है

(अ) लोकसभा से (ब) राज्यसभा से (स) राष्ट्रपति से

(द) लोकसभा, राज्यसभा व राष्ट्रपति से ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

(1) राष्ट्रपति द्वारा राज्य सभा में कितने व्यक्तियों का मनोनयन किया जाता है?

(2) धन विधेयक सर्वप्रथम संसद के किस सदन में व किसके द्वारा प्रस्तावित किया जा सकता है ?

(3) उपराष्ट्रपति पर महाभियोग सर्वप्रथम संसद के किस सदन में लगाया जा सकता है ?

(4) लोकसभा में किस राज्य से सर्वाधिक सदस्य निर्वाचित होकर आते है एवं कितने आते है ?

(5) राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन किस निर्वाचन पद्धति से किया जाता है?

(6) राज्य सभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व किस आधार पर प्रदान किया गया है?

(7) संसद के दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन कौन बुलाता है एवं उसकी अध्यक्षता किसके द्वारा की जाती है ?

(8) लोकसभा और राज्य सभा का सदस्य बनने हेतु योग्यता की दृष्टि से एक प्रमुख अन्तर बताइये ?

(9) लोकसभा व राज्य सभा के कार्यकाल के आधार पर प्रमुख अन्तर बताइये ?

(10) देश की जनसंख्या में वृद्धि होते हुये भी लोकसभा की सदस्य संख्या में
आगामी कौन–सी जनगणना तक वृद्धि नहीं हो सकेगी ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

(1) लोकसभा की ऐसी दो शक्तियाँ बताइयें जिनके आधार पर वह राज्यसभा की
तुलना में अधिक शक्तिशाली मानी जाती है ?

(2) धन विधेयक और साधारण विधेयक तथा सरकारी व गैर सरकारी विधेयकों में क्या अन्तर है ?

(3) राज्य सभा की ऐसी दो शक्तियाँ बतलाइये जो लोकसभा को प्राप्त नहीं है?

(4) व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण किस प्रकार रखती है ?

(5) लोकसभा अध्यक्ष के प्रमुख पाँच कार्य बताइये ?

(6) राज्य सभा सदस्यों के निर्वाचन के सम्बन्ध में संक्षेप में विवेचन कीजिए ?

(7) संसद में धन विधेयक की प्रक्रिया के विषय में संक्षेप में बताइये ?

(8) आपातकाल की प्रक्रिया बताइये एवं भारत में अब तक कितनी बार व कब–कब आपातकाल लगा है ? बताइये।

(9) लोकसभा सदस्यों के निर्वाचन प्रणाली की व्याख्या कीजिये ?

(10) राज्यसभा के कार्य व अधिकार बताइये ?

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) राज्यसभा के संगठन और शक्तियों का वर्णन कीजिए ?

(2) लोकसभा के संगठन व शक्तियों का वर्णन कीजिए ?

(3) संघीय व्यवस्थापिका के दोनों सदनों की शक्तियों की तुलना कीजिए ?

(4) संसद द्वारा साधारण विधेयक पारित करने की प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए?

(5) संघीय व्यवस्थापिका (संसद) की शक्तियों और कार्यों की विवेचना कीजिए?

उत्तरमाला

1. (स) 2. (द) 3. (स) 4. (अ) 5. (ब)
6. (स) 7. (ब) 8. (स) 9. (द) 10. (द)

इकाई–VII

अध्याय–15

राज्य व्यवस्थापिका : संरचना एवं भूमिका

(STATE LEGISLATURE: STRUCTURE AND ROLE)

केन्द्र की भाँति प्रत्येक राज्य के लिए एक विधान मण्डल की व्यवस्था भारतीय संविधान में की गयी है। भारत में प्रत्येक राज्य के लिए एक विधान मण्डल होता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 168 में प्रावधान रखा गया है कि प्रत्येक राज्य में एक विधान मण्डल होगा जो राज्यपाल तथा कुछ राज्यों में दो सदनों से तथा कुछ में एक सदन से मिलकर बनेगा।

भारत में सभी राज्यों के विधानमण्डल एक जैसे नहीं है कुछ राज्यों में एक सदनीय विधान मण्डल हैं तो कुछ राज्यों में जैसे बिहार, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और जम्मूकश्मीर में द्वि–सदनीय विधान मण्डल हैं। जिन राज्यों में द्वि–सदनीय विधान मण्डल हैं वहाँ उसके उच्च सदन को विधान परिषद तथा निम्न सदन को विधान सभा कहते हैं एवं जिन राज्यों में एक सदनीय विधान मण्डल है वहाँ उसे विधान सभा कहा जाता है। एक सदनीय व्यवस्थापिका वाले राज्यों में विधानमण्डल के अन्तर्गत राज्यपाल व विधानसभा एवं द्वि–सदनीय व्यवस्थापिका वाले राज्यों में (i) राज्यपाल, (ii) विधानसभा (iii) विधान परिषद राज्य विधान मण्डल के अंग हैं।

विधानसभा (Legislative Assembly)

विधान सभा जनता का प्रतिनिधी सदन होता है जो विधान मण्डल का प्रथम और लोकप्रिय सदन होता है।

संरचना व संगठन

(Composition and Organisation)

संविधान के अनुच्छेद 170 के अनुसार किसी राज्य की विधानसभा में न्यूनतम 60 तथा अधिकतम 500 सदस्य हो सकते हैं किन्तु मिजोरम, अरूणाचल प्रदेश तथा गोआ राज्य की विधान सभाओं में केवल 40 और सिक्किम में केवल 32 सदस्य हैं । भौगोलिक आधार पर सभी निर्वाचन क्षेत्र इस आधार पर बनाये गये हैं कि जनसंख्या का अनुपात सभी निर्वाचन क्षेत्रों में लगभग समान रहे। सभी निर्वाचन क्षेत्र एकल सदस्यीय है।

42वें संविधान संशोधन द्वारा यह प्रावधान किया गया था कि राज्य की विधान सभाओं में स्थानों का आवंटन 1971 की जनगणना के आधार पर किया जाए और सन् 2001 तक यही रखने का निर्णय लिया गया था। इस व्यवस्था को पुनः 2001 ई. के बाद भी जारी रखने का निर्णय किया है। अनुच्छेद 332 के अनुसार प्रत्येक राज्य में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था उनकी जनसंख्या के आधार पर की गयी है जो कि 79वें संविधान संशोधन 1999 के अनुसार जनवरी 2010 तक के लिए बढ़ा दी गयी है। अनुच्छेद 333 के अनुसार आंग्ल भारतीय समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त न होने पर राज्यपाल उस समुदाय के एक सदस्य को विधानसभा में मनोनीत कर सकता है।

राजस्थान का विधान मण्डल एक सदनीय है। राजस्थान में विधान सभा की कुल सदस्य संख्या 200 है।

निर्वाचन पद्धति (Electroal System)

विधान सभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र एकल सदस्यीय है। विधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति एवं वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता हैं। 18 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक नागरिक को मताधिकार प्राप्त है। जाति, लिग, भाषा, धर्म, शिक्षा या सम्पत्ति के आधार पर नागरिकों में कोई भेदभाव नहीं किया जाता है।

विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं में सदस्यों की संख्या

राज्य का नाम	सदस्य संख्या
आन्ध्र प्रदेश	294
असम	126
राजस्थान	200
पंजाब	117
गुजरात	182
बिहार	243
झारखण्ड़	81
हरियाणा	90
हिमाचल प्रदेश	68
कर्नाटक	224
केरल	140

मध्य प्रदेश	230
छत्तीसगढ़	90
जम्मू – कश्मीर	76
महाराष्ट्र	288
मणिपुर	60
मेघालय	60
नागालैण्ड	60
उड़ीसा	147
तमिलनाडु	234
त्रिपुरा	60
उत्तर प्रदेश	404
उत्तराखण्ड	70
पश्चिम बंगाल	294
सिक्किम	32
मिजोरम	40
अरूणाचल प्रदेश	40
गोआ	40
संघराज्य क्षेत्र	
दिल्ली	70
पुंदुचेरी	30

जम्मु–कश्मीर के कुल स्थान 100 हैं परन्तु शेष स्थान राज्य के उन क्षेत्रों के लिए छोड़े गये है जो अभी पाकिस्तान के गैर कानूनी कब्जे में हैं।

सदस्यों की योग्यताएँ (Qualifications For the MLAs)

राज्य विधान सभा की सदस्यता के लिए निम्न योग्यताओं का होना अनिवार्य है।

(i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह कम से कम 25 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(iii) वह वे सभी योग्यताएँ रखता हो जो संसद द्वारा समय–समय पर विधि द्वारा निर्धारित की जावे।

(iv) वह भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर विधमान न हो।

(v) वह विकृत मस्तिष्क, पागल या दिवालिया न हो।

(vi) 1988 में जनप्रतिनिधित्व अधिनियम 1951, में संशोधन करते हुये यह व्यवस्था की गयी आतंकवादी गतिविधि, मिलावट करने वाला (खाद्य पदार्थ व दवाओं में) तस्करी, विदेशी मुद्रा नियमन अधिनियम एवं अपराधी व्यक्ति को इस अधिनियम के अनुसार चुनाव लड़ने के अयोग्य माना जावेगा।

स्थानों की रिक्तता या सदस्यता का अन्त (End of Vacant Seats or memberships)

(i) यदि कोई व्यक्ति राज्य विधान मण्डल के दोनों सदनों का सदस्य है तो एक सदन से त्याग पत्र देना पड़ता है।

(ii) यदि कोई व्यक्ति राज्य विधान सभा या संसद के किसी सदन का सदस्य है तो एक से त्याग पत्र देना पड़ता है।

(iii) विधान सभा का कोई सदस्य सदन की अनुमति के बिना विधान मण्डल की बैठकों में लगातार 60 दिन तक अनुपस्थित रहता है।

(iv) सदन का सदस्य बनने के बाद यदि उसमें कोई निर्धारित अयोग्यता पैदा हो जाती है।

(v) दल–बदल का दोषी सिद्ध होने पर भी सदस्यता समाप्ति का प्रावधान है।

कार्यकाल (Term)

(i) विधानसभा एक अस्थायी सदन है। राज्यपाल निश्चित समय से पूर्व विधान सभा को भंग कर सकता हे।

(ii) विधान सभा का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है।

(iii) आपातकाल की घोषणा के समय संसद विधि द्वारा विधान सभा का कार्यकाल बढ़ा सकती है। जो कि एक बार में एक वर्ष से ज्यादा का नहीं होता है। आपात काल समाप्त होने के पश्चात् इसका बढ़ा हुआ काल अधिक से अधिक 6 माह तक रह सकता हे।

अधिवेशन (Session)

विधान सभा का सत्र (अधिवेशन) राज्यपाल द्वारा आहूत किया जाता है, उसी के द्वारा विघटन व सत्रावसान किया जाता है। विधान सभा का अधिवेशन एक वर्ष में दो बार बुलाना अनिवार्य है और दोनों के मध्य अन्तराल 6 माह से अधिक का नहीं होना चाहिए। नवनिर्वाचित विधान सभा के प्रथम सत्र तथा प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र पर राज्यपाल राज्य की विधान सभा को सम्बोधित करता है।

विधानसभा के पदाधिकारी (Presiding Officers of the Vidhan Sabha)

विधान सभा के दो मुख्य पदाधिकारी होते हैं– (i) अध्यक्ष (Speaker) और (ii) उपाध्यक्ष (Deputy Speaker)

अध्यक्ष (Speaker)

इसका चुनाव विधान सभा के सदस्यों द्वारा अपने ही सदस्यों में से किया जाता है। इसके बाद विधान सभा सदस्य अपने में से एक उपाध्यक्ष का चुनाव भी करते हैं। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में या उसके पद रिक्त होने पर उपाध्यक्ष उसके कार्यों को करता है। दोनों का ही कार्यकाल 5 वर्ष अथवा विधान सभा के कार्यकाल तक होता है। त्याग पत्र द्वारा भी पद रिक्त हो जाता है। अध्यक्ष, उपाध्यक्ष को और उपाध्यक्ष अध्यक्ष को अपना त्याग पत्र सौंपता है। इन दोनों को विधान सभा के सदस्य अपने बहुमत से प्रस्ताव पारित कर पद से हटा भी सकते हैं परन्तु इस प्रकार के प्रस्ताव की सूचना प्रस्तुत करने के पहले जिसे हटाया जा रहा है, उसे सूचना देनी आवश्यक है।

अध्यक्ष के अधिकार तथा कार्य (Functions and Powers of Speaker)

विधान सभा के अध्यक्ष के कार्य तथा शक्तियाँ निम्न हैं

(i) वह विधान सभा की सभी बैठकों की अध्यक्षता करता है।

(ii) वह सदन में शांति, व्यवस्था व अनुशासन बनाये रखने का कार्य करता है।

(iii) वह सदन के नेता के परामर्श से विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में विचार विमर्श व वाद–विवाद का समय निश्चित करता है।

(iv) वह विधान सभा के सदस्यों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों को स्वीकार अथवा नियम विरूद्ध होने पर अस्वीकार करता है।

(v) विधानसभा अध्यक्ष द्वारा ही यह निर्णय किया जाता है कि कोई भी विधेयक धन विधेयक है अथवा नहीं।

(vi) विधानसभा अध्यक्ष ही विधान सभा सदस्यों को भाषण देने की अनुमति प्रदान करता है एवं भाषणों के क्रम का भी निर्धारण करता है।

(vii) विधानसभा व राज्यपाल के मध्य सम्पर्क एवं सम्पूर्ण पत्र व्यवहार उसी के द्वारा किया जाता है।

(viii) अध्यक्ष को सदन में मतदान करने का अधिकार नहीं है, परन्तु सदन में किसी प्रस्ताव में मत बराबर होने की स्थिति में वह निर्णायक मत दे सकता है।

(ix) वह सदन द्वारा पारित किये गये विधेयकों को प्रमाणित करता है।

(x) 52वें संविधान संशोधन अधिनियम के आधार पर अध्यक्ष दल बदल पर उठे किसी प्रश्न पर निर्णय प्रदान करता है।

(xi) वह सदन के विशेषाधिकारों का भी रक्षक होता है।

(xii) वह सदन के नियमों की व्याख्या करता है।

राज्य विधानसभा की शक्तियाँ व कार्य (Powers and Functions of State Legislative Assembly)

राज्य विधानसभा की शक्तियों को मुख्यतः निम्नांकित बिन्दुओं में अभिव्यक्त किया जा सकता है :–

(i) विधायी या व्यवस्थापिका सम्बन्धी शक्तियाँ (Legislative Powers) :–

राज्य विधान मण्डल राज्यहित के सभी विषयों पर विधि निर्माण करती है। वह राज्य सूची के वर्तमान में 61 विषयों पर व समवर्ती सूची के वर्तमान में 52 विषयों पर भी कानून निर्माण कर सकती है। समवर्ती सूची के विषयों पर संसद व राज्य विधानमण्डल दोनों को ही विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त है परन्तु समवर्ती सूची के किसी विषय पर संसद व राज्य विधान मण्डल दोनों द्वारा बनायी गयी विधि को लेकर विरोधाभास उत्पन्न हो जाये तो उस विषय पर संसद द्वारा निर्मित विधि ही मान्य होगी। यदि किसी राज्य में विधान मण्डल के दोनों (विधानपरिषद व विधानसभा) सदन है तो साधारण विधेयक दोनों सदनों में से पहले किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं, परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विधेयक विधानसभा में ही प्रस्तावित किये जाते हैं।

विधानसभा द्वारा पारित विधेयक विधान परिषद (यदि किसी राज्य में दूसरा सदन है तो) में जाता है। विधान परिषद एक परामर्शदात्री या सलाहकारी निकाय है। वह विधेयक पर सलाह या संशोधनों सहित सुझाव दे सकती है, उसे कुछ समय तक विलम्बित कर सकती है, परन्तु अन्तिम शक्ति राज्य विधान सभा के पास ही निहित होती है। राज्यपाल की स्वीकृति के पश्चात् विधेयक अधिनियम का रूप ग्रहण कर लेता है। विधान मण्डल की विधि–निर्माण सम्बन्धी शक्तियॉं असीमित नहीं है। संविधान द्वारा उन पर कुछ सीमाएँ व प्रतिबन्ध भी लगाये गये हैं।

राज्य विधानमण्डल की विधि निर्माण की शक्तियों पर संविधान द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध व सीमाएँ :–

संविधान द्वारा राज्य विधान मण्डल की विधि निर्माण की शक्तियों पर कुछ
सीमाएँ लगाई गई है, जैसे :–

(i) **आपातकाल की स्थिति में** : आपातकाल की घोषणा होने पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो जाता है। ऐसी

स्थिति में संसद राज्यसूची के विषयों पर विधि निर्माण करती है अर्थात् विधानमण्डल की विधि निर्माण की शक्ति संसद के पास चली जाती है।

(ii) **राज्यसभा द्वारा राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित करने पर** अनुच्छेद 249 के अनुसार यदि राज्य सभा राज्य सूची के किसी भी विषय को दो तिहाई बहुमत से राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित करने का प्रस्ताव पारित कर देती है उस स्थिति में राज्य सूची के उस विषय पर संसद द्वारा कानून निर्माण किया जाता है।

(iii) **कुछ विधेयकों पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति** : संविधान के अनुच्छेद 304 के अनुसार कुछ विधेयकों को विधान मण्डल में प्रस्तावित किये जाने से पूर्व उन पर राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक होता है। इनमें राज्यों के मध्य परस्पर व्यापार वाणिज्य एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि विषय सम्मिलित है।

(iv) **कुछ विधेयकों पर राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति** : विधानमण्डल मे कुछ विधेयकों को पेश करने से पूर्व राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक है।

(v) **विधानमण्डल द्वारा पारित करने के पश्चात् राष्ट्रपति की स्वीकृति** : विधानसभा द्वारा पारित कुछ विधेयकों, जैसे किसी निजी सम्पत्ति का राज्य द्वारा अधिग्रहण, नदी–घाटी योजनाओं के पानी व बिजली का संग्रहण और वितरण आदि पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक होता है।

(2) वित्तीय शक्ति (Financial Powers)

राज्यों में भी संसदीय व्यवस्था होने के कारण विधान मण्डल का, मुख्यतया राज्य के वित्त पर पूर्ण नियंत्रण होता है। विधानमण्डल की स्वीकृति के पश्चात् ही शासन द्वारा धन वसूलने व खर्च करने का कार्य किया जा सकता है। वित्तीय क्षेत्र में विधान सभा की शक्तियाँ, विधान परिषद् की तुलना में अधिक है। यदि राज्य में विधान मण्डल के दो सदन है तो धन विधेयक सर्वप्रथम विधान सभा में पेश किया जाता है, विधान परिषद् में नहीं। विधान सभा बजट में प्रस्तावित व्यय में कमी करने हेतु प्रस्ताव रख सकती है, परन्तु व्यय को बढ़ाने का प्रस्ताव नहीं रख सकती है। जब धन विधेयक विधान सभा द्वारा पारित कर दिया जाता है तो, उसे द्विसदनीय व्यवस्थापिका वाले राज्यों में, विधान परिषद् मे विचार हेतुं भेजा जाता है। विधान परिषद विधेयक की प्राप्ति की तिथि से 14 दिन के अन्दर विधेयक को अपने सुझावों सहित विधान सभा को वापस भेजना होता है। सुझावों व सिफारिशों को मानना या न मानना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर होता है। यदि विधान परिषद 14 दिन से अधिक धन विधेयक को अपने पास रोके रखती है तो स्वतः ही पारित मान लिया जाता है। इस प्रकार धन विधेयक पर अन्तिम निर्णय विधान सभा का ही होता है। कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं, इस का निर्णय भी विधानसभा अध्यक्ष द्वारा ही किया जाता है। अनुदान की माँगों पर मतदान भी केवल विधानसभा में ही होता है।

(3) मंत्रिपरिषद (कार्यपालिका) पर नियंत्रण (Power to Control the Executive):

संसदीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। भारत में भी राज्यों के अन्तर्गत केन्द्र की तरह संसदीय शासन के प्रारूप को अपनाया गया है। अतः राज्यों में मंत्रिपरिषद अर्थात् कार्यपालिका, विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है। राज्य विधान मण्डल अर्थात विधान सभा राज्य कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिपरिषद् पर निम्न प्रकार से नियंत्रण रखती है–

;(i) **प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछकर** : विधानमण्डल अर्थात् विधान सभा के सदस्य राज्य मंत्रिमण्डल के सदस्यों से उनके कार्यों व नीतियों के सम्बन्ध में प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछकर जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

(ii) **आलोचना व निंदा प्रस्ताव द्वारा** : विधान मण्डल के सदस्य मंत्रियों के कार्यों व नीतियों की आलोचना व निंदा कर सकते हैं।

(iii) **काम रोको प्रस्ताव व स्थगन प्रस्ताव द्वारा** : विधान मण्डल के सदस्य कामरोको प्रस्ताव या स्थगन प्रस्ताव लाकर मंत्रिमण्डल पर नियंत्रण बनाये रखते हैं।

(iv) **अविश्वास प्रस्ताव द्वारा** : विधान सभा अविश्वास प्रस्ताव पारित कर सकती है, जिसके परिणाम स्वरूप मंत्रिमण्डल को पद त्याग करना पड़ता है। अविश्वास प्रस्ताव पारित करने का अधिकार केवल विधान सभा को प्राप्त है, विधान परिषद् को नहीं।

(v) विधान मण्डल के सत्र के दौरान मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के द्वारा प्रशासन में किये जा रहे भ्रष्टाचार के मामलों को सदन में उजागर किया जा सकता है।

4. निर्वाचन सम्बन्धी शक्ति (Elective Power):

विधान सभा के सदस्यों को निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ प्राप्त है विधानसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव के लिए गठित निर्वाचक मण्डल के सदस्य होते हैं। वे संसद के निर्वाचित

सदस्यों के साथ राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।

राज्य विधानसभा के सदस्य राज्य में विधान परिषद् होने पर उसके एक तिहाई सदस्यों का निर्वाचन करते हैं। इसके अलावा वे अपनों में से ही एक अध्यक्ष व उपाध्यक्ष का निर्वाचन भी करते हैं एवं संघीय संसद के उच्च सदन (राज्यसभा) के लिए अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं।

5. संविधान संशोधन की शक्ति (Power to Amend the Consitution) :

संविधान संशोधन का कार्य संसद द्वारा किया जाता है परन्तु संविधान में कुछ ऐसे अनुच्छेद हैं जिन्हें संसद अकेले संशोधित नहीं कर सकती। इन अनुच्छेदों में संशोधन हेतु संसद द्वारा विशेष बहुमत के आधार पर संशोधन करने के पश्चात् कम से कम आधे राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा अनुसमर्थन किया जाना आवश्यक है। राज्य विधानमण्डलों को संविधान संशोधनों को प्रस्तावित करने का अधिकार नहीं है।

6. अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को पद से हटाने की शक्ति (Power of dismissing speaker and deputy speaker) :

राज्य विधान सभा अपने समस्त सदस्यों के बहुमत से प्रस्ताव पारित करके अपने अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को पदच्युत कर सकती है। लेकिन ऐसे प्रस्ताव को पेश करने से पूर्व अध्यक्ष या उपाध्यक्ष, जिसकों हटाने का प्रस्ताव पेश किया जाना है, उसे 14 दिन पूर्व सूचना देनी चाहिए।

विधान परिषद (Legislative Council) :

राज्य में विधान मण्डल के उच्च सदन (द्वितीय सदन) को विधान परिषद् कहा जाता है। किसी राज्य में विधान परिषद् की व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद, 169 के तहत की जा सकती है। इस अनुच्छेद के तहत संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी राज्य में विधान परिषद् का सृजन करने या समाप्त करने के लिए कानून बना सकती है। ऐसा कानून संसद तभी बना सकती है जब विधानसभा अपनी पूरी सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित व मतदान करने वाले सदस्यों की संख्या के दो–तिहाई बहुमत से विधानपरिषद् के सृजन या समाप्ति का प्रस्ताव पारित कर दे।

वर्तमान समय में भारत में पाँच राज्यों में विधान परिषद् की स्थापना की गयी है, जो कि बिहार, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र एवं जम्मु एवं कश्मीर हैं। मध्य– प्रदेश में विधान परिषद् की स्थापना की स्वीकृति हो गई थी परन्तु उसका निर्माण अभी तक नहीं हुआ है।

राज्य विधान परिषद का गठन एवं संरचना (Organisation and Composition of Vidhan Parishad) :

संविधान के अनुच्छेद 171(1) के अनुसार राज्य विधान परिषद के सदस्यों की संख्या विधान सभा की सदस्य संख्या के एक तिहाई से अधिक नहीं होगी किन्तु वह संख्या कम से कम 40 अवश्य होगी। जम्मू कश्मीर इसका अपवाद है क्योंकि वहाँ की विधान परिषद में सदस्यों की संख्या 36 हैं।

विधान परिषद के सदस्यों का चुनाव : विधान परिषद में दो प्रकार के सदस्य होते हैं– (i) निर्वाचित सदस्य (ii) मनोनीत सदस्य।

निर्वाचित सदस्य विधान परिषद की कुल सदस्य संख्या के 5/6 सदस्य होते हैं जबकि मनोनीत सदस्यों की संख्या कुल सदस्य संख्या के 1/6 भाग होती है।

विधान परिषद के सदस्यों का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एक संक्रमणीय मत पद्धति के अनुसार होता है। इसके सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के आधार पर किया जाता है। अर्थात् ये सदस्य जनता द्वारा न चुने जाकर एक निर्वाचक मण्डल के द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं।

संविधान के अनुच्छेद 171(3) के प्रावधानुसार विधान परिषद के निर्वाचक मण्डल के अन्तर्गत निम्न संस्थाओं व व्यक्तियों को सम्मलित किया जाता है।

(i) विधान परिषद् की कुल सदस्य संख्या के एक तिहाई सदस्य राज्य विधान सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से चुने जाते हैं जो कि विधान सभा के सदस्य नहीं हो।

(ii) राज्य विधान परिषद के एक तिहाई सदस्य उस राज्य की नगरपालिकाओं, जिला परिषदों तथा अन्य ऐसे स्थानीय प्राधिकारियों, जिन्हें संसद विधि द्वारा विनिर्दिष्ट करे, के सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक मण्डलों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं।

(iii) विधानपरिषद के कुल सदस्यों में से 1/12 सदस्य राज्य की माध्यमिक शिक्षण संस्थाओं तथा उससे उच्च स्तर की शिक्षण संस्थाओं में कम से कम 3 वर्ष के पुराने शिक्षकों के निर्वाचक मण्डल द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं।

(iv) विधानपरिषद् के कुल सदस्यों में से 1/12 सदस्य विश्वविद्यालय के कम से कम तीन वर्ष पुराने स्नातकों या उनके समान योग्यता रखने वाले उस राज्य के निवासियों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं।

(v) विधान परिषद् के कुल सदस्यों में से 1/6 सदस्य

राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। राज्यपाल विधान परिषद् में राज्य के उन व्यक्तियों को मनोनीत करता है जो साहित्य, विज्ञान, कला एवं समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान एवं व्यवहारिक अनुभव रखते है।

विधान परिषद की सदस्यता के लिए योग्यताः (Qualification of the Member of Vidhan Parishad)

विधान परिषद का सदस्य निर्वाचित होने के लिए व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है –

(i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह कम से कम तीस (30) वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका है।

(iii) वह संसद द्वारा निर्धारित की गयी योग्यता धारित करता हो।

(iv) लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के द्वारा राज्य विधान परिषद का सदस्य चुने जाने हेतु व्यक्ति को उस राज्य के किसी विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्र का निवासी होना चाहिए।

विधान परिषद् की सदस्यता सम्बन्धी अयोग्यता :

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 191 के अनुसार विधान परिषद की सदस्यता के लिए निम्नलिखित व्यक्ति अयोग्य होंगे–

(i) वह भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर विद्यमान हो।

(ii) वह व्यक्ति जो कि सक्षम न्यायालय द्वारा विकृत चित्त घोषित कर दिया गया हो।

(iii) जो भारत का नागरिक नहीं है अथवा किसी दूसरे देश की नागरिकता अर्जित कर ली हो।

(iv) जो दिवालिया घोषित है।

(v) संसद द्वारा निर्मित विधि के अधीन अयोग्य घोषित कर दिया गया हो।

विधान परिषद की अवधि (Terms) :

विधान परिषद् एक स्थायी सदन है क्योंकि इसे विधानसभा की तरह भंग नहीं किया जा सकता है। इसके प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल 6 वर्ष होता है। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति 2वर्ष बाद अपना स्थान रिक्त कर देते हैं एवं उनके स्थान पर नये सदस्य निर्वाचित होते रहते हैं। परिषद का कोई सदस्य सदन की बिना अनुमति के लगातार 60 दिन तक सदन से अनुपस्थित रहे तो उसकी सदस्यता समाप्त हो सकती है।

विधान परिषद् का अधिवेशन व गणपूर्ति (Session and quorum of Vidhan Parishad) :

विधान परिषद का अधिवेशन राज्यपाल आहूत करता है तथा वही उसका सत्रावसान करता है। अनुच्छेद 174(1) के अनुसार विधान परिषद के एक वर्ष में दो अधिवेशन बुलाना अनिवार्य है एवं दोनों में 6 माह से अधिक का अन्तराल नहीं होना चाहिए।

विधान परिषद की गणपूर्ति हेतु उसके सदस्यों में से कम से कम 10 प्रतिशत सदस्यों का सदन में उपस्थित होना अनिवार्य है, किन्तु यह संख्या 10 से कम नहीं होनी चाहिए।

विधान परिषद् के पदाधिकारी (Presiding Officers of the Vidhan Parishad):–

विधान परिषद के सदस्य अपने सदस्यों में से सदन के कार्य संचालन के लिए सभापति तथा उपसभापति का चुनाव करते हैं। सभापति व उपसभापति तब तक अपने पद पर बने रहते हैं, जब तक वे सदन के सदस्य रहते हैं। इससे पहले वे स्वयं त्याग पत्र दे सकते है। इसके अलावा सदन के बहुमत द्वारा पारित प्रस्ताव से उन्हें पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के प्रस्ताव पेश करने से पूर्व सम्बन्धित व्यक्ति को 14 दिन पूर्व सूचना देना आवश्यक होता है। सभापति सदन की बैठकों की अध्यक्षता एवं कार्यवाहियों का संचालन करता है, वह सदन में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखता है। उसे सदन में किसी विषय पर मत बराबर होने की स्थिति में निर्णायक मत देने का अधिकार भी प्राप्त होता है। इस तरह इनके कार्य व शक्तियॉ विधान सभा के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष के समान ही होती है।

विधान परिषद् के अधिकार तथा शक्तियाँ (Powers and Functions of Legislative Council) :

विधान परिषद के अधिकार व शक्तियों को निम्न बिन्दुओं में अभिव्यक्त किया जा सकता है–

(i) विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य (Legislative Functions):

विधान परिषद को विधानसभा की तरह राज्य सूची व समवर्ती सूची के विषयों पर कानून निर्माण करने का अधिकार है। अवित्तीय अर्थात साधारण विधेयक राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं। किन्तु कानूनी रूप लेने के लिए दोनों सदनों द्वारा पारित होना आवश्यक है।

विधान सभा द्वारा पारित विधेयक विधान परिषद में जाता है। विधान परिषद द्वारा पारित किये जाने पर राज्यपाल की स्वीकृति से विधेयक अधिनियम का रूप ग्रहण कर लेता है। विधान परिषद विधानसभा द्वारा पारित विधेयक को सुझावों व संशोधनों सहित लौटा दे या उसे तीन महीनों से अधिक समय तक अपने पास रोके रखे ऐसी स्थिति में विधेयक पुनः विधानसभा में जाता है। विधान सभा द्वारा पुनः विधेयक को पारित करने पर वह विधान परिषद के पास दूसरी बार आता है। इस बार भी यदि परिषद उसे पास नहीं करती है उसे संशोधनों सहित लौटा देती है या उसे एक माह तक रोके रखती है (किसी भी स्थिति में) वह विधेयक दोनों सदनो द्वारा पारित मानकर राज्यपाल की स्वीकृति हेतु भेज दिया जाता है। केन्द्र की तरह दोनों सदनों में साधारण विधेयक को लेकर गतिरोध होने पर दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान राज्य व्यवस्थापिका में नहीं है।

(2) वित्तीय शक्तियाँ (Financial Powers):

संघीय व्यवस्थापिका के उच्च सदन राज्य सभा की तरह राज्य विधान परिषद के पास भी वित्तीय क्षेत्र में नाममात्र की शक्तियाँ है। धन विधेयक सर्वप्रथम विधान सभा में पेश किया जाता है, विधान परिषद में नहीं। विधान सभा द्वारा पारित होने के पश्चात् ही धन विधेयक विधान परिषद में जाता है। इस विषय में विधान परिषद के पास प्रमुख विकल्प हैं :

(i) उसे स्वीकृति प्रदान कर दे। (ii) उसे सुझावों व संशोधनों सहित लौटा दे। (iii) विधेयक को 14 दिन तक अपने पास रोके रखे। स्वीकृत करने के पश्चात् विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति हेतु चला जाता है। परन्तु सुझावों व संशोधनों सहित लौटाने पर उन्हें मानना या न मानना विधान सभा की इच्छा पर निर्भर है और यदि वह इसे 14 दिन से अधिक रोके रखती है तो वह विधेयक स्वतः ही पारित मान लिया जाता है। इस तरह विधान परिषद को धन विधेयक को केवल मात्र 14 दिन विलम्बित करने का अधिकार व शक्ति प्राप्त है।

(3) कार्यपालिका पर नियंत्रण संबंधी शक्तियाँ (Executive Powers):

राज्य में कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिपरिषद निम्न सदन (विधान सभा) के प्रति ही उत्तरदायी होती है, विधान परिषद के प्रति नहीं। अतः विधान परिषद को मंत्रिमण्डल के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। इसके पश्चात् भी विधान परिषद मंत्रियों से उनके कार्यों व नीतियों के सम्बन्ध में प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछती है। उनके कार्यों एवं व्यवहार की आलोचना भी कर सकती है। कामरोको प्रस्ताव आदि के माध्यम से वह मंत्री मण्डल पर नियंत्रण बनाये रखती है।

विधानसभा व विधान परिषद् के मध्य परस्पर सम्बन्धों का तुलनात्मक विवेचन :

विधान सभा की तुलना में विधान परिषद एक गौण सदन हैं। इसकी शक्तियाँ अपेक्षाकृत कम हैं। राज्य विधानमण्डल के इन दोनों सदनों की शक्तियों का तुलनात्मक विवेचन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है–

(i) साधारण विधेयक के सम्बन्ध में (Relating Ordinary Legislature)

साधारण विधेयक राज्य विधान मण्डल के दोनों सदनों में से पहले किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं। कानूनी रूप ग्रहण करने हेतु दोनों सदनों द्वारा पारित किया जाना आवश्यक है परन्तु राज्य विधान सभा द्वारा पारित विधेयक को यदि (i) विधान परिषद अस्वीकृत कर दें (ii) विधान परिषद उन्हें संशोधनों व सुझावों सहित लौटा दें या (iii) विधान परिषद् 3 माह तक उस विधेयक को पारित न करके अपने पास रोके रखे। इस प्रकार की स्थिति में सुझावों व संशोधनों को स्वीकार करना या अस्वीकार करना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता हैं। परन्तु विधानसभा उस विधेयक को पुनः पारित करके विधान परिषद के पास भेजती है फिर भी विधान परिषद उसे अस्वीकृत कर दे या इस प्रकार के संशोधन व सुझाव प्रस्तुत करे जो कि विधान सभा को अस्वीकार्य हो या परिषद उसे एक माह तक बिना पारित किये हुये अपने पास रोके रखे तो विधेयक विधानसभा द्वारा पारित रूप में ही दोनों सदनों द्वारा पारित मानकर राज्यपाल की स्वीकृति हेतु भिजवा दिया जाता है। इस तरह विधान परिषद साधारण विधेयक को कुछ माह तक विलम्ब कर सकती है। अंतिम शक्ति विधानसभा में ही निहित है।

(2) धन विधेयक के सम्बन्ध में (Relating Financial Legistature):

धन विधेयक सर्वप्रथम विधान सभा में ही पेश किया जाता है, विधान परिषद में नहीं। यदि किसी विधेयक पर यह प्रश्न उत्पन्न हो जाय कि वह विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो इस विषय में निर्णय करने का अधिकार भी विधान सभा अध्यक्ष के पास होता हैं विधान सभा द्वारा पारित विधेयक को विधान परिषद को 14 दिन के अन्दर सुझावों या संशोधनों सहित लौटाना होता है। सुझावों को मानना या न मानना भी विधान सभा पर निर्भर करता है। और यदि 14 दिन के अन्दर विधान परिषद विधेयक को नहीं लौटाती है तो 14 दिन पश्चात् विधेयक स्वतः ही दोनों सदनों द्वारा पारित

मान लिया जाता है। अनुदान सम्बन्धी माँगों पर मतदान भी विधानसभा में ही होता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वित्तीय क्षेत्र में विधान सभा ही विधान परिषद की तुलना में अधिक शक्तिशाली है।

(3) कार्यपालिका पर नियंत्रण (Control over Executive) :

केन्द्र की तरह राज्यों में भी संसदीय शासन व्यवस्था के प्रारूप को अपनाया गया है, इस कारण कार्यपालिका (मंत्रीमण्डल) विधान सभा के प्रति ही उत्तरदायी होती है, विधान परिषद के प्रति नहीं। मंत्रीमण्डल के सदस्यों से दोनों ही सदनों के सदस्य उनके कार्यों व नीतियों के सम्बन्ध में प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछकर, आलोचना व निंदा द्वारा, कामरोकों व स्थगन प्रस्ताव द्वारा नियंत्रण बनाये रखते है। परन्तु अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से मंत्रीमण्डल को पद से हटाने का अधिकार केवल विधान सभा के पास ही है, विधान परिषद के पास नहीं।

(4) निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ (Elective Powers):

राष्ट्रपति के निर्वाचन हेतु निर्वाचक मण्डल के अन्तर्गत संसद के निर्वाचित सदस्यों के साथ–साथ राज्य विधान सभा के निर्वाचित सदस्य भी होते हैं, राज्य विधान परिषद के सदस्य नहीं। इसके अलावा संसद के उच्च सदन राज्य सभा के सदस्यों के निर्वाचन भी विधान सभा के सदस्यों द्वारा किया जाता हैं, विधान परिषद के सदस्य इसमें भाग नहीं लेते हैं।

इस प्रकार विधान सभा व विधान परिषद की शक्तियों के तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विधान सभा विधान परिषद की तुलना में अधिक शक्ति सम्पन्न है। राज्य विधान मण्डल में विधान परिषद का स्थान गौण है। विधान सभा जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित लोकप्रिय सदन हैं, इस कारण वह प्रमुख व अधिक शक्तिशाली सदन है।

विधायी प्रकिया (Legislative Process)

संघीय व्यवस्थापिका के समान राज्य व्यवस्थापिका का भी सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य कानून का निर्माण करना है। राज्य विधान मण्डल के तीनों अंग, यथा विधानसभा, विधान परिषद (द्वि–सदनीय विधान मण्डल वाले राज्यों में) तथा राज्यपाल की सहमति से कानून का निर्माण होता है। जब किसी प्रस्तावित कानून को विधान मण्डल द्वारा पारित किया जाता है, तब उसे विधेयक कहा जाता है। राज्यपाल की सहमति प्राप्त होने पर ही विधेयक को कानूनी शक्ति प्राप्त होती है। विधान मण्डल में प्रस्तुत किये जाने वाले विधेयक और उसके पारित करने की प्रक्रिया के अनुसार विधेयक को निम्नलिखित संवर्गो में विभाजित किया जा सकता है।

(i) साधारण विधेयक (Ordinary Bills) (ii) धन विधेयक (Money Bills)

साधारण विधेयक (Ordinary Bills) :

धन विधेयक के अलावा शेष सभी विधेयक साधारण विधेयक की श्रेणी में आते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं–

(i) सरकारी विधेयक, (ii) गैर सरकारी विधेयक।

(i) सरकारी विधेयक : यदि विधेयक मंत्रिपरिषद् के किसी सदस्य द्वारा प्रस्तावित किया जाता है तो उसे सरकारी विधेयक कहा जाता है।

(ii) गैर सरकारी विधेयक : जो विधेयक मंत्रिपरिषद के सदस्यों के अतिरिक्त विधान मण्डल के किसी सदस्य द्वारा पेश किया जाता है, उसे गैर सरकारी विधेयक कहते हैं।

धन विधेयक (Money Bills) :

धन विधेयक ऐसे विधेयक को कहा जाता है, जिसमें निम्नलिखित विषयों में से सभी या किसी के सम्बन्ध में प्रावधान हो।

(i) किसी कर का अधिरोपण, उत्पादन, परिवर्तन या विनियमन।

(ii) ऋण लेने, राज्य अनुग्रह प्रदान करने अथवा राज्य के किसी आर्थिक कर्त्तव्य से सम्बन्धित विधेयक।

(iii) राज्य की संचित निधि (Consolidated Fund) या आकस्मिक निधि से सम्बन्धित विधेयक।

साधारण विधेयक के सम्बन्ध में विधि निर्माण प्रक्रिया :

साधारण विधेयक के सम्बन्ध में राज्य विधान मण्डल में वही प्रक्रिया अपनायी जाती है जो कि केन्द्र में संसद के अन्तर्गत अपनायी जाती है, सिर्फ राष्ट्रपति के बदले राज्यपाल उसके द्वारा किये गये कार्यों को पूरा करता है, साधारण विधेयक राज्य विधान मण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। साधारण विधेयक को कानून का रूप ग्रहण करने हेतु निम्न चरणों में होकर गुजरना पड़ता है।

(i) विधेयक की प्रस्तुति अर्थात प्रथम वाचन (Presentation of Bill or First Reading) :

प्रथम वाचन में विधेयक पेश करने वाला मंत्री विधेयक पेश

करने के कारणों तथा विधेयक के उद्देश्य के सम्बन्ध में बताता है। सरकारी विधेयक के लिए कोई पूर्व सूचना देने की आवश्यकता नहीं है परन्तु निजी सदस्य द्वारा प्रस्तुत गैर सरकारी विधेयकों के लिए एक माह पूर्व सूचना देना आवश्यक है। मंत्री द्वारा विधान सभा अध्यक्ष या सभापति द्वारा नियत की गयी तिथि को विधेयक के पेश करने के कारण व उद्देश्यों के सम्बन्ध में बताया जाता है।

सामान्यतः सरकारी विधेयक पर प्रस्तुत करते समय कोई चर्चा नहीं होती है परन्तु विधेयक पेश करने के प्रस्ताव का इस आधार पर विरोध किया जा सकता है कि प्रस्तावित विधेयक विधान मण्डल की विधायी क्षमता से बाहर है। इसी दशा में उस पर विचार–विमर्श की अनुमति दी जा सकती है। आमतौर पर सरकारी विधेयक पेश करने के बाद सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

गैर सरकारी विधेयक को पेश करने हेतु एक माह पूर्व सूचना दी जाती है। सामान्यतः इस प्रकार के विधेयक पेश करने की अनुमति का विरोध नहीं किया जाता है लेकिन यदि विरोध किया जाता है तो अध्यक्ष प्रस्ताव पेश करने वाले व विरोध करने वाले सदस्य को संक्षिप्त वक्तव्य की अनुमति दे सकता है। यदि उस सदन में उपस्थित व मतदान में भाग लेने वाले बहुमत से विधेयक का समर्थन कर देते है तो विधेयक को सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है। यही विधेयक का प्रथम वाचन होता है।

(2) द्वितीय वाचन (Second Reading):

कार्यवाही सलाहकार समिति के द्वारा निर्धारित तिथि को विधेयक का द्वितीय वाचन होता है। इसमें विधेयक के गुण–दोषों पर सामान्य रूप से प्रकाश डाला जाता है। इसके सामान्य सिद्धांतों पर प्रकाश डाला जाता है। इसकी मुख्य धाराओं पर विस्तारपूर्वक वाद–विवाद नहीं होता है। विधेयक के सिद्धांतों को प्रायः स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है, उसके पश्चात् विधेयक को प्रवर समिति को सौंप दिया जाता है।

(3) समिति स्तर (Committee Level) :

विधेयक को विशेष रूप से गठित प्रवर समिति को सौप दिया जाता है, ताकि वह विधेयक की व्यापक जाँच कर अपना प्रतिवेदन दे। इस समिति में विधान मण्डल के 15 से 30 सदस्य शामिल होते है। समिति विधेयक के खण्ड–उपखण्ड पर सावधानीपूर्वक विचार करती है और यह जाँच करती है कि विधेयक से विद्यमान कानून का उल्लंधन न हो और उसमें प्रक्रिया सम्बन्धी कोई त्रुटि न रह जाये। इसके बाद समिति विधेयक के सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन देती है।

(4) प्रतिवेदन स्तर (Report Level):

प्रवर समिति विधेयक पर पूर्ण रूप से विचार करने के बाद अपनी रिपोर्ट विधान मण्डल (सदन) में प्रस्तुत करती है। सदन में उसकी प्रत्येक धारा पर वाद–विवाद होता हैं तथा उस पर मत प्राप्त किया जाता हैं। इस तरह विधेयक की प्रत्येक धारा पर वाद–विवाद व विचार विमर्श करके उसे स्वीकार किया जाता है।

(5) तृतीय वाचन (Third reading) :

इसके पश्चात् विधेयक का तृतीय वाचन होता है। इस स्थिति में विधेयक पर संक्षिप्त बहस होती है और प्रस्तावित करने वाला मंत्री यह प्रस्ताव करता है कि विधेयक को पारित किया जाये। संक्षिप्त तर्क–वितर्क के पश्चात् विधेयक को ध्वनि मत से पारित कर दिया जाता है या उस पर मतदान होता है । यदि विधेयक के पक्ष में मतदान होता हैं तो उसे पारित मान लिया जाता है।

दूसरे सदन में विधेयक को भेजा जाना (Transmission of bill to other house):

विधान सभा द्वारा पारित विधेयक एक सदनीय विधान मण्डल वाले राज्यों में राज्यपाल के पास भेज दिया जाता है परन्तु जिन राज्यों में द्वि–सदनीय विधान मण्डल है वहाँ पर एक सदन द्वारा पारित करने के पश्चात् विधयेक दूसरे सदन में भेजा जाता है । विधान परिषद को उस विधेयक के विषय में अधिकार है कि वह उसे पारित नहीं करे या अस्वीकृत कर दे, परिषद उसे तीन माह तक अपने पास रोके रख सकती है या उसे ऐसे सुझावों व संशोधनों सहित लौटा दे जो कि विधान सभा को स्वीकार्य नहीं हो। इन सभी स्थितियों में वह विधेयक पुनः विधान सभा के पास भेजा जायेगा। विधानसभा संशोधनों को मानकर या बिना माने ही उस विधयेक को पुनः पारित कर सकती है। विधान सभा द्वारा पुनः पारित विधयेक एक बार पुनः विधान परिषद में जाता है। परिषद उसे अस्वीकार करे या उसमें ऐसे संशोधन करे जो कि विधान सभा को अस्वीकार्य हो या विधान परिषद एक माह तक बिना पारित किये रखे रहे तो विधेयक विधान सभा द्वारा पारित रूप में ही पारित मान लिया जाता है। द्विसदनीय व्यवस्थापिका वाले राज्यों में केन्द्र की तरह साधारण विधेयक पर गतिरोध की स्थिति में दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान नहीं है।

राज्यपाल की स्वीकृति (Assent of Governor):

साधारण विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित करने के पश्चात् राज्यपाल की स्वीकृति हेतु भेजा जाता है। राज्यपाल की स्वीकृति के पश्चात् विधेयक कानूनी रूप ग्रहण कर लेता है।

राज्यपाल उस विधेयक को अस्वीकृत कर सकता है या उसे संशोधनों व सुझावों सहित पुनः लौटा सकता है। परन्तु विधेयक को विधान मण्डल द्वारा पुनः पारित करने के पश्चात् राज्यपाल को विधेयक पर अपनी स्वीकृति देनी होती है।

धन विधेयक (Money Bill) :

धन विधेयक के पारित होने की वहीं प्रक्रिया राज्य विधान मण्डल में अपनायी जाती है जो कि संसद में प्रचलित है। धन विधेयक सर्वप्रथम विधान सभा में ही पेश किये जाते हैं। विधानसभा में पारित होने के बाद उसे द्वि–सदनीय विधान मण्डल वाले राज्यों में विधान परिषद में भेजा जाता है और एक सदनीय व्यवस्थापिका वाले राज्यों में उसे राज्यपाल के पास भेजा जाता है। विधान परिषद के पास धन विधेयक के सम्बन्ध में तीन विकल्प होते हैं:

(i) उसे स्वीकृति प्रदान कर दे।

(ii) उसे संशोधनों सुझावों सहित लौटा दें।

(iii) 14 दिन तक विधेयक को पारित न करके अपने पास रोके रखे। प्रथम स्थिति में स्वीकृति के पश्चात् विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति हेतु भेज दिया जाता है। संशोधनों व सुझावों को मानना या न मानना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर है। 14 दिन पश्चात् विधेयक उसी रूप में पारित समझा जायेगा जिस रूप में विधान सभा ने इसे पारित किया था।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- विधानसभा एक लोकप्रिय जनप्रतिनिधि सदन है। विधानसभा में न्यूनतम 60 तथा अधिकतम 500 सदस्य हो सकते है।
- राजस्थान में विधानसभा की कुल संख्या 200 है। विधानसभा के निर्वाचन क्षेत्र एकल सदस्यीय है।
- सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति व वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है।
- राज्य विधानसभा के सदस्यों के लिये आवश्यक है कि वह भारत का नागरिक हो, वह कम से कम 25 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो, वह वे सभी योग्यताएँ रखता हो जो संसद समय समय पर विधि द्वारा निर्धारित करे। वह भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो। वह विकृत मस्तिष्क, पागल व दिवालिया न हो।
- विधानसभा एक अस्थायी सदन है जिसका कार्यकाल 5 वर्ष है।
- विधानसभा का अधिवेशन वर्ष में दो बार बुलाना अनिवार्य है और दोनों में 6 माह से अधिक का अन्तराल नहीं होना चाहिये।
- विधानसभा के दो मुख्य पदाधिकारी होते हैं (i) अध्यक्ष (ii) उपाध्यक्ष इन दोनों का निर्वाचन विधानसभा के सदस्यों में से किया जाता है। विधानसभा मुख्य रूप में विधायी, वित्तीय, मंत्रिपरिषद् पर नियंत्रण, निर्वाचन संबंधी संविधान में संशोधन, अध्यक्ष व उपाध्यक्ष को हटाने संबंधी कार्य करती है।
- राज्य में विधानमण्डल के उच्च सदन (द्वितीय सदन) को विधान परिषद कहा जाता है। वर्तमान में भारत में पाँच राज्यों में (बिहार, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और जम्मू–कश्मीर) विधान परिषद् है।
- विधानपरिषद का कार्यकाल 6 वर्ष होता है। इस परिषद् का अधिवेशन राज्यपाल बुलाता है। वर्ष में दो बार अधिवेशन बुलाना आवश्यक और प्रत्येक अधिवेशन की अवधि का अन्तराल 6 माह से अधिक नहीं होना चाहिये।
- विधानपरिषद अपने अधिकारों के तहत विधि निर्माण का कार्य, वित्तीय शक्तियाँ व कार्यपालिका पर निंयत्रण करती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

(1) राज्य में विधान मण्डल के उच्च सदन को कहा जाता है

(अ) राज्यसभा (ब) विधानसभा

(स) विधानपरिषद् (द) लोकसभा ( )

(2) कोई विधेयक धन विधेयक है अथवा नहीं इसका निर्णय निम्नांकित में से जो करता है, वह है

(अ) मुख्यमंत्री (ब) विधान परिषद का सभापति

(स) विधान सभा अध्यक्ष (द) राज्यपाल ( )

(3) संविधान के अनुच्छेद 170 के अनुसार किसी राज्य की विधान सभा में सदस्यों की न्यूनतम व अधिकतम संख्या हो सकती है, वह है

(अ) 60 – 500 (ब) 50 – 400

(स) 70 – 600 (द) 75 – 550 ( )

(4) विधान परिषद के सदस्य राज्य के राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जाते हैं

(अ) कुल सदस्यों का 1/3 भाग

(ब) कुल सदस्यों का 1/2 भाग

(स) कुल सदस्यों का 1/6 भाग

(द) कुल सदस्यों का 1/4 भाग ( )

(5) निम्न में से जिस राज्य में विधान परिषद नहीं है वह है,

(अ) हरियाणा (ब) उत्तरप्रदेश

(स) महाराष्ट्र (द) बिहार ( )

(6) किसी भारतीय नागरिक को विधान परिषद का सदस्य बनने के लिए कितनी न्यूनतम आयु पूर्ण करना आवश्यक है

(अ) 18 वर्ष (ब) 21 वर्ष

(स) 25 वर्ष (द) 30 वर्ष ( )

(7) भारत में वयस्क मताधिकार की आयु सीमा है

(अ) 21 वर्ष (ब) 18 वर्ष

(स) 25 वर्ष (द) 30 वर्ष ( )

(8) विधान सभा का सदस्य बनने हेतु किसी व्यक्ति की न्यूनतम आयु सीमा है

(अ) 30 वर्ष (ब) 25 वर्ष

(स) 21 वर्ष (द) 35 वर्ष ( )

(9) द्वि–सदनीय व्यवस्थापिका वाले राज्यों में मंत्रि मण्डल सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है

(अ) राज्यपाल के प्रति (ब) मुख्यमंत्री के प्रति

(स) विधानसभा के प्रति (द) विधान परिषद के प्रति ( )

(10) राष्ट्रपति के निर्वाचन में व्यवस्थापिका का जो अंग भाग नहीं लेता है, वह है

(अ) लोकसभा (ब) राज्यसभा

(स) विधानसभा (द) विधानपरिषद ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

(1) देश के सभी भागो में जनसंख्या की वृद्धि होते हुये भी विधानसभा की सदस्यसंख्या में कब तक वृद्धि नहीं की जायेगी?

(2) वर्तमान समय में भारत के किन–किन राज्यों में द्विसंदनात्मक व्यवस्थापिका है ?

(3) विधानसभा और विधान परिषद के कार्यकाल सम्बन्धी एक प्रमुख अन्तर बताइये ?

(4) विधान परिषद में स्थानीय निकायों द्वारा कितने सदस्यों का निर्वाचन किया जाता है ?

(5) द्विसदनीय व्यवस्थापिका वाले राज्यों में राज्य विधान मण्डल के प्रमुख अंग कौन–कौन से हैं ?

(6) राजस्थान राज्य की विधान सभा सदस्यों की कुल संख्या कितनी है ?

(7) राज्य विधानसभा का कोई सदस्य सदन की अनुमति के बिना कितने दिन से अधिक सदन में अनुपस्थित नहीं रह सकता है ?

(8) राज्य व्यवस्थापिका किन–किन सूचियों के विषयों पर कानून निर्माण कर सकती है ?

(9) राज्य में धन विधेयक किसकी पूर्व स्वीकृति से व पहले किस सदन में पेश किया जाता है ?

(10) विधान परिषद के सदस्यों की न्यूनतम व अधिकतम सदस्य संख्या कितनी है?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

(1) विधान परिषद के सदस्यों का निर्वाचन किस प्रकार किया जाता है ?

(2) विधानसभा व विधान परिषद के सदस्यों की योग्यता व कार्यकाल की भिन्नता के प्रमुख बिन्दु बताइये ?

(3) विधानसभा अध्यक्ष के 5 कार्य बताइये ?

(4) राज्य विधान मण्डल की विधि निर्माण सम्बन्धी शक्तियॉं असीमित नहीं है उन पर संविधान द्वारा कुछ प्रतिबन्ध व सीमाएँ लगायी गयी है। उन सीमाओं के विषय में संक्षेप में बताइये ?

(5) विधानसभा द्वारा राज्य मंत्रिपरिषद (कार्यपालिका) पर नियंत्रण किन–किन माध्यमों से रखा जाता है। संक्षेप में स्पष्ट कीजिए ?

(6) विधान परिषद का सदस्य बनने हेतु क्या–क्या योग्यताएँ होनी आवश्यक है?

(7) धन विधेयक किसे कहते है ? इसके अन्तर्गत कौन–कौन से विषय आते है?

(8) विधान परिषद् एक विलम्बकारी सदन है। इस कथन को स्पष्ट कीजिए ?

(9) साधारण विधेयक के संबध में विधि निर्माण प्रक्रिया बताइये?

(10) विधानसभा व विधान परिषद् के मध्य संबंधों का तुलनात्मक विवेचन किजिये?

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) राज्य विधान सभाओं का गठन किस प्रकार होता है ? उसकी शक्तियॉं एवं कार्य बताइये?

(2) विधान परिषद के गठन एवं उसकी शक्तियों व कार्यों की विवेचना कीजिए?

(3) राज्य विधान मण्डल के दोनों सदनों की शक्तियों की तुलनात्मक विवेचना कीजिए ?

(4) राज्य विधान मण्डल की शक्तियों व कार्यों का उल्लेख कीजिए ?

(5) राज्य व्यवस्थापिका में सार्वजनिक विधेयक पारित होने की प्रक्रिया बताइये?

उत्तरमाला

1. (स) 2. (स) 3. (अ) 4. (स) 5. (अ)

6. (द) 7. (ब) 8. (ब) 9. (स) 10. (द)

इकाई–VII

अध्याय–16

लोक प्रशासन पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण
(Legislative Control Over Public Administration)

संसदीय शासन व्यवस्था में संघीय व्यवस्थापिका (संसद) सैद्धांतिक रूप से संघ प्रशासन पर पूरा नियंत्रण रखती है। प्रशासन संविधान के अधीन एवं संसद द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार ही चलाया जाता है। संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत ही संसद द्वारा प्रशासन के उद्देश्यों को इंगित किया जाता है। संसदीय नियंत्रण के अभाव में प्रशासकीय क्रियाओं में उचित समन्वय पाना संभव नहीं है। नौकरशाही के विकृत रूप हो जाने पर सामान्य जनता को कठिनाईयों एवं परेशानियों का सामना करना पड़ता है। प्रशासन की असफलता, अनियमितता, अकार्यकुशलता एवं कमियों का आरोप अन्त में मंत्री अथवा मंत्रिपरिषद् के ऊपर ही आता है। अतः प्रशासन पर संसदीय नियंत्रण आवश्यक है। संसद द्वारा यह नियंत्रण मंत्रिपरिषद के माध्यम से रखा जाता है।

संघीय व्यवस्थापिका निम्नलिखित तरीको से प्रशासन पर नियंत्रण रखती है।

(i) प्रश्न पूछकर (By asking questions): संसद के प्रत्येक सदस्य को प्रशासन से संबंधित किसी भी विषय पर प्रश्न पूछने का अधिकार है। प्रश्नों की अग्रिम सूचना संसदीय सचिव को दी जाती है। स्पीकर नियमानुसार प्रश्नों को उत्तर देने के लिए स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। ये प्रश्न सरकार के प्रशासकीय दायित्वों से सम्बन्धित होते हैं। न्यायालयों में विचाराधीन मामलों पर प्रश्न नहीं पूछे जा सकते हैं।संसद में पूछे जाने वाले प्रश्नों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(अ) तारांकित प्रश्न (Starred Questions): ये वे प्रश्न है जिनका उत्तर प्रश्नोत्तर काल में मंत्री महोदय मौखिक रूप से देते हैं एवं इनके सम्बन्ध में मूल प्रश्नकर्त्ता व अन्य सदस्य पूरक प्रश्न भी कर सकते हैं।

(ब)अतारांकित प्रश्न (Un Starred Question) : इन प्रश्नों के उत्तर मौखिक रूप से सदन में नही दिये जाते हैं एवं पूरक प्रश्न भी नहीं पूछे जाते हैं। इनके उत्तर सदन की टेबिल पर रखवा दिये जाते हैं।

विपक्ष के सदस्य मुख्य रूप से प्रश्न पूछने के अधिकार के माध्यम से प्रशासन की कमियों को उजागर करते हैं एवं प्रशासन से सम्बन्धित सूचना प्राप्त करते हैं। इन प्रश्नों के माध्यम से प्रशासकीय अक्षमता एवं अकार्य कुशलता को सदन एवं जनसाधारण के सम्मुख लाने का प्रयास किया जाता है।

(2) काम रोको प्रस्ताव एवं स्थगन प्रस्ताव (Adjournment Motion): संसद के अधिवेशन के दौरान कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना घटित हो जावे, जिसकी ओर सरकार का ध्यान तत्काल ही आकर्षित किया जाना आवश्यक हो तो सदस्यों द्वारा कामरोको प्रस्ताव प्रस्तावित किया जा सकता है। इस प्रकार के प्रस्ताव सदन के निर्धारित कार्यक्रम को स्थगित करके उस महत्त्वपूर्ण घटना पर विचार विमर्श करने हेतु रखे जाते हैं। यदि सदन कामरोको प्रस्ताव की अनुमति दे देता है तो यह माना जाता है कि सदन का बहुमत उस समस्या को गंभीर मानता है। आम तौर पर कामरोको प्रस्ताव सफल नहीं होते हैं, फिर भी सरकार तथा जनसाधारण का ध्यान आकर्षित करने का यह एक माध्यम है।

(3)राष्ट्रपति के भाषण पर वाद–विवाद (Debate on Inagural Speech of the President): लोकसभा के चुनाव के बाद जब सदन की पहली बैठक होती है, उस समय राष्ट्रपति लोकसभा में अपना अभिभाषण करता है। संसदात्मक शासन व्यवस्था में इस प्रकार के अभिभाषण मंत्रिमण्डल द्वारा तैयार किया जाता है जिसमें सरकार की नीतियों एवं क्रियाकलापो के विषय में प्रकाश डाला जाता है। राष्ट्रपति के अभिभाषण में वर्णित मुद्दों पर वाद विवाद किया जाता है। सरकार की नीतियों के पक्ष व विपक्ष में तर्क–वितर्क किये जाते हैं। इन सबकी रिपोर्ट समाचार पत्रों में प्रकाशित होती है, जिससे जनमत प्रभावित होता है।

(4)बजट पर वाद–विवाद (Debate on Budget): संसद में बजट पारित करने हेतु पृथक से सत्र बुलाया जाता है। बजट प्रस्तुतीकरण के पश्चात् बजट पर सामान्य वाद–विवाद मंत्रालय विशेष की माँगों पर वाद–विवाद एवं फाइनेंस बिल आदि पर वाद–विवाद किया जाता है। मंत्रालय विशेष की माँगों पर वाद–विवाद के समय मंत्रालय की प्रशासकीय एवं वित्तीय नीतियों एवं उनके क्रियान्वयन की आलोचना की जा

सकती है। फाईनेंस बिल पर बहस के समय सदस्य सामान्य रूप से प्रशासन सें संबंधित किसी भी मुद्दे को वाद–विवाद के लिए उठा सकते हैं अर्थात् सरकार के किसी भी नीति अथवा प्रशासकीय आदेश की विवेचना की जा सकती है।

(5) वित्तीय नियंत्रण (Financial Control) : सदन विभागों पर वित्तीय नियंत्रण स्थापित करने के लिए निम्न समितियों के माध्यम से कार्य करता है

(अ) लोकसभा की प्राक्कलन समिति (Estimate Committee): इस समिति को "स्थायी मितव्ययता समिति" भी कहा जाता है क्योंकि यह सरकारी अपव्यय को रोकने की सिफारिश करती है। इस समिति के सदस्य एकल संक्रमणीय मतदान पद्धति से एक वर्ष के कार्यकाल के लिए निर्वाचित किये जाते हैं। समिति के प्रमुख कार्य हैं:–

(i) संगठन में सुधार, प्रशासन में सुधार एवं खर्च कम करने हेतु सुझाव देना।

(ii) अनुमान प्रस्तुत करने के लिये प्रपत्र का सुझाव।

(iii) निर्धारित नीतियों हेतु धनराशि उपलब्ध कराने का सुझाव।

(iv) प्रशासन में कुशलता एवं मितव्ययिता लाने हेतु वैकल्पिक नीतियों के विषय में सुझाव देना।

(ब) सरकारी उपक्रमों सम्बन्धी समिति (Committee on Public Under Takings) : इस समिति में लोकसभा व राज्यसभा दोनों के सदस्य होते हैं। इसके प्रमुख कार्य हैं –

(i) सरकारी उपक्रमों के प्रतिवेदनों और लेखाओं की और उन पर नियंत्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदनों की जाँच करना।

(ii) सदन या सदन के अध्यक्ष द्वारा निर्दिष्ट किये गये विषयों की जाँच करना।

(स) लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee) : इस समिति में भी संसद के दोनों सदनों के सदस्य होते हैं। इसके प्रमुख कार्य हैं।

(i) भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक द्वारा दी गयी लेखा परीक्षण सम्बन्धी प्रतिवेदनों की जाँच करना।

(ii) भारत सरकार के व्यय के लिए निर्धारित राशि के लेखाओं की जाँच करना अर्थात संसद द्वारा प्राधिकृत रूप और निर्धारित प्रयोजन के लिए ही व्यय किया है या नहीं इस बात की जाँच करती है।

(iii) सदन द्वारा आवंटित धन राशि के अतिरिक्त व्यय करने पर उसकी औचित्यता के विषय में जाँच कार्य करती है।

(iv) वित्तीय मामलो में अपव्यय भ्रष्टाचार एवं कार्यचालन में कमी सम्बन्धी किसी प्रमाण की भी खोज करती है।

(v) खर्च उन्हीं अधिकारियों द्वारा किया गया है, जिन्हें इनके लिये अधिकृत किया गया है। इसकी जाँच करती है।

(6) जन महत्व के आवश्यक मामलों की ओर ध्यान आकर्षित करना (Calling Attention Notice) अध्यक्ष की पूर्व अनुमति से कोई भी सदस्य मंत्री महोदय से जन महत्त्व के आवश्यक विषय पर बयान देने हेतु आग्रह कर सकता है। सामान्यतः ऐसे विषय घटना के दिन या घटना की जानकारी के समय उठाये जाते हैं। मंत्री महोदय के बयान के बाद सदस्य उनसे प्रश्न भी पूछ सकते हैं।

(7) आधे घण्टे की चर्चा (Half an Hours Discussion): जिन प्रश्नों का उत्तर सदन में दे दिया गया हो उन प्रश्नों से उत्पन्न होने वाले मामलों पर चर्चा लोकसभा में सप्ताह में निर्धारित तीन दिन, बैठक के अन्तिम आधे घण्टे में की जा सकती है। ये विषय पर्याप्त लोक महत्त्व के होने चाहिए एवं इसकी सूचना कम से कम तीन दिन पूर्व दी जानी चाहिए। इस प्रकार के विषयों पर मतदान नहीं होता है। नोटिस देने वाला सदस्य संक्षेप में विषय चर्चा करता है एवं मंत्री संक्षेप में ही इन विषयों का उत्तर दे देते हैं अध्यक्ष की अनुमति से सदस्य गण स्पष्टीकरण हेतु प्रश्न पूछ सकते हैं।

(8) अविश्वास प्रस्ताव (No Confidence Motion): मंत्रिमण्डल के विरूद्ध सदन में अविश्वास का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सकता है। अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत करने हेतु सदन की अनुमति ली जाती है। सदन की अनुमति प्राप्त होने की तिथि से दस दिन के अन्दर अविश्वास प्रस्ताव पर वाद–विवाद होता है। सदस्यों के भाषण के पश्चात् प्रधानमंत्री अपनी सरकार पर लगाये गये आरोपों का उत्तर देता है एवं अविश्वास प्रस्ताव लाने वाले सदस्य को जवाब देने का अवसर भी प्रदान किया जाता है। इस प्रकार के प्रस्ताव के समय अध्यक्ष द्वारा सभी दलों को बोलने हेतु समय निर्धारित किया जाता है। वाद विवाद की समाप्ति के पश्चात इस प्रकार के प्रस्तावों पर सदन में मतदान द्वारा निर्णय लिया जाता है। यदि अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाता है तो मंत्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ता है।

व्यवस्थापिका के नियंत्रण की सीमाएँ (Limitations of Legislative Control):

यद्यपि व्यवस्थापिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण के विभिन्न तरीके निर्धारित किये गये हैं लेकिन इस नियंत्रण की कुछ सीमाएं होती है जिनके कारण व्यवस्थापिका का प्रशासन पर नियंत्रण दिन प्रतिदिन कम प्रभावी होता जा रहा है। इसके प्रमुख कारण हैं :

(i) संसदीय शासन में कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका में किया जाना : संसदीय शासन में कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका में से ही किया जाता है। प्रधानमंत्री व अन्य मंत्री बहुमत दल के सदस्य होते हैं। तथा ये प्रमुख विभागों के प्रधान होते हैं। इन्हीं के नेतृत्व में प्रशासनिक नीतियों का निर्माण एवं क्रियान्वयन होता है। सदन में इनका बहुमत होता है। अतः व्यवस्थापिका प्रशासन पर प्रभावी नियंत्रण नहीं रख पाती है।

(ii) अविश्वास प्रस्ताव के कारण पुनः निर्वाचन का भय : संसदीय शासन में अविश्वास प्रस्ताव लाया जा सकता है। अतः मंत्रिमण्डल के सदस्यों को भय बना रहता है। कि इस प्रकार का प्रस्ताव पारित होने पर उन्हें त्याग पत्र देना पड़ेगा और लोकसभा भंग होने पर पुनः निर्वाचन होंगे। अतः सदन के सदस्य कार्य काल से पहले निर्वाचन नहीं चाहते हैं और अनिच्छा होते हुए भी सरकार के निर्देशानुसार सदन में मतदान करते हैं।

(iii) कठोर दलीय नियंत्रण : संसदीय शासन में व्यवस्थापिका के सदस्यों पर कठोर दलीय नियंत्रण होता है। अतः सदस्यगण दलीय निष्कासन के भय से दल के निर्देशानुसार मतदान करते हैं।

(iv) व्यवस्थापिका के सदस्यों का लाभ प्राप्ति हेतु सरकार का समर्थन : व्यवस्थापिका के सदस्य प्रधानमंत्री व मंत्रिमण्डल का समर्थन करके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनेक प्रकार के लाभ उठाते हैं। अतः लाभ प्राप्ति हेतु अनेक सदस्य सरकार का समर्थन करते हैं।

(v) संसद के पास पर्याप्त समय का अभाव : व्यवस्थापिका का अधिकांश समय सरकार द्वारा निर्धारित कार्यक्रमों पर विचार–विमर्श में ही व्यतीत हो जाता है। इस कारण सदस्यो को व्यक्तिगत विचार–विमर्श का अवसर बहुत कम मिल पाता है।

(vi) दक्ष कर्मचारियों का अभाव : संसद सदस्य विशेषज्ञ न होने के कारण प्रशासन सम्बन्धी जानकारी गहराई से नहीं रखते है न ही प्रशानिक जटिलताओं को विस्तृत रूप में सरलता पूर्वक समझ पाते हैं। इस कारण अनेक बार प्रशासन की रचनात्मक आलोचना नहीं कर पाते हैं। निराधार व अनावश्यक आलोचना के भय से प्रशासक स्वतंत्रता पूर्वक एवं निष्पक्ष कार्य करने से भयभीत रहता है।

उपर्युक्त सभी कारणों के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रशासन पर विधायी नियंत्रण कम प्रभावी होता जा रहा है। प्रशासन को प्रभावशाली नियंत्रण में रखने के लिए संसद के पास न तो पर्याप्त समय रहता है और न ही दक्ष कर्मचारी। दलीय नियंत्रण भी सरकार को संसदीय नियंत्रण से बचाये रखता है। इन सभी बातों के होते हुये भी भारतीय संसद प्रशासन पर नियंत्रण रखने का कार्य एक सीमा तक सफलतापूर्वक कर रही है। संसदीय नियंत्रण को गरिमा पूर्ण बनाये रखने हेतु भारत में ब्रिटेन की तरह इस प्रकार की परम्परायें विकसित करने की आवश्यकता है जिसके आधार पर लोक प्रशासकों के अकार्यकुशल, पक्षपात पूर्ण आचरण एवं भ्रष्टाचार व गलत निर्णयों को नियंत्रित किया जा सके। संसद सदस्यों का यह दायित्व होता है कि वह लोक प्रशासकों व कर्मचारियों का अधिकारों के दुरूपयोग, निरंकुश व्यवहार व लोकहित विरोधी कार्यों पर नियंत्रण लगावें और इनकी निराधार व अनावश्यक आलोचना नहीं करे। निराधार व अनावश्यक आलोचना के भय से प्रशासन अपना कार्य करना बन्द कर देता है इस कारण प्रशासन की प्रगति में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इन सभी बातों के होते हुये भी प्रशासकीय क्रियाओं में उचित समन्वय बनाये रखने हेतु संसदीय नियंत्रण अपरिहार्य हैं। इस नियंत्रण के माध्यम से ही नौकरशाही को विकृत होने से बचाया जा सकता है एवं सामान्य जनता की परेशानियों एवं कठिनाइयों को कम किया जा सकता है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- संसदीय शासन व्यवस्था में संघीय व्यवस्थापिका सैद्धांतिक रूप से प्रशासन पर पूरा नियंत्रण रखती है। मंत्रिपरिषद संसद की समिति के रूप में काम करती है एवं लोकसभा के विश्वास पर्यन्त अपने पद पर बनी रहती है।
- संघीय व्यवस्थापिका निम्नलिखित तरीकों से प्रशासन पर नियंत्रण बनाये रखती है

  (i) प्रश्न पूछकर

  (ii) कामरोको प्रस्ताव एवं स्थगन प्रस्ताव द्वारा

  (iii) राष्ट्रपति के भाषण पर वाद–विवाद

  (iv) बजट पर वाद–विवाद

  (v) वित्तीय नियंत्रण – यह निम्न समितियों के माध्यम से रखती है–(a) लोकसभा की प्राक्कलन समिति (b) सरकारी उपक्रमों सम्बन्धी समिति (c) लोकलेखा समिति

(vi) जन महत्त्व के आवश्यक मामलों की ओर ध्यान आकर्षित करना।

(vii) आधे घन्टे की चर्चा

(viii) अविश्वास प्रस्ताव।

- व्यवस्थापिका का प्रशासन पर नियंत्रण कम प्रभावी होने के कारण : संसदीय व्यवस्था में प्रशासन पर नियंत्रण दिन–प्रतिदिन कम प्रभावी होता जा रहा है जिसके प्रमुख कारण हैं– संसदीय शासन में कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका में से होना, अविश्वास प्रस्ताव के कारण पुनः निर्वाचन का भय, कठोर दलीय नियंत्रण, व्यवस्थापिका के सदस्यों का काम प्राप्ति हेतु सरकार का समर्थन,संसद के पास पर्याप्त समय का अभाव, और दक्ष कर्मचारी न होना।
- उपर्युक्त कारणों से प्रशासन पर विधायी नियंत्रण कम प्रभावी होता जा रहा है। संसदीय नियंत्रण को प्रभावी बनाये रखने हेतु ब्रिटेन की तरह कुछ परम्पराऐं विकसित करना अनिवार्य है।
- संसद सदस्यों का यह दायित्व है कि प्रशासन लोकहित विरोधी कार्यों पर नियंत्रण लगायें एवं प्रशासन की निराधार व अनावश्यक आलोचना न करें।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

(1) मंत्रिपरिषद अपने पद पर बनी रहती है

(अ) संसद के विश्वास पर्यन्त

(ब) लोकसभा के विश्वास पर्यन्त

(स) राज्य सभा के विश्वास पर्यन्त

(द) राष्ट्रपति के विश्वास पर्यन्त ( )

(2) लोकसभा में राष्ट्रपति द्वारा दिया जाने वाला प्रथम अभिभाषण तैयार किया जाता है

(अ) संसद सदस्यों द्वारा (ब) राष्ट्रपति द्वारा

(स) लोकसभा द्वारा (द) मंत्रिपरिषद द्वारा ( )

(3) व्यवस्थापिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण रखा जाता है

(अ) प्रश्न पूछकर (ब) अविश्वास प्रस्ताव द्वारा

(स) वित्तीय नियंत्रण द्वारा (द) उपरोक्त सभी ( )

(4) संसदीय शासन में कार्यपालिका का निर्माण किया जाता है

(अ) व्यवस्थापिका में से (ब) राष्ट्रपति द्वारा

(स) स्वतंत्र निर्वाचन द्वारा (द) निर्वाचक मण्डल द्वारा( )

(5) काम रोको प्रस्ताव एवं स्थगन प्रस्ताव कब लगाया जाता है–

(अ) चुनाव से पहले (ब) चुनाव के बाद

(स) संसद अधिवेशन के दौरान

(द) संसद सत्र के बाद ( )

(6) राष्ट्रपति का अभिभाषण कौन तैयार करता है –

(अ) स्वयं राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति

(स) मुख्य सचिव (द) मंत्रिमण्डल ( )

(7) अविश्वास प्रस्ताव किसके खिलाफ लाया जाता है –

(अ) मंत्रिमण्डल (ब) राष्ट्रपति

(स) उपराष्ट्रपति (द) लोक सभा अध्यक्ष ( )

(8) वित्तिय नियंत्रण करने वाली समिति है –

(अ) लोक लेखा समिति

(ब) लोक प्राक्कलन समिति

(स) सरकारी सेवा उपक्रम संबधी समिति

(द) उपर्युक्त सभी ( )

(9) व्यवस्थापिका में कौन कौन होते हैं –

(अ) राज्यसभा सदस्य (ब) लोकसभा सदस्य

(स) दोनों के सदस्य (द) दोनों ही नहीं ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

(1) संसद में पूछे जाने वाले प्रश्नों को किन दो भागों में विभक्त किया गया है?

(2) संसद में पूछे गये प्रश्न जिनका उत्तर प्रश्नोत्तर काल में मंत्री महोदय द्वारा मौखिक रूप से दिया जाता है उन्हें किस नाम से जाना जाता है ?

(3) संसद के अधिवेशन के दौरान कोई ऐसी महत्त्व पूर्ण घटना घटित हो जावे जिसकी ओर सरकार का ध्यान तत्काल ही आकर्षित किया जाना आवश्यक हो तो सदस्य संसद में कौनसा प्रस्ताव पेश करते हैं ?

(4) बजट पर वाद–विवाद के समय मंत्रालय विशेष की माँगों पर बहस के समय संसद सदस्य मंत्रालय की किस बात की आलोचना करते है ?

(5) लोकसभा की प्राक्कलन समिति को किस दूसरे नाम से जाना जाता है ?

(6) सरकारी उपक्रमों के प्रतिवेदनो और लेखाओं की जाँच संसद की किस समिति के द्वारा की जाती है ?

(7) मंत्रिमण्डल के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव संसद के किस सदन द्वारा नहीं लाया जा सकता है ?

(8) अविश्वास प्रस्ताव क्या है ?

(9) बजट पर वाद विवाद के द्वारा लोक प्रशासन पर कैसे नियन्त्रण रखा जाता है ?

(10) राष्ट्रपति के अभिभाषण पर टिप्पणी लिखिये ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

(1) व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने के दो तरीके बताइये?

(2) लोकसभा की प्राक्कलन समिति के विषय में संक्षेप में बताइये?

(3) लोकलेखा समिति के प्रमुख कार्य बताइये?

(4) संसद में पूछे जाने वाले प्रश्नों के विषय में संक्षेप मे बताइये?

(5) व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर रखा जाने वाला नियंत्रण क्यों कम प्रभावी होता जा रहा है कोई दो कारण बताइये ?

(6) सरकारी उपक्रमों संबधी समिति के कार्यों का वर्णन करो?

(7) संसद में आधे घण्टे की चर्चा लोक प्रशासन पर कैसे नियन्त्रण रखने में सहायक है ?

(8) बजट पर वाद विवाद के बारे में टिप्पणी लिखिये ?

(9) प्रश्न पूछकर लोक प्रशासन पर कैसे नियन्त्रण रखा जाता है ?

(10) जन महत्त्व के आवश्यक मामलों की ओर व्यवस्थापिका का ध्यान कैसे आकर्षित करते हैं ?

निबंधात्मक प्रश्न

(1) संघीय व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण किन–किन माध्यमों से रखा जाता है। स्पष्ट कीजिए ?

(2) व्यवस्थापिका का प्रशासन पर नियंत्रण कम प्रभावी होता जा रहा है। इसके प्रमुख कारण बताइये?

(3) लोक प्रशासन पर वित्तिय नियंत्रण का वर्णन करो ?

(4) व्यवस्थापिका की सीमाओं की आलोचनात्मक विवेचना किजिये ?

(5) संसदीय शासन व्यवस्था में संघीय व्यवस्थापिका (संसद) सैद्धान्तिक रूप से संघ पर नियंत्रण रखती है। वास्तविक रूप में नहीं। इसे समझाइये।

उत्तरमाला

1. (ब) 2. (द) 3. (द) 4. (अ) 5. (स) 6. (द) 7. (अ) 8. (द) 9. (स)

इकाई–VIII

अध्याय–17

उच्चतम न्यायालय

(Supreme Court)

न्यायपालिका का महत्त्व प्राचीन समय से ही रहा है। अरस्तु के समय से ही न्यायपालिका को सरकारी तंत्र का आधारभूत अंग माना जाता है। रामायण एवं महाभारत काल में भी न्यायपालिका द्वारा कानून का उल्लंघन करने वाले एवं अपराध करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने का कार्य किया जाता था। रामायण एवं महाभारत काल में राजा ही न्याय का प्रमुख स्रोत हुआ करता था और न्यायपालिका की समस्त शक्तियाँ राजा में ही निहित होती थी।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी न्याय की स्थापना के लिए न्यायपालिका की आवश्यकता पर बल दिया गया था। कौटिल्य ने न्यायपालिका के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि प्रजा सोती है और दण्ड जागता है अर्थात् न्याय की स्थापना के लिए राजा दण्ड का प्रयोग करता था।

वर्तमान समय में जब राजतंत्र समाप्त हो गया और विश्व में लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही न्यायपालिका के स्वरूप में भी परिवर्तन आया।

न्यायपालिका के अर्थ को स्पष्ट किया जाये तो साधारण अर्थ में कानून की व्याख्या करने व उनका उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की संस्थागत व्यवस्था को न्यायपालिका कहा जाता है। लास्की ने न्यायपालिका की परिभाषा करते हुए लिखा है कि ''एक राज्य की न्यायपालिका अधिकारियों के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित की जा सकती है, जिसका कार्य राज्य के किसी कानून विशेष के उल्लंघन या तोड़ने सम्बन्धी शिकायत का समाधान या फैसला करती है।

हैमिल्टन के अनुसार ''न्यायिक प्रक्रिया न्यायाधीशों के द्वारा मुकदमों का निर्णय करने की मानसिक प्रविधि को कहा जाता है।''

न्यायपालिका के कार्य

(Functions of the Judiciary)

न्यायपालिका का प्रमुख कार्य संविधान की रक्षा करना तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करना तथा अपराध करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना है। न्यायपालिका के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :–

(1) संविधान की सुरक्षा करना

(To safeguard the constitution)

न्यायपालिका का प्रमुख कार्य संविधान की रक्षा करना है उसका प्रमुख कार्य यह देखना है कि शासन संविधान के अनुसार चल रहा है कि नहीं यदि शासन संविधान के अनुसार नहीं चल रहा है तो संविधान का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति या संस्थाओं को दण्डित करती है और यह प्रयास करती है कि शासन संविधान के अनुसार चले।

(2) प्रशासकीय निर्णयों का पुनरावलोकन

(Review of the Administrative Decisions)

न्यायपालिका का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये उन कानूनों को अवैध घोषित करना, जो संविधान के अनुकूल नहीं हैं। न्यायपालिका अपनी न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के माध्यम से उन कानूनों को अवैध घोषित कर देती है जो संविधान से मेल नहीं खाते।

(3) कार्यपालिका को कानूनी सलाह देना

(To give legal advice to the Executive)

कार्यपालिका यदि किसी कानूनी प्रश्न पर स्वयं निर्णय नहीं ले पाये तो ऐसी स्थिति में वह न्यायपालिका से कानूनी सलाह माँग सकती है। भारत में कार्यपालिका ने राम जन्म भूमि और बाबरी मस्जिद सम्बन्धी विषय पर कानूनी सलाह माँगी थी।

(4) प्रक्रियात्मक नियम निर्माण

(Formation of Procedural Laws)

न्यायपालिका का यह कार्य भी है कि वह अपनी कार्यप्रणाली के संचालन के नियम स्वयं बनाती है और सम्पूर्ण न्यायपालिका शीर्ष से लेकर नीचे तक उसी प्रक्रियात्मक नियम के अन्तर्गत कार्य करते हैं।

(5) न्यायालय के आन्तरिक प्रशासन की व्यवस्था करना (Menagement of the Internal Administration of the Court of Law)

न्यायपालिका अपने प्रशासन को चलाने के लिए

कर्मचारियों की नियुक्ति और भर्ती का कार्य करती है तथा इन कर्मचारियों पर नियंत्रण और स्थानान्तरण सम्बन्धी सभी कार्य न्यायपालिका द्वारा ही किये जाते हैं।

(6) निषेधात्मक आदेश जारी करना (To Issue Prohibitory Ordinances)

न्यायपालिका कई बार किसी कार्य के प्रति या कानून के प्रति निषेधात्मक आदेश जारी करती है। न्यायपालिका कुछ समय के लिए निषेधात्मक आदेश के द्वारा किसी कार्य को करने से रोक सकती है।

(7) पूर्व–निर्णयों का पुनरावलोकन (Review of Previous Decisions)

न्यायपालिका द्वारा पूर्व में लिये गये उन निर्णयों में परिवर्तन कर सकती है जो स्वयं के द्वारा दिये गये थे। अतः न्यायपालिका संविधान की संरक्षक एवं विधि की ज्ञाता के रूप में कार्य करती है।

(8) न्यायिक समीक्षा या पुनरावलोकन (Judicial Review)

न्यायिक पुनरावलोकन से अभिप्राय है कि न्यायालय द्वारा व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के कार्यों की वैधता की जाँच करना अर्थात् ऐसे कानूनों एवं नीतियों को अवैध घोषित करना, जो संविधान के किसी अनुच्छेद का अतिक्रमण करते हों।

कारविन के शब्दों में न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ न्यायालय की उस शक्ति से है, जो उसे अपने न्याय क्षेत्र के अन्तर्गत लागू होने वाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के सम्बन्ध में तथा कानूनों को लागू करने के सम्बन्ध में प्राप्त है जिन्हें वे अवैध और व्यर्थ समझते हैं।

अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश मार्शल ने 1803 में मारबरी बनाम मेडीसन के मामले में ''ज्यूडिशियल रिव्यू की व्याख्या करते हुए कहा था कि न्यायिक पुनरावलोकन न्यायालयों द्वारा अपने समक्ष पेश विधायी कानूनों तथा कार्यपालिका अथवा प्रशासनिक कार्यों का वह निरीक्षण है जिसके द्वारा वह निर्णय करता है।

न्यायिक पुनरावलोकन के सिद्धान्त का विकास लगभग दो सदी पुराना है। न्यायिक पुनरावलोकन के इस सिद्धान्त का उद्‌भव संयुक्त राज्य अमेरिका की शासन प्रणाली में सर्वप्रथम दिखलाई पड़ता है। कालान्तर में भारत, जापान आदि देशों में भी इस सिद्धान्त का विकास हुआ। प्रायः अधिकांश देशों में सर्वोच्च न्यायालय की पुनरावलोकन की शक्ति संविधान प्रदत्त नहीं है अपितु न्यायालयों ने इसे हस्तगत किया है। धीरे–धीरे न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार एक महति परिपाटी बन गया।

भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्निरीक्षण का उल्लेख संविधान के उपबन्धों में कहीं नहीं मिलता। फिर भी न्यायिक निरीक्षण के सिद्धान्त के आधारभूत तत्वों की मौजूदा स्थिति के कारण इस सिद्धान्त का स्वतः ही विकास हुआ। उच्चतम न्यायालय ने अनेक निर्णयों में इसका प्रयोग किया और कार्यपालिका संसद के कार्यों तथा विधियों को असंवैधानिक घोषित किया जो संविधान के प्रावधानों के विरूद्ध थे।

न्यायपालिका का महत्त्व (Relevance of Judiciary)

न्यायपालिका का महत्त्व इसके कार्यों के आधार पर स्वयं–सिद्ध है। न्यायपालिका एक तरफ संविधान की रक्षा करती है वहीं दूसरी तरफ समाज की आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार कानून के महत्त्व को स्पष्ट करती है। न्यायपालिका की दण्ड की शक्ति के भय से अपराधी अपराध करने से भय खाता है और अपराधों में अंकुश के कारण ही समाज में शान्ति और व्यवस्था बनी रहती है। संक्षेप में न्यायपालिका के महत्व को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :–

(1) संविधान के रक्षक के रूप में महत्त्व (Relevance as the Saviour of the Consitution)

न्यायपालिका का महत्त्व इस रूप में प्रकट है कि वह संविधान के रक्षक के रूप में पहचानी जाती है। यदि कोई संविधान पर प्रहार करने की कोशिश करता है तो न्यायपालिका प्रहरी की भांति उसकी रक्षा करती है। यदि न्यायपालिका का अस्तित्व नहीं होगा तो संविधान का कोई अर्थ नहीं होगा क्योंकि न्यायपालिका ही वह तंत्र है जो संविधान की रक्षा का कार्य करती है।

(2) मौलिक अधिकारों के संरक्षक के रूप में महत्त्व (Relevance as the Patron of Fundamental Rights)

न्यायपालिका का महत्त्व इसमें निहित है कि वह नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करती है। यदि राज्य कोई संस्था या व्यक्ति नागरिकों के मौलिक अधिकारों का हनन करता है तो मौलिक अधिकारों को संरक्षण प्रदान करते हुए हनन करने वाले को दण्डित करने का कार्य करती है। अतः न्यायपालिका का महत्त्व मौलिक अधिकारों के संरक्षक में रूप में स्वयं–सिद्ध है।

(3) शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के रूप में महत्त्व (Relevance as the safeguard of Peace and Order)

न्यायपालिका समाज में कानूनों के संतुलन को स्थापित कर समाज को विवादों से बचाती है जिससे शान्ति और व्यवस्था बनी रहती है तथा नागरिकों की आस्था कानून के प्रति बनी रहती है।

(4) सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के रूप में महत्त्व (Relevance as Social and Economic Changes)

न्यायपालिका सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का अग्रदूत मानी जाती है क्योंकि यह सामाजिक और आर्थिक विकास में सहयोग करने का कार्य भी करती है। महिलाओं की सामाजिक स्थिति को सुधारने तथा आर्थिक विकास के लिए नियम बनाने की हिदायत देती है जैसे भारत में कामकाजी महिलाओं को कार्यस्थल पर उत्पीड़न से बचाने के लिए सरकार को नियम बनाने के निर्देश दिये गये। इसी तरह पर्यावरण सुधार और न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने की सलाह शामिल है।

अतः न्यायपालिका का महत्त्व वर्तमान समय में बढ़ गया है। उस स्थिति में न्यायपालिका का महत्त्व और बढ़ जाता है जब कार्यपालिका उदासीन रहकर कार्य करे।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124 के अनुसार भारत में उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गई है। भारत में उच्चतम न्यायालय की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य संघात्मक ढांचे की रक्षा करना है। पायली के अनुसार "उच्चतम न्यायालय संघीय शासन प्रणाली का अनिवार्य अंग है। यह संविधान की व्याख्या करने वाला सर्वोच्च प्राधिकारी है, साथ ही यह संघ तथा राज्यों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय करने वाला अन्तिम अधिकरण है।"

इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय संविधान की व्याख्या का कार्य करता है। उच्चतम न्यायालय ही भारत में मौलिक अधिकारों का रक्षक व प्रहरी माना जाता है।

गम्भीर पेचीदा कानूनी उलझनों पर उच्चतम न्यायालय राष्ट्रपति को परामर्श देने का कार्य भी करता है जिन विषयों के बारे में राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय से परामर्श मांगता है उनके बारे में उच्चतम न्यायालय उचित परामर्श देता है।

उच्चतम न्यायालय भारत में सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन का अग्रदूत भी माना जाता है क्योंकि यह संवैधानिक व साधारण कानूनों की प्रगतिवादी व्याख्या करके लोकतंत्र के प्रहरी के रूप में कार्य करता है।

भारतीय संविधान में न्याय व्यवस्था के एकीकृत स्वरूप को अपनाया गया है। हमारी न्याय प्रणाली की यह विशेषता है कि यह सम्पूर्ण देश के लिए एकबद्ध और एकीकृत है। एकीकृत न्याय व्यवस्था से तात्पर्य है कि भारतीय न्याय प्रणाली न्याय की एक सीढ़ीनुमा व्यवस्था है जो एक के बाद एक अर्थात् एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय से जुड़ी हुई है। सबसे ऊपर उच्चतम न्यायालय है, उसके बाद राज्यों के उच्च न्यायालय और उसके बाद अधिनस्थ न्यायालय, जो कि भारत के अन्य भागों में कार्य करते हैं। भारतीय न्याय प्रणाली के एकीकृत स्वरूप को निम्नलिखित रेखाचित्र के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है :

भारतीय न्याय प्रणाली

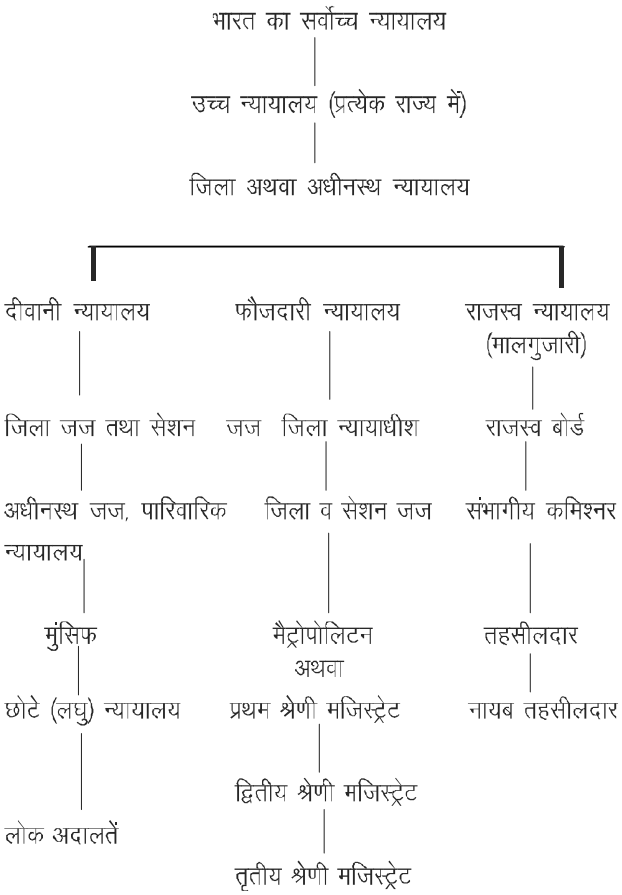

उच्चतम न्यायालय का संगठन (Organisation of the Supreme Court)

अनुच्छेद 124 के अनुसार भारत में उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गई है। भारत का उच्चतम न्यायालय देश का सर्वोच्च न्यायालय है। यह भारत की राजधानी नई दिल्ली में स्थित है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति (Appointment of the Judges)

अनुच्छेद 124 (3) के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। संविधान में इस बात का प्रावधान है कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय मंत्रिमण्डल के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय व उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों से परामर्श ले सकता है। राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्ति ''स्वविवेक'' से करता है। अतः इस सांविधानिक उपबन्ध की प्रकृति अनुशासनात्मक है, बाध्यकारी नहीं।

मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति अन्य वरिष्ठ न्यायाधीशों, जिनको वह उचित समझता है, परामर्श कर सकता है। सेवानिवृत्त न्यायाधीश से भी परामर्श किया जाता है। साधारणतया सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ न्यायाधीश को ही भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जाता है किन्तु इसमें राष्ट्रपति की सहमति महत्त्वपूर्ण है।

किन्तु 1973 में प्रधान न्यायमूर्ति श्री सीकरी सेवानिवृत्त हुए तो तीन न्यायाधीशों (श्री शेटल, श्री हेगड़े और श्री ग्रोवर) की वरिष्ठता का उल्लंघन करके ''श्री अजीतनाथ रे'' को मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्त किया गया। श्री अजीत नाथ रे की नियुक्ति के सम्बन्ध में श्री सीकरी से परामर्श भी नहीं लिया गया था।समस्त देश के विधि जगत में इस नियुक्ति का घोर विरोध किया गया। लेकिन कुछ समय से यह परम्परा फिर स्थापित हो गई है कि मुख्य न्यायाधीश पद पर उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठ न्यायाधीश को नियुक्त किया जाता है।

न्यायाधीशों की संख्या (The Number of the Judges)

संविधान के अनुच्छेद 124(1) के अनुसार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या प्रारम्भ में मुख्य न्यायाधीश सहित आठ निश्चित की गई थी। परन्तु संसद को विधि द्वारा न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने का अधिकार है। वर्तमान में भारत के उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश व 25 अन्य न्यायाधीश हैं। अतः उच्चतम न्यायालय में कुल 26 न्यायाधीश हैं। भारतीय संसद कानून बनाकर इनकी संख्या को निश्चित कर सकती है।

न्यायाधीशों की योग्यताएँ (The Qualifications of the Judges)

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है :–

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. वह किसी एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय में लगातार 5 वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो, अथवा
3. वह किसी एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय में कम से कम 10 वर्ष तक वकालत कर चुका है, अथवा
4. राष्ट्रपति की दृष्टि में वह कोई प्रख्यात विधिवेत्ता हो।

न्यायाधीशों का कार्यकाल (Tenure)

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश व अन्य न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक न्यायाधीश के पद पर कार्य कर सकते हैं। कोई भी न्यायाधीश इस अवधि से पहले अपनी इच्छानुसार त्यागपत्र दे सकता है।

पदच्युति व महाभियोग (Dismissal and Inpeachement)

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ''प्रमाणित कदाचार'' और असमर्थता के आधार पर महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। यदि संसद दोनों सदनों में अलग–अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत से प्रस्ताव पास कर दे। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि न्यायाधीशों के विरूद्ध महाभियोग का प्रस्ताव एक सत्र में स्वीकार होना चाहिए। साथ ही न्यायाधीश को अपने पक्ष के समर्थन करने का पूरा अवसर प्रदान किया जाता है। संसद में महाभियोग का प्रस्ताव पास होने के बाद राष्ट्रपति के समक्ष भेजा जाता है। इसके बाद राष्ट्रपति उस न्यायाधीश के पदच्युति आदेश जारी कर देता है।

भारतीय न्याय व्यवस्था के इतिहास में अब तक किसी भी न्यायाधीश को महाभियोग के द्वारा नहीं हटाया गया है। लेकिन 1989 में न्यायमूर्ति वी0 रामास्वामी पर अनियमितता बरतने के आरोप में लोकसभा के 108 सदस्यों ने महाभियोग लगाने की मांग की। उन पर यह आरोप था कि जब वे पंजाब व हरियाणा उच्च न्यायालय में न्यायाधीश थे, तब उन्होंने न्यायाधीश पद पर रहते हुए सरकारी धन के उपयोग में अनियमितता बरतने का आरोप था। न्यायाधीश पी0 बी0 सावन्त की अध्यक्षता में एक तीन सदस्यीय जांच समिति नियुक्त की गई। 20 जुलाई, 1992 को प्रस्तुत रिपोर्ट में कहा गया कि ''न्यायमूर्ति रामास्वामी ने पद पर रहते हुए जानबूझ कर धन का दुरूपयोग किया, सरकारी धन की इरादतन और आदतन फिजूलखर्ची की,

सरकारी धन का निजी जरूरतों के लिए इस्तेमाल किया और विधायी नियमों का लगातार उल्लंघन किया।

संसदीय इतिहास में पहली बार वी0 रामास्वामी के खिलाफ 10 मई, 1993 को मार्क्सवादी दल के नेता सोमनाथ चटर्जी ने महाभियोग का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। 15 घण्टों की बहस के बाद महाभियोग प्रस्ताव आवश्यक बहुमत के अभाव में गिर गया। लेकिन प्रस्ताव गिरने के तुरन्त बाद न्यायमूर्ति रामास्वामी ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

वेतन तथा भत्ते (Salary and Allowances)

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को वेतन भत्ते भारत की संचित निधि में से दिये जाते हैं। न्यायाधीशों के वेतन भत्ते या पेंशन में किसी भी प्रकार की कटौती नहीं की जा सकती। यदि देश में आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाये तो राष्ट्रपति ही न्यायाधीशों के वेतन में कटौती कर सकता है।

भारत के मुख्य न्यायाधीश को 33000 रूपये प्रतिमाह वेतन मिलता है तथा अन्य न्यायाधीशों को 30000 रूपये प्रतिमाह वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों को निःशुल्क आवास, फर्नीचर सहित कार्यालय उपलब्ध कराया जाता है। सेवानिवृति होने पर न्यायाधीशों को संसद द्वारा समय–समय पर की गई पेन्शन मिलती है। वर्तमान में भारत के मुख्य न्यायाधीश की पेन्शन 25000 रूपये प्रतिमाह व अन्य न्यायाधीशों को 15000 रूपये प्रतिमाह प्रदान की जाती है।

कार्यवाही एवं गणपूर्ति (The proceedings and the Quorum)

उच्चतम न्यायालय की कार्यवाही खुले न्यायालय में की जाती है। उसके निर्णय बहुमत के आधार पर सबके सामने उद्घोषित किये जाते हैं जो न्यायाधीश बहुमत के निर्णय से सहमत नहीं होते हैं उन्हें अपने अल्पमत निर्णय की घोषणा करने का अधिकार होता है। संविधान न्यायालय की इस कार्यवाही के बारे में न्यायालय की न्यूनतम संख्या निर्धारित नहीं करता। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 145(3) में इस बात की व्यवस्था है कि संवैधानिक निर्णय के लिए कम से कम पांच न्यायाधीश होंगे। दूसरे शब्दों में संवैधानिक विषयों की सुनवाई एवं निर्णय के लिए कम से कम पांच न्यायाधीशों की संविधान पीठ का होना आवश्यक है।

तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति (The Appointment of Adhoc Judges)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद (127) के अनुसार जब किसी समय उच्चतम न्यायालय के किसी सत्र को आयोजित करने या चालू रखने के लिए गणपूर्ति न हो (स्थाई न्यायाधीशों का अभाव हो) तो मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से और सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करके किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय की बैठकों में उतनी अवधि के लिए जितनी आवश्यक हो तदर्थ न्यायाधीश के रूप में कार्य करने के लिए अनुरोध कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियां और अधिकार–क्षेत्र (Powers and Jurisdiction of Sureme Court)

भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक शक्तियां प्रदान की गई है जिससे न्यायालय, संविधान व लोकतंत्र की रक्षा करने में सक्षम बन सके। भारत के उच्चतम न्यायालय को निम्नलिखित अधिकारिता प्राप्त हैं:–

(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार
(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार
(3) परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार
(4) अभिलेख न्यायालय
(5) संविधान का रक्षक एवं मूल अधिकारों का प्रहरी
(6) अपील की विशेष आज्ञा
(7) अपमान के लिए दण्डित करने का अधिकार

(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original Elementary Jurisdiction)

संविधान के अनुच्छेद (131) के अनुसार कुछ ऐसे विवाद हैं जो केवल सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में आते हैं जिनकी कोई अन्य न्यायालय सुनवाई नहीं कर सकता और जिन्हें किसी अन्य न्यायालय में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उनको सीधे उच्चतम न्यायालय में प्रस्तुत किया जा सकता है अर्थात् प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार में आने वाले विवादों की सुनवाई केवल उच्चतम न्यायालय में ही की जा सकती है। यह क्षेत्राधिकार निम्नलिखित प्रकार के हैं:–

(i) भारत सरकार और एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।

(ii) वे विवाद जिसमें भारत सरकार तथा एक या एक अधिक राज्य एक ओर हो, तथा एक या एक से अधिक राज्य दूसरी ओर हो।

(iii) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच विवाद।

(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 132) (Appellate Jurisdiction (Article 132))

उच्चतम न्यायालय देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है उसे सभी राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। भारत में एकीकृत न्याय व्यवस्था होने से राज्यों के न्यायालय उच्चतम न्यायालय के अधीन है और उसे उच्च न्यायालय के अधीक्षण व नियंत्रण का अधिकार है। भारत का उच्चतम न्यायालय सारे देश में स्थित उच्च न्यायालय और न्यायाधिकरण (सैनिक न्यायाधिकरण को छोड़कर) के सांविधानिक, दीवानी और फौजदारी निर्णयों के विरूद्ध अपील सुनने का अधिकार है। वह स्वयं अपील की विशेष आज्ञा दे सकता है।

भारतीय उच्चतम न्यायालय के अपील क्षेत्राधिकार निम्न प्रकार से है :–

(1) सांविधानिक विवाद में अपील (Constitutional):

सांविधानिक विवादों में उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध उच्चतम न्यायालय में तभी अपील की जा सकती है जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में ''संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित विधि का कोई सारवान प्रश्न निहित हो।'' यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण पत्र देने से मना कर दे तो उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 136 के अनुसार स्वयं अपील की विशेष आज्ञा दे सकता है। बशर्ते उच्चतम न्यायालय को यह विश्वास हो जाये कि इसमें कानून का कोई सारवान प्रश्न निहित है। सार्वजनिक महत्त्व के किसी विषय को सारवान की परिभाषा में नहीं लिया जा सकता।

(2) दीवानी मामले में अपील (Civil)

दीवानी विवादों में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील तभी हो सकती है यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में विधि का कोई सारवान प्रश्न निहित है और विवाद उच्चतम न्यायालय में जाने योग्य है।

(3) फौजदारी विवाद में अपील (Criminal)

फौजदारी मुकदमों में उच्चतम न्यायालय में निम्नलिखित स्थितियों में अपील की जा सकती है :–

(i) जब उच्च न्यायालय ने निम्न न्यायालय द्वारा मुक्त किये गये अभियुक्त को मृत्यु दण्ड दे दिया हो, अथवा

(ii) जब उच्च न्यायालय में अपने अधीनस्थ किसी न्यायालय से मुकदमें को मंगवाकर उसकी सुनवाई की हो, तथा अभियुक्त को मृत्युदण्ड दे दिया हो, अथवा

(iii) जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद पुनर्विचार के लिए उच्चतम न्यायालय में ले जाने के लिए उपयुक्त है।

(3) परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction)

भारतीय उच्चतम न्यायालय को एक ऐसा अधिकार प्राप्त है जिसका प्रयोग न तो अमेरिका न ही आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय ने किया। यह क्षेत्राधिकार सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्नों पर परामर्श या राय देने से सम्बन्धित है। जब कभी राष्ट्रपति को यह प्रतीत होता है कि विधि या तथ्यों के बारे में कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़ा है जिसके बारे में उच्चतम न्यायालय से परामर्श लिया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय का परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार बाध्यकारी प्रकृति का नहीं है अर्थात् यह न्यायालय के विवेक पर निर्भर करता है कि वह राष्ट्रपति को परामर्श दे या न दें।

अनुच्छेद 143(1) के अनुसार यह अनुच्छेद न तो राष्ट्रपति को बाध्य करता है कि सार्वजनिक महत्त्व के विषय पर उच्चतम न्यायालय की राय ले और न ही उच्चतम न्यायालय को बाध्य करता है कि राष्ट्रपति द्वारा भेजे गये विषयों पर अपनी राय दे। उच्चतम न्यायालय का परामर्श न्यायिक निर्णय नहीं है अतः न तो राष्ट्रपति इस परामर्श को मानने के लिए बाध्य है और न ही भारत के अधीनस्थ न्यायालय इसे मानने के लिए बाध्य हैं। लेकिन बाध्यकारी न होते हुए भी सामान्यतः राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के परामर्श की पालना करता है।

(4) अभिलेख न्यायालय (Court of Record)

अनुच्छेद 129 के अनुसार उच्चतम न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय है अर्थात् उच्चतम न्यायालय एक प्रकार का न्यायिक संग्रहालय है। इसके द्वारा दिये जाने वाले निर्णयों को संग्रह (रिकार्ड) के रूप में रखा जाता है। देशभर के अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा इसके निर्णय को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

(5) संविधान का रक्षक व मूल अधिकारों का प्रहरी (Saviour of the Consitution and the Guard of Fundamental Rights)

भारत का उच्चतम न्यायालय संविधान का रक्षक व मूल अधिकारों के संरक्षक व गारन्टीकर्त्ता के रूप में कार्य करता है जब कभी संसद या विधान मण्डलों द्वारा ऐसे कानून बना दिये जाते हैं जो संविधान की धाराओं के अनुकूल नहीं होते, अर्थात् ऐसे कानून जो संविधान का उल्लंघन करते हैं तो न्यायालय उन्हें अवैध घोषित कर प्रभावहीन बना देता है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 32 न्यायालय को

नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करने का विशेष दायित्व सौंपता है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करने हेतु संविधान न्यायालय को बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण लेखों को जारी करने का अधिकार देता है। उदाहरणार्थ – उच्चतम न्यायालय ने फरवरी, 1979 में नजरबन्द विचाराधीन अपराधियों के बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख में इस कानून का निर्माण किया कि जिन नजरबन्द विचाराधीन अपराधियों पर तर्कसंगत समय से अभियोग नहीं लगाये गये उन्हें तत्काल छोड़ दिया जाये। पटना व मुजफ्फरपुर जिलों के 34 अभियुक्तों को जमानत पर रिहा करते हुए इस तरह मौलिक अधिकारों की रक्षा की, साथ ही बिहार सरकार से उन विचाराधीन कैदियों की सूची की मांग की जिन पर 18 माह से अभियोग नहीं लगाया गया था। मानव अधिकारों की रक्षा के इतिहास में उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

(6) अपील की विशेष आज्ञा (Special Permission for Appeal)

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 136 उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार देता है कि वह ''स्वविवेक'' अपील की विशेष आज्ञा दे सकता है। उच्चतम न्यायालय भारत में किसी भी उच्च न्यायालय या न्यायाधिकरण के निर्णय, अज्ञप्ति, निर्धारण, दण्ड या आदेश के विरूद्ध अपील की विशेष आज्ञा प्रदान कर सकता है चाहे उच्च न्यायालय ने अपील की आज्ञा देने से मना कर दिया हो। उच्चतम न्यायालय पीड़ित पक्ष को अपील की विशेष आज्ञा उस स्थिति में दे सकता है जब उसे अपील का अधिकार नहीं है।

न्यायालय इसका प्रयोग प्रायः तभी करता है जब घोर अन्याय को दूर करने अथवा न्याय को बढ़ाने की आवश्यकता होती है।

(7) अपमान के लिए दण्डित करने का अधिकार (Right to Sentence for Contempt)

न्यायालय द्वारा सुनाये गये निर्णयों को आलोचना से मुक्त रखा गया है। न्यायाधीशों पर यह आरोप नहीं लगाये जा सकते कि उनके निर्णय प्रेरणा या हित से प्रभावित हैं। यदि कोई न्यायालय का तिरस्कार या अपमान करता है या उसकी आज्ञाओं की उपेक्षा करता है तो न्यायालय उसे दण्डित करने का अधिकार रखता है।

न्यायालय सार्वजनिक कल्याण या शैक्षणिक दृष्टि से किये गये उचित आलोचनात्मक विवेचन को अपमान नहीं मानता है, परन्तु न्यायाधीशों की निष्पक्षता को प्रभावित करना या न्यायालय की कार्यवाही में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बाधा उपस्थित करना या न्यायाधीशों व न्यायालय के प्रति घृणा फैलाना या बदनीयति से उन पर आक्षेप करना अवश्य ही न्यायालय का अपमान है। अवमानना के मामले में न्यायालय ने कड़ा रूख अपनाया है। उसने अवमानना के मामले में दोषी पाये गये व्यक्तियों, पदाधिकारियों व सरकारों सभी को दण्डित किया है। उदाहरणार्थ 24 अक्टूबर, 1994 को भाजपा नेता और उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री कल्याण सिंह को (बाबरी मस्जिद ढहने के प्रश्न पर) एक दिन की प्रतीकात्मक कैद और 2000 रूपये जुर्माने की सजा दी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार को छोड़कर भारतीय उच्चतम न्यायालय की शक्तियाँ **विश्व के किसी भी सर्वोच्च न्यायलय से अधिक है। अपीलीय क्षेत्राधिकार में उसकी शक्तियाँ अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय से अधिक है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय उच्च न्यायालयों के सांविधानिक, दीवानी और फौजदारी निर्णयों के विरूद्ध अपील सुन सकता है। यह देश के निम्न न्यायालयों और न्यायाधिकरणों के निर्णय के विरूद्ध अपील की विशेष आज्ञा दे सकता है। वस्तुतः भारतीय उच्चतम न्यायालय की शक्तियाँ ''कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया'' के कारण मर्यादित हैं, जबकि अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियाँ ''कानून की उचित प्रक्रिया'' के कारण अमर्यादित हैं। यही कारण है कि जहाँ अमरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने ''परम विधानसभा'' का रूप ग्रहण कर लिया है, वहाँ भारत का उच्चतम न्यायालय यह रूप ग्रहण नहीं कर सकता है।**

उपर्युक्त शक्तियों एवं कार्यों के अतिरिक्त सर्वोच्च या उच्चतम न्यायालय निम्नलिखित कार्य भी सम्पादित करता है :–

(i) सर्वोच्च न्यायालय सामाजिक परिवर्तन का शक्तिशाली अभिकरण है। इसके अनेक महत्वपूर्ण निर्णयों ने सामाजिक परिवर्तन की महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

(ii) इसने पर्यावरण की रक्षा करने की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया, निर्णयों के कारण आवासीय वस्तुओं में प्रदूषण फेलाने वाले उद्योगों को बन्द करने का निर्णय लिया।

(iii) उच्चतम न्यायालय की भूमिका के कारण अनेक राजनीतिक घोटालों की जॉच में सक्रियता आयी है।

अतः भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एवं प्रशासन में उच्चतम न्यायालय की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- **न्यायपालिका का अर्थ** :– कानून की व्याख्या करने व उनका उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की संस्थागत व्यवस्था को न्यायपालिका कहा जाता है।
- **न्यायपालिका के कार्य** :– संविधान की रक्षा करना, प्रशासकीय नियमों का पुनरावलोकन करना, कार्यपालिका को कानूनी सलाह देना, प्रक्रियात्मक नियमों का निर्माण करना, न्यायालय के आन्तरिक प्रशासन की व्यवस्था करना, निषेधात्मक आदेश जारी करना, पूर्व निर्णयों का पुनरावलोकन करना।
- **न्यायपालिका का महत्त्व** :– संविधान की रक्षक के रूप में, मौलिक अधिकार के संरक्षक के रूप में, शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के रूप में, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के रूप में महत्त्व।
- **एकीकृत न्याय व्यवस्था** :– भारत में एकीकृत न्याय व्यवस्था को अपनाया गया है जो शीर्ष पर उच्चतम न्यायालय, राज्य स्तर पर उच्च न्यायालय व जिला व खण्ड स्तर पर जिला व सत्र न्यायालय की स्थापना की गई है।
- **उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तिः**– उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है जो उसकी नजर में विधि का प्रख्यात वेत्ता हो, या उच्च न्यायालय में 5 वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो या किसी उच्च न्यायालय में दस वर्ष तक एडवोकेट रह चुका हो।
- **महाभियोग** :– उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा हटाया जा सकता है जो संसद के दोनों सदनों के दो–तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पारित कर दे।
- **वेतन–भत्ते** :– उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 1,00,000 रूपये प्रतिमाह व अन्य न्यायाधीशों को 90,000 रूपये प्रतिमाह मिलते हैं।
- **कार्यवाही एवं गणपूर्ति** :– उच्चतम न्यायालय की कार्यवाही खुले न्यायालय में की जाती है, इसके निर्णय बहुमत के आधार पर दिये जाते हैं। संवैधानिक निर्णयों के लिए पॉच न्यायाधीशों की सांविधानिक पीठ का होना अनिवार्य है।
- **तदर्थ नियुक्ति** :– जब उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या गणपूर्ति के योग्य न हो तो मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की सहमति से किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को अस्थाई रूप से तदर्थ नियुक्ति दे सकता है।
- **उच्चतम न्यायालय की शक्तियाँ एवं अधिकारः**– (1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (2) अपीलीय क्षेत्राधिकार (3) परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार (4) अभिलेख न्यायालय (5) संविधा का रक्षक व मूल अधिकारों का प्रहरी (6) अपील की विशेष आज्ञा (7) अवमानना के लिए दण्डित करने का अधिकार।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है ?
   (अ) विधि मंत्री (ब) राष्ट्रपति
   (स) संसद (द) प्रधानमंत्री ( )
2. यदि राजस्थान व गुजरात के बीच कोई कानूनी विवाद खड़ा हो जाये तो उसकी सुनवाई कौनसा न्यायालय करेगा?
   (अ) राजस्थान उच्च न्यायालय
   (ब) गुजरात उच्च न्यायालय
   (स) उच्चतम न्यायालय
   (द) तीसरे राज्य का न्यायालय ( )
3. परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार प्राप्त है ?
   (अ) उच्चतम न्यायालय को
   (ब) उच्च न्यायालय को
   (स) महाधिवक्ता को
   (द) सत्र न्यायालय को ( )
4. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु है ?
   (अ) 60 वर्ष (ब) 65 वर्ष
   (स) 62 वर्ष (द) 58 वर्ष ( )
5. वर्तमान समय में उच्चतम न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की संख्या है ?
   (अ) 13 (ब) 17
   (स) 25 (द) 21 ( )

6. उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को कितना वेतन मिलता है ?

(अ) 2,00,000 रूपये (ब) 1,50,000 रूपये

(स) 1,00,000 रूपये (द) 50,000 रूपये ( )

7. भारत का अन्तिम अपीलीय न्यायालय कौनसा है ?

(अ) उच्च न्यायालय (ब) उच्चतम न्यायालय

(स) सैनिक न्यायालय (द) फौजदारी न्यायालय ( )

8. प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार संविधान के कौनसे अनुच्छेद में निहित है ?

(अ) 131 (ब) 260

(स) 360 (द) 132 ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत में एकीकृत न्याय व्यवस्था से क्या अर्थ है ?
2. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों पर सर्वप्रथम लाया जाता है ?
3. भारत का उच्चतम न्यायालय कहां स्थित है ?
4. किस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय व उच्च न्यायालय दोनों को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है ?
5. कम से कम कितने वर्ष तक उच्चतम न्यायालय के वकील रहने के बाद भारतीय नागरिक उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीश चुना जा सकता है ?
6. वे कौनसे विवाद हैं जिन्हें केवल उच्चतम न्यायालय में ही उपस्थित किया जा सकता है ?
7. वह कौनसा विवाद है, जो सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रपति को परामर्श देने से मना किया ?
8. उच्चतम न्यायालय की आवश्यक गणपूर्ति से क्या तात्पर्य है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिये।
2. उच्चतम न्यायालय का अपीलीय क्षेत्राधिकार क्या है ?
3. उच्चतम न्यायालय को एक अभिलेख न्यायालय क्यों कहा जाता है ?
4. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को उनके पद से कब व कैसे हटाया जा सकता है ?
5. न्यायपालिका के दो महत्त्व लिखो।
6. न्यायपालिका के दो प्रमुख कार्य लिखिए।
7. न्यायालय की अवमानना से क्या तात्पर्य है ?
8. उच्चतम न्यायालय, आर्थिक–सामाजिक क्रान्ति का अग्रदूत क्यों माना जाता है ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्यायपालिका के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसके कार्य लिखिए।
2. न्यायपालिका के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।
3. उच्चतम न्यायालय के संगठन, क्षेत्राधिकार एवं शक्तियों की व्याख्या कीजिये।

उत्तरमाला

(1) ब (2) स (3) अ (4) ब (5) स (6) स (7) ब (8) अ

इकाई–VIII

अध्याय–18

उच्च न्यायालय

(High Court)

भारत के संविधान के अनुच्छेद 214 से 237 तक राज्य न्यायपालिका से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 214 के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई है। लेकिन कानून द्वारा संसद को यह अधिकार दिया गया है कि दो या दो से अधिक राज्यों के लिए अथवा दो या दो से अधिक राज्यों व एक संघीय क्षेत्र के लिए एक ही उच्च न्यायालय की स्थापना कर सकती है। भारत में प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश व अन्य न्यायाधीश होते हैं जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति समय–समय पर आवश्यकतानुसार करता है। भारत में वर्तमान में 18 उच्च न्यायालय कार्यरत हैं।

उच्च न्यायालय का गठन (Composition of High Court)

संविधान के अनुच्छेद 214 के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह प्रत्येक उच्च न्यायालय के एक मुख्य न्यायाधीश व अन्य न्यायाधीश (आवश्यकतानुसार) को नियुक्ति प्रदान करे। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करने से पूर्व राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल से परामर्श अवश्य करता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण कर सकता है। लेकिन तबादला करने से पूर्व उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करना आवश्यक है। यह निर्णय 1993 के न्यायाधीशों के मामले में उच्चतम न्यायालय ने दिया था।

भारत में एक से अधिक राज्यों का एक उच्च न्यायालय हो सकता है जैसे पंजाब, हरियाणा और चण्डीगढ़ का एक ही उच्च न्यायालय है जो चण्डीगढ़ में स्थित है। इसी तरह उत्तर पूर्व के सात राज्यों असम, नागालैण्ड, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, त्रिपुरा और अरूणाचल प्रदेश का एक ही उच्च न्यायालय है जो गुवाहाटी में स्थित है। दिल्ली का अपना उच्च न्यायालय है। राजस्थान का भी अपना पृथक उच्च न्यायालय है जो जोधपुर में स्थित है, जिसकी एक शाखा जयपुर में भी स्थित है। राजस्थान उच्च न्यायालय की स्थापना 1949 में की गई थी।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय में अन्य नियुक्तियाँ करने का अधिकार भी प्राप्त है जैसे –

1. उच्च न्यायालय के बकाया कार्य को निपटाने के लिए दो वर्ष तक के लिए अस्थायी अवधि के लिए अपर न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है।
2. जब किसी उच्च न्यायालय का कोई स्थायी न्यायाधीश (मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न) अस्थायी रूप से अनुपस्थित रहता है या किसी अन्य कारण से अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हो तो राष्ट्रपति इस तरह की नियुक्ति करने का अधिकार रखता है।

न्यायाधीशों की योग्यताएँ (Qualification)

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वे निर्धारित योग्यताओं को पूरा करते हों:

(i) वह भारत का नागरिक हो,

(ii) उसे जिला या सेशन जज के पद का कम से कम दस वर्ष का अनुभव प्राप्त हो।

अथवा

वह किसी उच्च न्यायालय में या एक से अधिक उच्च न्यायालय में 10 वर्ष तक अधिवक्ता (एडवोकेट) रह चुका हो।

कार्यकाल तथा पदच्युति (Tenure and dismissal)

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रह सकते हैं। उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को उसकी अयोग्यता अथवा कदाचार के आधार पर 62 वर्ष की आयु से भी पहले पदमुक्त किया जा सकता है। यदि संसद के दोनों सदन अलग–अलग 2/3 (दो–तिहाई) बहुमत से इस प्रस्ताव को पारित कर दे तो राष्ट्रपति उस न्यायाधीश को पदच्युत कर सकता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को पदमुक्त अथवा अपदस्थ करने का तरीका भी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की तरह ही है।

वेतन–भत्ते (Salary and Allowances)

उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 90,000 रूपये मासिक तथा अन्य न्यायाधीशों को 80,000 रूपये

मासिक वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों को निःशुल्क आवास, चिकित्सा तथा अन्य भत्ते दिये जाते हैं। सेवानिवृत्त होने पर संसद द्वारा समय–समय पर निश्चित की गई वार्षिक पेन्शन मिलती है। इनको वेतन राज्य की संचित निधि से मिलता है, इस पर राज्य की विधान परिषद अथवा कार्यपालिका का कोई नियंत्रण नहीं होता।

उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of High Court)

भारत में उच्च न्यायालयों की स्थिति सर्वोच्च न्यायालय के बाद दूसरे स्थान पर आती है। उच्च न्यायालय किसी राज्य क्षेत्र का सबसे बड़ा न्यायालय होता है। उच्च न्यायालय के कार्य एवं क्षेत्राधिकार को निम्न शीर्षक के अन्तर्गत बाँटा जा सकता है :

(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original Jurisdiction)

उच्च न्यायालयों को भी कुछ सीमा तक प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है, अर्थात् कुछ मुकदमें ऐसे हैं जिन्हें सीधे उच्च न्यायालय में सुनवाई के लिए लाया जा सकता है जैसे मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के मुकदमे उच्चतम न्यायालय के अतिरिक्त उच्च न्यायालय में भी सुने जा सकते हैं। उच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा को बनाये रखने के आदेश दे सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ विशेष प्रकार के मुकदमे जो सीधे उच्च न्यायालय में लाए जा सकते हैं जैसे वसीयत, विवाह एवं तलाक, कम्पनी कानून के मामले, भूमि, कर तथा उससे वसूली सम्बन्धित मामले। उच्च न्यायालय की अवमानना सम्बन्धी मुकदमे भी उच्च न्यायालय में सुने जा सकते हैं। उच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि निचली अदालत द्वारा सुनाये गये मृत्युदण्ड को उच्च न्यायालय ही स्वीकृति प्रदान करता है।

मुम्बई, (बम्बई) चेन्नई (मद्रास) उच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ईसाई व पारसियों की शादी व तलाक के मुकदमे प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत सुने। संसद द्वारा पारित कानून के अनुसार दिल्ली व हिमाचल प्रदेश के उच्च न्यायालय को 5 लाख या उससे अधिक सम्पत्ति के मुकदमे सुनने का अधिकार प्राप्त है। उच्च न्यायालय चुनाव सम्बन्धी मुकदमों की भी सुनवाई कर सकता है। यदि उच्च न्यायालय को यह पता चल जाये कि चुनाव में किसी सदस्य ने धोखाधड़ी या भ्रष्टाचार किया है तो वह चुनाव को रद्द कर सकता है।

(2) अपील क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdiction)

अपीलीय क्षेत्राधिकार से तात्पर्य है कि उच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह निचली अदालत द्वारा दिये गये दीवानी, फौजदारी और मालगुजारी सम्बन्धित निर्णयों के विरूद्ध अपील सुन सकता है। उच्च न्यायालय व्यापक अपीलीय न्यायालय है जो निचली अदालतों द्वारा दिये गये फैसलों के विरूद्ध अपील सुनता है।

(3) अभिलेख न्यायालय (Court of Record)

उच्च न्यायालय भी सर्वोच्च न्यायालय की तरह अभिलेख न्यायालय है जो अपने सभी निर्णयों को अभिलेख के रूप में सुरक्षित रखता है। राज्य के सभी अधिनस्थ न्यायालय उच्च न्यायालय के फैसले को मानने के लिए बाध्य है। इसके फैसलों की अवहेलना करने पर किसी को भी दण्डित करने का अधिकार रखता है।

(4) अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण (Control on Subordinate Courts)

उच्च न्यायालय राज्य की न्यायपालिका के शीर्ष पर होने के नाते अधीनस्थ न्यायालयों पर प्रशासनिक नियंत्रण रखता है। उच्च न्यायालय द्वारा अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण इस तरह रखा जाता है, जैसे जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदस्थापन, पदोन्नति के मामले में राज्यपाल उच्च न्यायालय से परामर्श करेगा। जिला न्यायालय और अधीनस्थ न्यायालयों का नियंत्रण, जिसके अन्तर्गत राज्य की न्यायिक सेवा के कार्मिकों और जिला न्यायाधीश के पद से अवर किसी पद को धारण करने वाले व्यक्तियों का पद स्थापन, पदोन्नति व अवकाश देना है, यह अधिकार उच्च न्यायालय में निहित है। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ कर्मचारियों, मंत्रालयिक कर्मचारियों की नियुक्ति व भर्ती सम्बन्धी नियम स्वयं बनाता है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है।
- उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति से पूर्व राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल से परामर्श करता है।
- अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से की जाती है।
- राजस्थान उच्च न्यायालय, जोधपुर में स्थित है, इसकी एक शाखा जयपुर में भी कार्यरत है।

- उच्च न्यायालय, राज्य का सबसे बडा अपीलीय न्यायालय भी है।
- मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के सम्बन्ध में उच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है।
- उच्च न्यायालय के न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रह सकते हैं।
- उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को वेतन, भत्ते राज्य की संचित निधि में से दिये जाते हैं।
- उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 90,000 रूपये तथा अन्य न्यायाधीशों को 80,000 रूपये मासिक वेतन मिलता है।
- उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अवकाश प्राप्त करने के बाद स्वयं के कार्यरत न्यायालय को छोड़कर अन्य न्यायालय में वकालत शुरू कर सकते हैं।
- राज्य के किसी अधीनस्थ न्यायालय द्वारा दिये गये मृत्युदण्ड की पुष्टि उच्च न्यायालय द्वारा ही की जाती है।
- उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की योग्यता – वह भारत का नागरिक हो, सत्र न्यायालय में 10 वर्ष तक न्यायाधीश के पद पर कार्य कर चुका हो या किसी उच्च न्यायालय में दस वर्ष तक वकील रह चुका हो।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. राजस्थान उच्च न्यायालय का मुख्यालय कहॉ स्थित है ?
   (अ) जयपुर (ब) जोधपुर
   (स) सवाईमाधोपुर (द) उदयपुर ( )
2. राजस्थान उच्च न्यायालय की शाखा कहां स्थित है ?
   (अ) बीकानेर (ब) जोधपुर
   (स) जयपुर (द) अलवर ( )
3. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु है ?
   (अ) 65 वर्ष (ब) 62 वर्ष
   (स) 60 वर्ष (द) 58 वर्ष ( )
4. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती है –
   (अ) प्रधानमंत्री द्वारा (ब) राष्ट्रपति द्वारा
   (स) मुख्यमंत्री द्वारा (द)केन्द्रीय मंत्रिमण्डल द्वारा ( )
5. उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का वेतन है –
   (अ) 1,00,,000 (ब) 90,000
   (स) 80,000 (द) 50,000 ( )
6. उच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों का वेतन है –
   (अ) 80,000 (ब) 70,000
   (स) 60,000 (द) 50,000 ( )
7. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को पद से हटाया जा सकता है –
   (अ) महाभियोग द्वारा (ब) राष्ट्रपति द्वारा
   (स) राज्यपाल द्वारा (द) मुख्यमंत्री द्वारा ( )
8. राजस्थान उच्च न्यायालय की स्थापना कब की गई थी ?
   (अ) 1949 (ब) 1950
   (स) 1947 (द) 1960 ( )

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल है।
2. संविधान के कौनसे अनुच्छेद में उच्च न्यायालय की स्थापना की गई है ?
3. उच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीशों की संख्या कितनी हो सकती है ?
4. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को वेतन कहां से दिया जाता है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सन्दर्भ में राज्यपाल की क्या भूमिका है ?
2. राष्ट्रपति किसको उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बना सकता है ?
3. उच्च न्यायालय में नियुक्ति के बारे में उच्चतम न्यायालय की क्या भूमिका है ?
4. उच्च न्यायालय के न्यायाधीश उनके पद से किस प्रकार हटाये जा सकते हैं ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. उच्च न्यायालय के संगठन का विस्तार से वर्णन कीजिये।
2. उच्च न्यायालय के कार्य एवं क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिये।
3. उच्च न्यायालय की स्वतंत्रता बनाये रखने के उपायों का वर्णन कीजिये।

उत्तरमाला

1. ब 2. स 3. ब 4. ब
5. ब 6. अ 7. अ 8. अ

अध्याय–19

जिला स्तरीय एवं अधीनस्थ न्यायालय
(District Level & Subordinate Court)

भारत के हर जिला स्तर पर जिला स्तरीय एवं अधीनस्थ न्यायालयों की स्थापना की गई है। जिला स्तर पर अधीनस्थ न्यायालयों की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य जिले के मुकदमों को स्थानीय स्तर पर ही फैसला करना हैं, जिससे जनता को न केवल सरलता से न्याय उपलब्ध हो अपितु उच्च न्यायालय के कार्यभार में वृद्धि को कम किया जा सके और जनता को न्याय प्राप्ति के लिए दूर भी नहीं जाना पड़े। जिला एवं अधीनस्थ न्यायालयों की स्थापना का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी माना जा सकता है कि जनता के धन व समय को बचाने के लिए भी ऐसा किया गया है। अतः सुलभ व सरल न्याय प्राप्ति के उद्देश्य से स्थानीय लोगों को राहत पहुँचाने के लिए इन न्यायालयों की स्थापना की गई है।

भारत के हर जिले में विभिन्न प्रकार के अधीनस्थ न्यायालय होते हैं । दीवानी, फौजदारी व मालगुजारी न्यायालय में न्यायालय अपने अपने मुकदमों की सुनवाई करते हैं। इन मुकदमों को निम्न बिन्दुओं में विभाजित किया जा सकता है :

(1) दीवानी मुकदमे (Civil Cases)

दो या दो से अधिक व्यक्तियों में सम्पत्ति का झगड़ा, किसी समझौते को तोड़ना, तलाक, विवाह, मालिक–किरायेदार का झगड़ा, इन सबकी सुनवाई दीवानी न्यायालय में की जाती है।

(2) फौजदारी मुकदमे (Criminal Cases)

किसी कानून का उल्लंघन करना, चोरी, डकैती, अपहरण, जेब काटना, शारीरिक रूप से नुकसान पहुँचाना, हत्या करना ऐसे आपराधिक मुकदमे जिनमें जुर्माना, कैद या फिर मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता है, फौजदारी न्यायालय में सुने जाते हैं।

जिला एवं अधीनस्थ न्यायालय

जिला स्तरीय न्यायालयों की स्थापना जिले में की जाती है। यह जिले के सबसे बड़े न्यायालय होते हैं जिला स्तर के सभी मुकदमें इसी न्यायालय में सुने जाते हैं। जिले स्तर पर भी दो तरह के जिला न्यायालय होते हैं जो अलग–अलग नामों से जाने जाते हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन्हें दो भागों में बॉटा जा सकता है :

(1) जिला न्यायालय (2) सत्र न्यायालय

(1) जिला न्यायालय (दीवानी न्यायालय) (District Courts (Civil Courts))

जिला न्यायालय जिले के दीवानी मामलों की सुनवाई करता है, इसलिए इसे जिला दीवानी न्यायालय भी कहते हैं। यह जिले का सबसे बड़ा न्यायालय होता है जहाँ दीवानी मुकदमे सुने जाते हैं। अक्सर इसी न्यायालय को डिस्ट्रिक्ट और सेशन जज का न्यायालय भी कहा जाता है। इन न्यायालयों को प्रारम्भिक व अपीली दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं। 10,000 रूपये से अधिक के विवाद इसके प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र में आते हैं। इसके अतिरिक्त विवाह, वसीयत सम्बन्धी, आदि के मामले इसी न्यायालय की प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र में आते हैं।

जिला स्तरीय न्यायालय के नीचे दीवानी मामलों के लिए सिविल जज न्यायालय होते हैं। सिविल जज न्यायालय को 2000 से लेकर 10,000 रूपये तक के मुकदमें सुनने का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है। ऐसे मामलों में, जो कि जिला न्यायालय के आदेश से इनमें भेजे जायें, इनका अपीलीय क्षेत्राधिकार भी होता है।

सिविल जज के नीचे मुंसिफ मजिस्ट्रेट का न्यायालय भी होता है। इन न्यायालयों को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त होता है। न्यून धनराशि के झगड़े इसी न्यायालय में निपटाये जाते हैं। जिला न्यायाधीश केवल अधीनस्थ न्यायाधीश के विरूद्ध अपील को ही नहीं सुनता, अपितु कभी–कभी कुछ मुकदमे सीधे जिला न्यायाधीश के न्यायालय से ही दर्ज कराये जाते हैं। इनके न्याय के विरूद्ध राज्य के उच्च न्यायालय में अपील की जाती है।

जिला स्तरीय न्यायाधीशों एवं अन्य न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है। राज्यपाल इन नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय एवं राज्य लोक सेवा

आयोग के परामर्श से, नियुक्ति, भर्ती आदि के नियम बनाता है। संविधान के अनुच्छेद 235 के अन्तर्गत जिला स्तरीय न्यायालय पर उच्च न्यायालय का नियंत्रण रहता है। उच्च न्यायालय द्वारा ही उनका पद्स्थापन तथा पदोन्नति की जाती है ये अवकाश आदि के लिए भी उच्च न्यायालय के पास आवेदन भेजते हैं।

(2) सत्र न्यायालय या फौजदारी न्यायालय (Sessions Courts or Criminal Courts)

जिला स्तरीय फौजदारी मामलों के लिए सत्र न्यायालय होते हैं, इसलिए इन्हें सत्र न्यायालय या फौजदारी न्यायालय भी कहा जाता है। इस न्यायालय को प्रारम्भिक व अपीलीय दोनों तरह के अधिकार प्राप्त हैं। फौजदारी मामलों में क्रिमिनल प्रोसिजर कोड़ के अनुसार सेशनवाद, सेशन न्यायालय के प्रारम्भिक अधिकार सीमा में आते हैं।

फौजदारी मामलों की सुनवाई के लिए सेशन जज का न्यायालय जिले में सबसे बड़ा न्यायालय होता है। इसको अधीनस्थ न्यायालयों के विरूद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। इसलिए जिले का सबसे बड़ा अपीलीय न्यायालय भी होता है। सत्र न्यायालय के विरूद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जाती है, यदि किसी सत्र न्यायालय द्वारा किसी मुकदमे में मृत्युदण्ड की सजा सुनाई जाती है तो मृत्युदण्ड की पुष्टि या स्वीकृति उच्च न्यायालय द्वारा करनी आवश्यक है।

सत्र न्यायालय के बाद प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी और तृतीय श्रेणी मजिस्ट्रेट के न्यायालय आते हैं। मैट्रोपोलिटिन शहरों जैसे दिल्ली, कलकत्ता, मुम्बई और चेन्नई में प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट को मैट्रोपालिटिन मजिस्ट्रेट कहते हैं। उन सभी व्यक्तियों को जो कानून का उल्लंघन करते पाये जाते है, उन्हें सभी फौजदारी न्यायालय कानूनी आधार पर दोषमुक्त अथवा दण्डित करने के लिए स्वतंत्र होते हैं।

इन न्यायालयों के अतिरिक्त फौजदारी विवादों के लिए राजस्थान में एक्जीक्यूटिव मजिस्ट्रेट के न्यायालय भी हैं। राजस्थान प्रशासनिक सेवा के सदस्यों की नियुक्ति एक्जीक्यूटिव मजिस्ट्रेट के रूप में की जाती है। इन न्यायालयों में स्थानीय अधिनियम यथा गैम्बलिंग एक्ट, राजस्थान एक्साइज एक्ट, केटल ट्रेसपास एक्ट आदि के अन्तर्गत आने वाले मामलों की सुनवाई होती है। इसके अतिरिक्त क्रिमिनल प्रोसिजर कोड़ के सेक्शन 107, 109, 14 के अन्तर्गत आने वाले मामले भी इसकी अधिकार सीमा में आते हैं। एक्जीक्यूटिव मजिस्ट्रेट के निर्णयों के विरूद्ध पहले सेशन न्यायालय में एवं उसके बाद यदि आवश्यक हो तो उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

एक्जीक्यूटिव मजिस्ट्रेट के न्यायालय अन्य न्यायालयों से भिन्न है। इन पर प्रशासकीय नियंत्रण राज्य सरकार के द्वारा किया जाता है। इनकी पदोन्नति, स्थानान्तरण तथा इनके विरूद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही सम्बन्धी मामले भी राज्य सरकार की अधिकार सीमा में आते हैं। इन न्यायालयों पर उच्च न्यायालयों का प्रशासनिक नियंत्रण नहीं होता।

(3) मालगुजारी न्यायालय (Revenue Courts)

भूमि सम्बन्धी मालगुजारी के मुकदमे इसमें दायर किये जाते हैं। मालगुजारी न्यायालय में राजस्व मण्डल सबसे बड़ा न्यायालय होता है। राजस्व मण्डल राज्य का उच्चतम राजस्व न्यायालय है। इसे अपीलीय तथा पुनरीक्षण की शक्तियाँ प्राप्त हैं। उच्च न्यायालय उस दशा में हस्तक्षेप कर सकता है, जब किसी दीवानी तथा राजस्व न्यायालय के मध्य अधिकार सीमा का विवाद हो अथवा राजस्व मण्डल ने अपने अधिकारों का उपयोग गलत रूप से किया हो।

राजस्थान में राजस्व मण्डल की स्थापना राजस्थान भू–राजस्व अधिनियम, 1956 के अन्तर्गत की गई है। इसमें कम से कम 5 सदस्य होते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा के सुपर टाइम स्केल सदस्यों को बोर्ड में नियुक्त किया जा सकता है। राजस्थान का राजस्व मण्डल अजमेर में स्थित है।

राजस्व बोर्ड के नीचे राजस्व अपीलीय प्राधिकरण का न्यायालय होता है। उसके नीचे जिलाधीश, उप जिलाधीश तथा सहायक जिलाधीश के न्यायालय होते हैं। इसके बाद तहसीलदार तथा नायब तहसीलदार के न्यायालय हैं। राजस्व मामलों में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार,, सहायक जिलाधीश का होता है। राजस्व सम्बन्धी विवादों के अतिरिक्त सहायक जिलाधीश के पास एक्जीक्यूटिव तथा एक्जीक्यूटिव आफिसर का भी कार्य रहता है। सहायक जिलाधीश के निर्णयों के विरूद्ध राजस्व अपीलीय प्राधिकरण में अपील की जा सकती है। राजस्व मण्डल सभी अधीनस्थ राजस्व न्यायालयों के विरूद्ध अन्तिम अपील को सुनता है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- जिला न्यायालय – जिले के अन्तर्गत आने वाले दीवानी मामलों की सुनवाई जिला न्यायालय में की जाती है, इन्हें दीवानी न्यायालय भी कहते हैं।
- जिला सत्र न्यायालय – फौजदारी मामलों की सुनवाई जिला सत्र न्यायालय में की जाती है। इनको फौजदारी न्यायालय भी कहते हैं।
- जिला न्यायालय को दस हजार रूपये से अधिक का

विवाद सुनने का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

- सिविल जज न्यायालय – जिला स्तरीय न्यायालयों के नीचे सिविल जज न्यायालय होते हैं। सिविल जज न्यायालय को दस हजार रूपये से नीचे के मुकदमे सुनने का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है।
- मुंसिफ मजिस्ट्रेट न्यायालय – सिविल जज के नीचे मुंसिफ मजिस्ट्रेट का न्यायालय होता है। न्यून धनराशि के झगड़े इसी न्यायालय में निपटाये जाते हैं।
- अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों के विरूद्ध जिला न्यायालय में अपील की जा सकती है।
- जिला न्यायालय के निर्णयों के विरूद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।
- राजस्व मण्डल मालगुजारी, भू–राजस्व सम्बन्धी मामलों का सर्वोच्च न्यायालय राजस्व मण्डल है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. जिला स्तरीय न्यायालय की स्थापना की जाती है –
   (अ) जिले में (ब) तहसील में
   (स) ग्राम पंचायत में (द) ग्राम में ( )
2. विवाह सम्बन्धी मुकदमें सुने जाते हैं –
   (अ) जिला न्यायालय में (ब) सत्र न्यायालय में
   (स) राजस्व मण्डल में (द) उच्चतम न्यायालय में( )
3. दस हजार रूपये तक के विवाद सुने जाते हैं –
   (अ) सिविल जज न्यायालय में (ब) उच्च न्यायालय में
   (स) जिला न्यायालय में (द) राजस्व मण्डल में ( )
4. सत्र न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध अपील की जा सकती है ?
   (अ) उच्च न्यायालय में (ब) उच्चतम न्यायालय में
   (स) जिला न्यायालय में (द) राजस्व मण्डल में ( )
5. राजस्थान में राजस्व मण्डल की स्थापना कब की गई थी?
   (अ) 1956 (ब) 1960
   (स) 1947 (द) 1950 ( )
6. अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध अपील सुनी जाती है –
   (अ) जिला एवं सत्र न्यायालय
   (ब) राजस्व मण्डल में
   (स) उच्च न्यायालय में
   (द) उच्चतम न्यायालय में ( )
7. यदि कोई जिला सत्र न्यायालय किसी को मृत्युदण्ड दे दे तो इसकी पुष्टि आवश्यक है –
   (अ) जिला न्यायालय से (ब) उच्च न्यायालय से
   (स) उच्चतम न्यायालय से (द) राजस्व मण्डल से ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. जिला न्यायालय किसे कहते हैं?
2. सत्र न्यायालय में कौन से मुकदमे सुने जाते हैं?
3. राजस्व मण्डल में कितने सदस्य होते हैं ?
4. भूमि कर सम्बन्धी मामले सुने जाते हैं ?
5. राजस्थान राजस्व मण्डल कहाँ स्थित है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. दीवानी मुकदमे किसे कहते हैं ?
2. फौजदारी मुकदमों की सुनवाई कहाँ की जाती है ?
3. मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट किसे कहते हैं ?
4. जिला एवं सत्र न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति कौन करता है ?
5. एक्जीक्यूटिव मजिस्ट्रेट अन्य न्यायालयों से किस प्रकार भिन्न है ?
6. जिला न्यायालय व जिला सत्र न्यायालय में क्या अन्तर है?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जिला न्यायालय का गठन एवं शक्तियों का वर्णन कीजिये।
2. जिला सत्र न्यायालय के गठन एवं शक्तियों का वर्णन कीजिये।
3. राजस्व मण्डल की संरचना एवं दायित्वों का उल्लेख कीजिये।

उत्तरमाला

1. अ 2. अ 3. अ 4. अ 5. अ 6. अ 7. ब

इकाई–VIII

अध्याय–20

प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण

(Judicial Control Over Administration)

प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण से तात्पर्य है, न्यायपालिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण किस प्रकार एवं किन उपायों द्वारा रखा जाता है। प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की व्यवस्था उतनी ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है जितनी कि प्रशासन पर विधायी नियंत्रण।

न्यायपालिका सरकार का तीसरा एवं महत्त्वपूर्ण अंग है जिसका कार्यक्षेत्र देश के कानूनों की व्याख्या करना और उन्हें भंग करने वालों को दण्ड की व्यवस्था करना है। लोक प्रशासन के सन्दर्भ में न्यायपालिका का प्रमुख उत्तरदायित्व नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना तथा प्रशासनिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों को उनकी सीमाओं में बांधना है। संविधान एक ऐसे साधन को जन्म देता है, जिसके द्वारा अत्याचार, भ्रष्टाचार आदि दोनों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सके। भारत में न्यायपालिका को सर्वोच्चता एवं स्वतंत्रता प्रदान की गई है। भारतीय न्याय व्यवस्था को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति से सुसज्जित किया गया है। भारतीय न्यायपालिका ब्रिटेन की भांति कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया पर कार्य करती है।

दूसरी ओर भारत में लोक कल्याणकारी राज्य के विकास ने यह आवश्यक बना दिया है कि नौकरशाही द्वारा की जाने वाली गलतियों, तथा शक्ति के दुरूपयोग को रोकने के लिए नये संरक्षणों की व्यवस्था की जाये। लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में विश्वास व प्रशासन पर नियंत्रण के लिए ''लोकपाल'' जैसी संस्थाओं को कायम किया गया है। लोकपाल के माध्यम से प्रशासनिक अधिकारियों एवं राजनीतिक कार्यपालिका पर नियंत्रण का प्रयास किया गया है।

न्यायपालिका सार्वजनिक अधिकारों की वैधानिकता को निश्चित करने का प्रयास करती है ताकि सभी नागरिक अपने अधिकारों व स्वतंत्रताओं का प्रयोग कर सके। जब भी सार्वजनिक अधिकारी सामान्य जनता के अधिकारों का अतिक्रमण करने लगता है तो न्यायपालिका उसकी रक्षक बन जाती है। इसकी एक बड़ी शर्त यह है कि न्यायालय अपनी इच्छा से प्रशासन के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता, वे सत्ता के दुरूपयोग से नागरिकों को तब तक नहीं बचा सकते जब तक कोई भी व्यक्ति, समूह या संस्था न्यायालय में आवेदन पत्र देकर उससे इस आधार पर हस्तक्षेप करने की प्रार्थना न करे कि सरकारी अधिकारियों के किसी कार्य से उनके अधिकारों का हनन या अतिक्रमण हुआ है या होने की सम्भावना है।

भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में कार्यपालिका देश के कानून के अनुसार शासन का संचालन करती है। न्यायपालिका का यह दायित्व है कि वह इस बात की लगातार देखभाल करती रहे कि इन कानूनों का पालन किस सीमा तक किया जा रहा है।

भारतीय संविधान में न्यायपालिका को कार्यपालिका से स्वतंत्र रखने की व्यवस्था की गई है। न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा होती है किन्तु वे उसके द्वारा हटाये नहीं जा सकते। उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को संसद के दोनों सदनों की संयुक्त प्रार्थना पर ही हटाया जा सकता है। अतः न्यायपालिका भय रहित होकर अपने दायित्वों का निष्पादन करती है।

भारत के उच्चतम न्यायालय को परामर्शदात्री अधिकार भी सौंपे गये है। राष्ट्रपति किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर उच्चतम न्यायालय से कानूनी परामर्श मांग सकता है। उच्चतम न्यायालय प्रत्येक विषय पर परामर्श देने के लिए बाध्य नहीं है। किसी विषय पर यह परामर्श देने से इनकार भी कर सकता है।

न्यायिक नियंत्रण के अवसर

जब किसी व्यक्ति, संस्था या समूह के अधिकारों का उल्लंघन होता है तो वह न्यायालय की शरण में जा सकता है। न्यायालय उस संस्था, व्यक्ति या सरकार को ऐसा करने से मना करेगा तथा उसके विरूद्ध दण्डात्मक कार्यवाही करता है। ये नियंत्रण के अवसर निम्न हैं :

(1) अधिकार–क्षेत्र का अभाव (Lack of Jurisdiction)

जब एक अधिकारी अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्य करता है तो प्रभावित व्यक्ति उसके विरूद्ध न्यायालय में अपील कर सकता है। प्रत्येक अधिकारी को कुछ विशेष क्षेत्र में कुछ निश्चित शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यदि वह इससे बाहर कार्य करेगा तो उसके अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण माना जायेगा तथा उसके कार्य प्रभावहीन रहेंगे। अधिकार क्षेत्र के बाहर के कार्यों में प्रायः तथ्यों की गलत व्याख्या की जाती है और परिस्थितियों को

गलत रूप में समझा जाता है। न्यायालय का कार्य है कि वह सही व्याख्या प्रस्तुत करें।

(2) पद का अनुचित प्रयोग (Abuse of Power)

जब कोई अधिकारी अपने पद का प्रयोग किसी व्यक्तिगत कारण के लिए दूसरे व्यक्ति को हानि पहुंचाने के लिए करता है तो यह उसके पद व विवेक का दुरूपयोग कहा जायेगा। इस प्रकार के मामलों को प्रमाणित करना अत्यन्त कठिन होता है किन्तु यह न्यायिक जांच के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें एक अधिकारी बदले की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है। ऐसी स्थिति में प्रभावित व्यक्ति न्यायालय की शरण में जा सकता है। अतः न्यायालय प्रशासन की जांच व नियंत्रण का कार्य सम्भाल लेता है।

(3) वैधानिक त्रुटि (Error of Law)

जब किसी अधिकारी को कानून का पालन करने के लिए शक्ति दी जाती है तो वह नागरिकों पर ऐसे उत्तरदायित्व लाद देता है जो वास्तव में उस सीमा से बाहर होते हैं। अतः न्यायालय कानून की गलत व्याख्या रोकने के लिए कार्यवाही करता है।

(4) तथ्यों का पता लगाने में त्रुटि (Error in Fact finding)

यदि कोई सरकारी अधिकारी अपने किसी प्रशासनिक कार्य में तथ्यों का अच्छी तरह से पता लगाये बिना किसी नागरिक को उसे हानि पहुंचाने वाला आदेश देता है तो नागरिक अपने अधिकार की रक्षा के लिए न्यायालय की सहायता ले सकता है जैसे स्वास्थ्य निरीक्षक किसी पशु के बारे में यह आदेश देता है कि यह बीमार है इसलिए इसे मार दिया जाये। यहां तथ्य सम्बन्धी प्रश्न उठता है कि क्या पशु वास्तव में बीमार है और यदि बीमार भी है तो जन स्वास्थ्य की दृष्टि से उसे मार देना चाहिये या नहीं। यदि पशु का मालिक यह अनुभव करे कि पशु बीमार नहीं है तो वह स्वास्थ्य निरीक्षक के विरूद्ध न्यायालय में न्याय हेतु जा सकता है।

(5) प्रक्रिया सम्बन्धी त्रुटि (Error of Procedure)

न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वे इस बात को भी देखें कि सरकारी अधिकारी शासन करते समय सारे कार्य करें। यदि कार्यालय का अभिलेख यह प्रदर्शित करे कि प्रक्रिया में गलती की गई है या कुछ छोड़ा गया है तो न्यायपालिका उस प्रशासनिक कार्य को गैर कानूनी घोषित कर सकती है। उचित प्रक्रिया का उत्तरदायित्व सरकार के लिए आवश्यक माना जाता है। इसके अभाव में अनेक समस्याएं उजागर हो सकती है।

न्यायिक नियंत्रण के साधन या प्रणालियाँः–

प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण कई तरीकों से होते हैं। इनका प्रयोग करने की शक्तियाँ कुछ सीमा तक संविधान तथा व्यवस्थापिका के कानूनों द्वारा प्राप्त होती है। न्यायपालिका द्वारा अधिकारियों की स्वेच्छा के विरूद्ध भी नागरिकों की रक्षा की जाती है। प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण प्रायः निम्न तरीकों से स्थापित किया जाता है :

(1) कार्यपालिका के व्यवस्थापन को असंवैधानिक घोषित करना (By Declaring Legislation Unconstitutional)

भारत में हस्तान्तरित व्यवस्थापन की प्रक्रिया के अधीन भी कार्यपालिका कुछ कानून बनाती है। संविधान की धारा 123 व 213 राष्ट्रपति तथा राज्यपालों को संसद व राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के अवसान काल में अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। यदि कार्यपालिका द्वारा किया गया यह व्यवस्थापन संविधान सम्मत नहीं है तो न्यायपालिका उसे गैर–कानूनी घोषित कर सकती है।

(2) कानूनी शक्तियों का प्रयोग–प्रत्यायोजित विधान (Use of Judicial Powers- Delegation of Legislation)

भारत में न्यायालयों को यह शक्ति दी गई है कि वे प्रत्यायोजित विधायी शक्ति के किसी प्रश्न के सम्बन्ध में यह निर्धारित करे कि प्रत्यायोजन के लिए कानूनी सत्ता थी अथवा नहीं या जो व्यवस्थापन किया है वह कानूनी सीमा में आता है अथवा नहीं। सिद्धान्त के अनुसार मूल व्यवस्थापन का कार्य प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता, केवल कम महत्व का व्यवस्थापन किया जा सकता है। भारत के उच्चतम न्यायालय ने प्रत्यायोजित सत्ता के अधीन बनाये गये नियमों की जांच के लिए मापदण्ड निर्धारित किये हैं। यदि नियम इन मापदण्डों पर खरा उतरता है तो उचित है अन्यथा नहीं। अतः किसी भी नियम को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह प्रत्यायोजित सत्ता के अधीन नहीं आता।

(3) प्रशासकीय निर्णय के विरूद्ध अपीलें (Appeals of Administrative Decisions)

न्यायालय समय–समय पर प्रशासनिक सत्ता के निर्णयों के विरूद्ध अपीलें सुनते रहते हैं। न्यायिक नियंत्रण का तरीका केवल वहीं अपनाया जाता है जहां कानून द्वारा इस प्रकार की अपील करने का अधिकार है। कानूनी व्याख्या से सम्बन्धित प्रश्नों में अपील की यह सुविधा प्रदान की जाती है।

(4) करारोपण के विरूद्ध अपील (Appelagaint Taxation)

कार्यपालिका को यह अधिकार प्राप्त है कि सार्वजनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए करों के माध्यम से वित्त की व्यवस्था करे। वही कर एकत्रित किया जा सकता है जो कानून सम्मत हो। संविधान के अनुच्छेद 265 के अनुसार कानून की सत्ता के अतिरिक्त न तो कोई कर लगाया जाये और न ही एकत्रित किया जाये। यदि कोई सरकार गैर कानूनी ढंग से कर एकत्रित करती है तो न्यायालय उसकी वैधता की जांच कर सकता है।

(5) सरकार विरोधी अभियोग (Allegations against Government)

नागरिकों को स्वतंत्रता व अधिकार संविधान द्वारा दिये जाते हैं। संविधान ही इनकी रक्षा के लिए उत्तरदायी हैं। इनकी रक्षा के लिए राज्य के विरूद्ध भी न्यायालय में अभियोग लगाया जा सकता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 300 में कहा गया है कि भारतीय सरकार द्वारा अथवा उसके विरूद्ध अभियोग प्रस्तुत किया जा सकता है।

(6) सरकारी अधिकारी विरोधी अभियोग (Allegations against Government Officers)

समस्त सरकारी अधिकारी अपने कार्यों के लिए न्यायालय के प्रति उत्तरदायी हैं। प्रशासन से किसी भी प्रकार की शिकायत होने पर कोई भी नागरिक न्यायालय की शरण ले सकता है। राज्य सरकार एवं संघ सरकार के मंत्रियों के विरूद्ध साधारण नागरिक की भांति कार्यवाही की जा सकती है। लेकिन भारतीय संविधान राष्ट्रपति एवं राज्यपालों को न्यायिक कार्यवाही से उन्मुक्ति प्रदान करता है। राष्ट्रपति को उसके कार्यकाल में बन्दी नहीं बनाया जा सकता और न ही कारावास का दण्ड दिया जा सकता।

असाधारण उपचार (Extraordinary Remedies)

न्यायपालिका द्वारा प्रशासन पर नियंत्रण रखने के लिए विभिन्न प्रकार के लेख जारी किये जाते हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32(2) के अनुसार उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए आवश्यक आदेश, निर्देश तथा लेख निकाल सकती है। अनुच्छेद 226 के अनुसार उच्च न्यायालयों को भी इसी प्रकार की शक्तियां दी गई है।

इन असाधारण उपचारों का इतिहास काफी लम्बा है जिन्हें ब्रिटेन के संवैधानिक इतिहास में देखा जा सकता है। इन उपचारों को असाधारण इसलिए कहा जाता है कि बन्दी प्रत्यक्षीकरण को छोड़कर अन्य सभी लेख न्यायालय द्वारा किसी के अधिकारों के रूप में नहीं वरन् उसकी स्वेच्छा से प्रसारित किये जाते हैं और वहीं प्रसारित किये जाते हैं जहां अन्य उपचार अपर्याप्त सिद्ध हों।

प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण के इन विभिन्न लेखों का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है :

(1) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)

लेटिन भाषा के इस शब्द का अर्थ है, सशरीर रूप में उपस्थित होना। इस लेख के अनुसार ऐसे व्यक्ति को आज्ञा देना है जिसने किसी अन्य व्यक्ति को बन्दी बना रखा है। उस व्यक्ति को यह आज्ञा देना है कि बन्दी बनाये गये व्यक्ति को न्यायालय के समक्ष उपस्थित किया जाये। इसका प्रमुख लक्ष्य गैर कानूनी रूप से बन्दी बनाये गये व्यक्ति को स्वतंत्र कराना है। इसके माध्यम से बन्दी बनाये गये व्यक्ति को तुरन्त न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है तथा बन्दी बनाये जाने की वैधता की जांच करता है। इस लेख का प्रमुख उद्देश्य गैर–कानूनी रूप से बन्दी बनाये जाने की परम्परा पर रोक लगाना है।

(2) परमादेश (Mandamus)

इस लेख का शाब्दिक अर्थ है कि आज्ञा देना। यह एक ऐसा लेख होता है जो सरकारी अधिकारियों के लिए प्रसारित किया जाता है। इसके द्वारा उस अधिकारी को यह आज्ञा दी जाती है कि वे उन कर्तव्यों का पालन करे जिनको उन्होंने अब तक भुला दिया है। यह लेख न्यायालय द्वारा स्वेच्छा से प्रसारित किया जाता है। इस लेख द्वारा न्यायालय सरकारी अधिकारी को किसी न किसी प्रकार से कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है।

(3) प्रतिषेध (Prohibition)

यह लेख उच्च स्तरीय न्यायालय द्वारा नीचे के न्यायालय को जारी किया जाता है। इसका उद्देश्य नीचे के न्यायालय को ऐसा कार्य करने से रोकना है जो उसे कानूनी रूप से मिला हुआ नहीं है। निषेध आज्ञा को केवल सरकारी अधिकारी के विरूद्ध ही प्रसारित किया जा सकता है। यह लेख उच्च न्यायालय द्वारा छोटी अदालतों को उस समय जारी किया जाता है जब वे अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्य करती हैं। यह लेख अधिनस्थ न्यायालयों को विवादपूर्ण विषयों पर विचार करने से रोकता है।

(4) उत्प्रेषण लेख (Certiorari)

इसका शाब्दिक अर्थ है, प्रमाणित होना या निश्चित

होना। यह एक ऐसा लेख है जो किसी उच्च न्यायालय द्वारा निम्न अभिलेख न्यायालय या अन्य न्याय कार्य करने वाले अभिकरण या अधिकारी को प्रसारित किया जाता है। उत्प्रेषण लेख द्वारा बडा न्यायालय छोटे न्यायालय से सभी प्रकार के रिकार्ड इस बात की जांच पड़ताल के लिए मंगवा सकता है कि अधीनस्थ न्यायालय अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्य तो नहीं कर रहा है। इस लेख को प्रायः न्यायिक कार्य के विरूद्ध ही प्रसारित किया जाता है। इस आधार पर छोटी अदालत का निर्णय रूक जाता है अथवा खण्डित हो जाता है।

(5) अधिकार पृच्छा (Quo Warranto)

अधिकार पृच्छा लेख द्वारा कोई व्यक्ति यदि गैर–कानूनी रूप से किसी पद या अधिकार का प्रयोग करता है तो न्यायालय उसे ऐसा करने से रोक सकता है। किसी भी कार्य की वैधानिकता की जांच के लिए इस प्रकार का लेख विशेष परिस्थितियों में प्रसारित किया जाता है जिसके सम्बन्ध में यह लेख जारी किया जाता है कि वह सरकारी होना चाहिए, यह किसी व्यक्तिगत या गैर सरकारी कार्यालय के विरूद्ध प्रसारित नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि भारतीय प्रशासन पर नियंत्रण के लिए संविधान में साधारण एवं असाधारण उपायों का प्रावधान किया गया है। जिन न्यायिक उपायों का प्रयोग प्रशासन पर नियंत्रण के लिए किया गया है वे निश्चित ही कारगर व स्थाई है। इन उपायों की उपयोगिता अपने आप में निर्विवाद रूप से सिद्ध है। भारतीय लोकतंत्र की रक्षा व नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए इन उपायों को अपनाया जाना आदर्श न्याय व्यवस्था का उदाहरण है।

भारत में न्यायपालिका के आधुनिक आयाम (New Horizons in the Indian Judiciary)

पिछले कुछ दशकों में उच्चतम न्यायालय के दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन आ रहा है और वह एक अनुदारवादी न्यायालय के स्थान पर प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले न्यायालय का रूप ग्रहण करता जा रहा है। वह व्यक्तिगत हितों के संरक्षण के साथ–साथ सामाजिक हित के संरक्षक के रूप में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करने लगा है।

संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन न्याय पाने का अधिकार उसी व्यक्ति को है जिसके मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता है। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने अपने नवीनतम निर्णय में अनुच्छेद 32 को विस्तृत कर दिया है।

जनहित याचिका (Public Interest Litigration - PIL) :

जनहित याचिका वह प्रक्रिया है जिसके तहत गरीब व असहाय लोगों, जो कि सामाजिक अयोग्यता, गरीबी तथा अज्ञानता के कारण अपने अधिकारों के लिए अदालत के सामने नहीं जा पाते, उनकी तरफ से किसी भी जन प्रतिनिधि अथवा सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा अदालत में उनके अधिकारों को रखा जाता है। यह आवश्यक नहीं कि जनहित याचिका वकील के माध्यम से विधिक प्रक्रिया अनुसार ही न्यायालय के समक्ष रखी जावे। न्यायालय साधारण पोस्टकार्ड व समाचारपत्रों की सूचना को भी जनहित याचिका के तहत स्वीकार कर सकता है।

जनहित याचिका के लिए यह आवश्यक है कि इसमें याचिकाकर्ता का निजी हित या स्वार्थ नहीं होना चाहिये अपितु सार्वजनिक हित निहित होना चाहिये चाहे स्वयं उस मामले में भुक्तभोगी नहीं हो। उच्चतम न्यायालय के द्वारा हाल ही में कुछ ऐसे मामलों को प्रकाश में लाया गया है जो जनहित याचिकाओं से जुड़े हुए हैं।

जैसे :– आगरा प्रोटेक्शन होम केस

आगरा प्रोटेक्शन होम में लगभग 70–80 लड़कियां रहती थी इन लड़कियों के बारे में इण्डियन एक्सप्रेस अखबार में यह खबर छपी कि आवासगृह में उनके साथ मानवीय व्यवहार नहीं हो रहा है। इन लड़कियों को रहने व कार्य करने के लिए मानवोचित परिस्थितियां प्रदान नहीं की गई हैं। यहां तक कि उनके लिए स्नानघर नहीं है और शौचालय भी बिना दरवाजे के हैं। न्यायालय ने इण्डियन एक्सप्रेस की खबर को जनहित याचिका माना। इन लड़कियों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे अपने अधिकारों के लिए न्यायालय में जा सकें, चूंकि वे सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से अलाभकर स्थिति में थी। ऐसी परिस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय ने कानून के दो प्रोफेसरों को इन लड़कियों की ओर से पैरवी करने की स्वीकृति प्रदान की।

जनहित याचिका का दूसरा उदाहरण बिहार के भागलपुर जेल के विचाराधीन कैदियों का मामला था जो एक अखबार में छपी खबर के बाद प्रकाश में आया था। इस मामले की शुरूआत पुलिस आयोग के सदस्य के. एफ. रूस्तमजी द्वारा इण्डियन एक्सप्रेस में लिखे एक लेख से हुई। इस लेख में उन्होंने लिखा कि बिहार की जेलों में सैकड़ों कैदी सड़ रहे हैं। उनके मामले वर्षों से विचाराधीन हैं। लेख में ऐसे सात कैदियों के नाम दिये थे जिन्हें जेल में पांच साल से भी अधिक समय हो गया था और उन पर अभी तक मुकदमा प्रारम्भ नहीं हुआ था। इस खबर के आधार पर एडवोकेट

श्रीमती हिंगोरानी ने संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर की। प्रेस की खबर के आधार पर उन्होंने ऐसे सात कैदियों के नाम का उल्लेख याचिका में किया था यचिका में यह भी कहा गया था कि ऐसे सैंकड़ों कैदी और हैं जो वर्षों से बिहार की जेलों में बन्द हैं और न ही उनके मामले की सुनवाई प्रारम्भ की गई है।

इस याचिका के आधार पर भारत का सर्वोच्च न्यायालय सक्रिय हो गया और अपनी न्यायिक सक्रियता का परिचय दिया। न्यायालय ने बिहार सरकार को नोटिस जारी कर दिया और उससे पूछा कि वह उन कैदियों की सूची मय हलफनामे के उच्चतम न्यायालय में प्रस्तुत करें जिनके मामले वर्षों से विचाराधीन है तथा जिनका जेलों में बन्द 18 महिनों से अधिक का समय व्यतीत हो चुका है। बिहार सरकार ने जब हलफनामा प्रस्तुत किया तो ऐसे कैदियों की संख्या हजारों थी। सर्वोच्च न्यायालय ने इस याचिका के माध्यम से हजारों कैदियों को मुक्त किया।

अतः उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जनहित याचिकाओं का भारतीय परिवेश में विशिष्ट महत्व है क्योंकि भारत की अधिकांश जनता अशिक्षित, गरीब व कानून की जानकारी नहीं रखती। इसलिए जनहित याचिकाओं के माध्यम से जनता के सार्वजनिक हितों की रक्षा की जा सकती है।

न्यायिक सक्रियता और उसका बदलता स्वरूप (Judicial Activism And Its Changing Nature)

न्यायिक सक्रियता से तात्पर्य है कि न्यायपालिका की सक्रियता को न्यायिक सक्रियतावाद कहा जाता है। जब सर्वोच्च न्यायालय किसी ऐसे सार्वजनिक मामले की सुनवाई स्वयं आगे बढ़कर करे जिसका आधार समाचारपत्रों की सूचना, लेख या पोस्टकार्ड आदि की सूचना को आधार मानकर कर करता है, न्यायिक सक्रियता कहलाता है। न्यायिक सक्रियता के अन्तर्गत ऐसे मामलों का निपटारा किया जाता है जो जनहित एवं सामाजिक कल्याण से जुड़े हों एवं उनका हल पारम्परिक न्यायिक प्रक्रिया के अन्तर्गत हो पाना असम्भव हो। न्यायालय ऐसे मामलों की व्याख्या करता है तथा उनका पक्ष लेता है, इसके लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि न्यायालय ऐसे मामलों में पारम्परिक न्याय प्रक्रिया तथा पूर्व निर्धारित नियमों का ही पालन करें।

उद्‌भव एवं विकास (Emergence and Development)

न्यायिक सक्रियता का सिलसिला 1978 में उच्चतम न्यायालय के प्रमुख न्यायाधीश आई. के मणि अय्यर के कार्यकाल में शुरू हुआ था। उस वर्ष मध्यप्रदेश के रतलाम शहर की नगरपालिका की अकर्मण्यता के विरूद्ध, वहां के एक नागरिक ने उच्चतम न्यायालय में एक याचिका प्रस्तुत कर कहा था कि नगर निगम नागरिकों से टैक्स की वसूली तो कर रहा है लेकिन अपनी जवाबदेही का निर्वाह नहीं कर रहा तथा गन्दगी से बीमारियां बढ़ने लगी हैं। न्यायाधीश के मणि अय्यर ने याचिका सुनवाई के लिए स्वीकृति कर ली। यह स्वीकृति ऐतिहासिक साबित हुई तथा 25 वर्षों के अन्तराल में जनहित याचिकाओं की बाढ़ सी आ गई।

जनहित मुकदमों में न्यायिक सक्रियता के विकास में न्यायमूर्ति आई. के मणि अय्यर, पी. एन. भगवती, ए. एम. अहमदी जैसे मुख्य न्यायाधीशों का हाथ रहा। न्यायमूर्ति के मणि अय्यर का कहना है कि ''जब विधायिका कार्यपालिका को ठीक करने में अक्षम हो और संसद स्वयं पंगु हो तो देश की न्यायिक शून्यता को कौन भरेगा।'' न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती का कहना है कि जब कार्यपालिका अपनी संवैधानिक और कानूनी जिम्मेदारियों को निभाने में असफल होती है और इस पर विधायिका हाथ पर हाथ धरे बैठी रहती है तो न्यायपालिका को आगे आना ही होगा।

न्यायिक सक्रियता के विकास के कारण (Reasons for Emergence Judicial activism)

न्यायपालिका को सक्रिय होने के कारण में अनेक तत्वों का सहयोग रहा है जो निम्नलिखित हैं :

(i) राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक दृष्टि से संवदेनशील मुद्दों पर कार्यपालिका द्वारा निर्णय नहीं लिये जाना अथवा उसे टालना।

(ii) संसद का पंगु होना अर्थात् जब विधायिका कार्यपालिका को अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिए बाध्य करने में विफल रहना।

(iii) कार्यपालिका अथवा विधायिका राजनीतिक मुद्दों को न्यायालय की ओर खिसका देती है। उदाहरणार्थ मन्दिर व मण्डल मुद्दों पर कार्यपालिका और विधायिका दोनों ने अपनी जिम्मेदारी से बचने का प्रयास किया।

(iv) कार्यपालिका अपनी अकर्मण्यता व भ्रष्टाचार के कारण तथ्यों को छुपाना चाहती है तो सही जानकारी करने के लिए नागरिक न्यायालय का सहारा लेते हैं।

(v) गरीब, असहाय, शोषित लोगों की व्यथाओं को दूर करने के लिए ऐसे मामलों को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

(vi) नई आर्थिक नीति ने भी जनहित याचिकाओं में वृद्धि की है।

(vii) भारत के संविधान में ऐसी अनेक व्यवस्थाएं हैं जिनके तहत न्यायालय अपनी सक्रियता को बढ़ावा दे सकता है। उदाहरणार्थ अनुच्छेद 144 के तहत पूर्ण निर्णय के लिए कोई आदेश दे सकती है। अनुच्छेद 32 के तहत उच्चतम न्यायालय व 226 के तहत उच्च न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा कर सकता है।

न्यायिक सक्रियता का उभरता दौर (Emerging of Judicial activism)

1996–98 की अवधि में न्यायपालिका की सक्रियता अभूतपूर्व कही जा सकती है। जनहित याचिकाओं के जरिये शीर्ष पर व्याप्त भ्रष्टाचार को निशाना बनाया जाने लगा। जैन हवाला काण्ड इसका उदाहरण है। 300 करोड़ रूपये का दूरसंचार घोटाला तथा पूर्व केन्द्रीय मंत्री शीला कोल द्वारा 8700 सरकारी आवासों को मनमाने ढंग से आवंटन का मामला प्रकाश में लाया गया। इसी तरह न्यायिक सक्रियता के अन्य उदाहरण निम्न प्रकार हैं :

(i) उच्चतम न्यायालय ने 25 अगस्त 1995 को कर्नाटक के मुख्य सचिव जे. वासुदेवन को अदालत के निर्देश की अवमानना के जुर्म में एक माह के कारावास की सजा सुनाई।

(ii) उच्चतम न्यायालय ने 12 अक्टूबर, 1995 को चण्डीगढ़ के मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को आदेश दिया कि पंजाब के पुलिस महानिदेशक के. पी. एस. गिल के विरूद्ध रूपन देवल बजाज के साथ अश्लील हरकते करने के आरोप में मुकदमा चलाया जावे।

(iii) उच्चतम न्यायालय ने 24 नवम्बर, 1995 को स्पष्ट किया कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश व सरकार के बीच नौकर व मालिक जैसा सम्बन्ध नहीं हो सकता। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को केन्द्र या राज्य सरकार के मातहत तैनात भी नहीं किया जा सकता क्योंकि न्यायाधीश लोकतंत्र के तीसरे स्तम्भ हैं वे विधायिका व कार्यपालिका से पूरी तरह स्वतंत्र हैं।

(iv) इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने 25 जुलाई, 1996 को तत्कालीन प्रधानमंत्री एच. डी. दवगौडा की नियुक्ति के बारे में दायर याचिका पर केन्द्र सरकार को नोटिस जारी कर न्यायिक सक्रियता दिखाई। यह राष्ट्रपति के अधिकारों का अतिक्रमण है क्योंकि प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति के विवेकाधिकार के तहत सुनिश्चित है।

न्यायिक सक्रियता की आलोचना (Criticism of Judicial Activism)

कुछ विद्वानों व विधि विशेषज्ञों का मानना है कि न्यायपालिका की अत्यधिक सक्रियता कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के कार्यों में हस्तक्षेप है जिससे डर व भय का वातावरण विधायिका व कार्यपालिका में पैदा हुआ है अतः आलोचक न्यायिक सक्रियता के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क देते हैं :–

(1) शासन के दूसरे अंगों के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करना (Interference)

आलोचकों का कहना है कि न्यायिक सक्रियता के तहत न्यायालय शासन के दूसरे अंगों (कार्यपालिका व विधायिका) के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने लग रही है। इससे संविधान में प्रदत्त अधिकारों एवं शक्तियों में संतुलन बिगड़ने की सम्भावनाएं हैं। कांग्रेस के तत्कालीन महामंत्री बुद्धप्रिय मौर्य का कहना था कि ''उच्चतम न्यायालय तीसरे चेम्बर की तरह कार्य कर रहा है।''

(2) आक्रामक मुद्रा या रवैया (Aggressiveness)

आलोचकों का कहना है कि न्यायालय की छवि एक आक्रामक जैसी है, वह महज एक कार्यकर्ता की भूमिका से ऊपर उठकर हस्तक्षेप की मुद्रा में आ गया है।

(3) लम्बित पड़े मामले एवं अतिरिक्त बोझ (Pending Cases and Additional Burden)

आलोचकों का कहना है कि न्यायालय में पहले से ही हजारों की संख्या में मामले लम्बित पड़े हैं जिनकी ओर न्यायालय का ध्यान नहीं जाता, दूसरी ओर वह स्वंय आन्तरिक गड़बड़ियां (मन्द गति, भ्रष्टाचार, खर्चे आदि) को ठीक नहीं कर पा रहा है अपितु जनहित याचिकाओं के बोझ को स्वीकार करता जा रहा है।

(4) अति सक्रियता एवं अनावश्यक टिप्पणियां (Overactiveness and Unnecessary Remarks)

न्यायालय ने कई बार अति सक्रियता दिखाई है जो उसके अधिकार क्षेत्र के अतिरिक्त था जैसे 25 जुलाई, 1996 में प्रधानमंत्री एच. डी. देवगौडा की नियुक्ति के बारे में केन्द्र सरकार को नोटिस देना। यह राष्ट्रपति के अधिकारों का अतिक्रमण था।

(5) प्रसिद्धि पाने की लालसा (Lure to achieve fame)

कई बार तथाकथित सामाजिक कार्यकर्ता या संस्था चर्चा में आने के लिए समाज में प्रसिद्धि पाने के लिए जनहित याचिकाओं का सहारा लेती हैं।

अतः अन्त में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जहां न्यायपालिका को कुछ आलोचक तीसरे सदन की संज्ञा देते हैं वहीं इसका महत्व निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

न्यायिक नियंत्रण की सीमाएं (Limitations of Judicial control) :

भारत में न्यायपालिका का स्थान उत्तम है वह अपनी निष्पक्ष कार्यप्रणाली के द्वारा जनमानस पर अमिट छाप छोड़ती है। भारत में न्यायपालिका एक ऐसे मुकाम पर पहुंच चुकी है जो न्याय प्रणाली के साथ–साथ आर्थिक–सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। भारतीय न्याय प्रणाली में यह सारी उपयोगी विशेषताएं होते हुए भी कुछ ऐसी कमियां हैं जो सम्पूर्ण न्याय प्रणाली को बोझिल बनाती हैं जो निम्न हैं :–

(1) स्वयं पहल नहीं करती (Does not take initiative)

भारतीय न्याय प्रणाली की यह एक विशेषता कही जायेगी कि वह किसी भी मुकदमे की सुनवाई के लिए स्वयं पहल नहीं करती है अर्थात् भारतीय न्यायालय किसी भी वाद या मुकदमे को तब तक नहीं सुनते हैं जब तक कि उसे वादी या परिवादी या किसी तीसरे पक्ष द्वारा न्यायालय के समक्ष नहीं लाया जाता। न्यायालय किसी मुकदमे की सुनवाई तभी करते हैं जब वादी, प्रतिवादी या तीसरे पक्ष द्वारा उसके समक्ष लाया जाता है। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि भारतीय अदालतें मुकदमे की सुनवाई के लिए स्वयं पहल नहीं करती है।

(2) अत्यधिक खर्चीली (Much Expensive) :

भारतीय न्याय प्रणाली की दूसरी प्रमुख सीमा यह मानी जाती है कि यह अत्यधिक खर्चीली है। न्यायालय में वाद दायर करने के लिए एक परम्परागत एवं वैधानिक विधिक प्रणाली को अपनाया जाता है जिसमें अत्यधिक धन खर्च होता है। वादी व प्रतिवादी के लिए यह आवश्यक है कि वह निर्धारित प्रक्रिया के द्वारा एडवोकेट के माध्यम से न्यायालय में वाद दायर करें। वादी प्रतिवादी को एडवोकेट करने के लिए हजारों रूपये फीस चुकानी पड़ती है जो साधारण नागरिक के बूते के बाहर की बात है। अतः भारतीय न्याय प्रणाली अत्यधिक खर्चीली है।

(3) विलम्बकारी (Delaying)

भारतीय न्याय प्रणाली की तीसरी प्रमुख सीमा यह मानी जा सकती है कि यह विलम्बकारी है क्योंकि भारत के नागरिक मुकदमों का फैसला लम्बे समय तक नहीं कर पाते। कई मुकदमों में इतना विलम्ब हो जाता है कि वादी व प्रतिवादी की मृत्यु तक हो जाती है। कुछ मुकदमों में इतना विलम्ब हो जाता है कि फैसला होने तक उसकी उपयोगिता स्वयं समाप्त हो जाती है। जैसे तलाक के मुकदमे इतने लम्बे चलते हैं कि पक्षकारों की विवाह की आयु ही निकल जाती है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण का अर्थ :– इसका अर्थ यह है कि न्यायपालिका द्वारा प्रशासन के उन कार्यों को रोकना है जो संविधान तथा कानून के विपरीत होते हैं उनका उल्लंघन करने वालों को दण्डित करने का कार्य करते हैं।
- न्यायिक नियंत्रण के अवसर :– न्यायपालिका निम्न स्थितियों में हस्तक्षेप कर सकती है :– (1) अधिकार क्षेत्र का अभाव (2) विवेक का अनुचित प्रयोग (3) सांविधानिक त्रुटि (4) तथ्यों का पता लगाने में त्रुटि (5) प्रक्रिया सम्बन्धी त्रुटि
- प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण स्थापित करने के सामान्य तरीके :– (1) कार्यपालिका के व्यवस्थापन को असंवैधानिक घोषित करना (2) कानूनी शक्तियों का प्रयोग – प्रत्यायोजित विधान (3) प्रशासकीय सत्ता के विरूद्ध अपीलें (4) करारोपण (5) सरकार विरोधी अभियोग (6) सरकारी अधिकारी विरोधी अभियोग।
- असाधारण उपचार :– बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, उत्प्रेषण लेख, अधिकार पृच्छा एवं प्रतिषेध
- न्यायिक नियंत्रण की सीमाएं :– स्वयं पहल नहीं करती, अत्यधिक खर्चीली, विलम्बकारी।
- जनहित याचिका से तात्पर्य :– जब न्यायालय किसी सार्वजनिक हित के महत्त्व के प्रश्न पर प्रसंज्ञान लेते हुए उसे सुनवाई के लिए मंगवाता है उसे जनहित याचिका कहा जाता है। जनहित याचिका में शिकायतकर्ता साधारण कागज पर सूचना लिखकर न्यायालय में भेज सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. प्रशासन के कार्यों को अवैध घोषित करने का अधिकार है।
   (अ) न्यायपालिका (ब) कार्यपालिका
   (स) व्यवस्थापिका (द) राष्ट्रपति ( )
2. असाधारण उपचार का अधिकार न्यायालयों को संविधान के कौनसे अनुच्छेद में दिया गया है ?
   (अ) 360 (ब) 32
   (स) 45 (द) 356 ( )

3. यदि किसी को बन्दी बनाया गया हो तो न्यायालय कौनसा उपचार करता है ?

(अ) परमादेश (ब) निषेध

(स) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (द) उत्प्रेषण लेख ( )

4. प्रतिषेध लेख जारी किया जाता है।

(अ) न्यायालय के लिए (ब) संसद के लिए

(स) राष्ट्रपति के लिए (द) मंत्रिमण्डल के लिए ( )

5. परमादेश का शाब्दिक अर्थ है –

(अ) प्रवेश देना (ब) आज्ञा देना

(स) मना करना (द) जारी रखना ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. न्यायिक नियंत्रण क्यों आवश्यक है ?
2. प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण के लिए अधिकृत कौन है ?
3. अधिकार क्षेत्र के अभाव से क्या तात्पर्य है ?
4. प्रक्रिया सम्बन्धी त्रुटि से क्या अर्थ है ?
5. अधिकार पृच्छा का प्रयोग कब किया जाता है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. विवेक के अनुचित प्रयोग का आशय स्पष्ट करें।
2. बन्दी प्रत्यक्षीकरण का प्रयोग कब किया जाता है?
3. प्रतिषेध लेख का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।
4. न्यायिक नियंत्रण के साधारण व असाधारण उपायों में क्या अन्तर है ?
5. न्यायपालिका का वैधानिक त्रुटि से क्या आशय है ?
6. जनहित याचिका का अर्थ स्पष्ट करें।
7. न्यायिक सक्रियता क्यों आवश्यक है ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. उन अवसरों का उल्लेख कीजिए जब न्यायपालिका को प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित करने का अवसर मिलता है।
2. उन साधारण तरीकों का उल्लेख कीजिए जब न्यायालय प्रशासन पर नियंत्रण हेतु अपनाता है।
3. प्रशासन पर नियंत्रण के असाधारण तरीकों का उल्लेख कीजिए।
4. जनहित याचिका का विस्तार से वर्णन करें।
5. न्यायिक सक्रियता का अर्थ स्पष्ट करते हुए विस्तार से वर्णन करें।

उत्तरमाला

1. अ 2. ब 3. स 4. अ 5. ब

इकाई–IX

अध्याय–21

सम्भागीय आयुक्त एवं जिला प्रशासन पर पर्यवेक्षण

(Divisional Commissioner and Supervision on District Administration)

जिला स्तर राज्य प्रशासन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्तर है। भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में जिला, प्राचीन काल से ही एक महत्त्वपूर्ण इकाई रहा है। यह इकाई जनसाधारण तथा राज्य सरकार के मध्य एक व्यावहारिक कड़ी के रूप में कार्यरत है। जिला प्रशासन, स्थानीय नागरिकों की आशाओं और आकांक्षाओं का केन्द्र बिन्दु होने के साथ–साथ संघीय एवं राज्य सरकार की नीतियों तथा कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का व्यावहारिक अभिकरण भी है। जिला प्रशासन का प्रमुख अधिकारी जिलाधीश होता है। जिलाधीश की शक्तियों एवं भूमिका के अध्ययन से पूर्व जिला प्रशासन की अवधारणा एवं संगठन को समझना आवश्यक है :

जिला प्रशासन का अर्थ (Meaning of District Administration)

जिला प्रशासन की अवधारणा में 'जिला' और 'प्रशासन' दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'जिला' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता रहा है जैसे पुलिस जिला, डाक जिला, रेलवे जिला आदि। इन जिलों को पर्याप्त प्रादेशिक विभाजनों के रूप में परिभाषित किया गया है। इस प्रकार प्रशासन क्षेत्र की विभाजित इकाई के रूप में जिला शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'प्रशासन' शब्द सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध को कहा जाता है। इस प्रकार किसी एक निश्चित क्षेत्र की इकाई जिसमें सार्वजनिक कार्यों का प्रबन्ध किया जाता है। जिला प्रशासन के रूप में जानी जाती है।

जिला प्रशासन का विकास (Development of District Administration)

भारत में जिला प्रशासन प्राचीन काल से ही विद्यमान है। वैदिक काल में 100 गांवों के ऊपर एक प्रशासनिक इकाई होती थी जो आज के जिलों के समकक्ष थी। जो 'शतग्रामी' नामक अधिकारी के नियंत्रण में थी। गुप्तकाल में 'विषय' नामक इकाई जिले के समकक्ष थी। मुगल काल में 'सरकार' नामक इकाई राजस्व एकत्रण की नियंत्रण इकाई थी जो कि वर्तमान जिले के समान ही थी। इस प्रकार जिला प्राचीन काल से ही एक महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक इकाई रहा है।

जिला प्रशासन के वर्तमान स्वरूप का विकास ब्रिटिश शासन काल के दौरान हुआ है। ब्रिटिश शासन काल में जिला 'डिस्ट्रिक्ट' के रूप में पहचाना जाने लगा। 'डिस्ट्रिक्ट' एक लेटिन शब्द है जिसका अर्थ है न्यायिक प्रशासन के उद्देश्य से बनाया गया क्षेत्र। एक शब्द के रूप में 'डिस्ट्रिक्ट' से तात्पर्य किसी उद्देश्य विशेष के लिए किए गए प्रादेशिक विभाजन से है। ब्रिटिश काल में डिस्ट्रिक्ट शब्द का प्रथम प्रयोग ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा सन् 1776 में कलकत्ता जिले के दीवान के सन्दर्भ में किया गया था। उसके पश्चात् राजस्व एकत्र करने तथा शान्ति व्यवस्था बनाए रखने में जिला एक महत्त्वपूर्ण इकाई बनता चला गया।

स्वतंत्रता के पश्चात् भी भारत में राज्य प्रशासन की एक इकाई के रूप में जिला स्तर के महत्त्व को स्वीकार किया गया तथा प्रत्येक राज्य में जिलों का गठन करके प्रशासनिक व्यवस्था का विकास किया गया। यद्यपि भारत के संविधान में 'जिला' शब्द केवल अनुच्छेद 233 में, जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है।

वर्तमान में राजस्थान में 33 जिले हैं। प्रत्येक राज्य में जिलों की संख्या में परिवर्तन होते रहते हैं जैसे राजस्थान में एकीकरण के समय 26 जिले थे। 1982 में धोलपुर राज्य का 27वां जिला बना। इसके पश्चात् 10 अप्रेल, 1991 को दौसा, बारां तथा राजसमन्द नामक तीन जिले बनाए गए। 12 जुलाई, 1994 को हनुमानगढ़ तथा 19 जुलाई, 1997 को करौली नए जिले बनाए गए। क्षेत्र की दृष्टि से जिला छोटा व बड़ा दोनों हो सकता है। एक जिले का औसत क्षेत्र 4000 वर्ग मील माना जाता है।

जिला प्रशासन का महत्त्व (Importance of District Administration)

राज्य में जिला प्रशासन ही आधारभूत इकाई होती है। अतः जनता की शिकायतें जिला स्तर पर ही अधिक उभरती है। इसके अतिरिक्त गुणों व दोषों का अन्तर वास्तव में जिला स्तर पर ही अनुभव किया जाता है। राज्य विधानमण्डल के अधिकांश सदस्य जिलों से ही निर्वाचित होते हैं। वास्तव में जिले राज्य प्रशासन की ऐसी इकाई होते हैं

जहाँ न केवल सरकारी नीतियों को ही क्रियान्वित किया जाता है, अपितु जिनका नीति–निर्माताओं के चयन में भी निर्णायक प्रभाव रहता है।

दैनिक जीवन में साधारण नागरिकों का प्रत्यक्ष सम्पर्क राज्य अथवा केन्द्र से या उसके प्रशासन से न होकर जिला प्रशासन से होता है। यदि वे राज्य या केन्द्र से सम्पर्क भी करते हैं तो जिला प्रशासन के माध्यम से ही करते है। शासन प्रबन्ध ा की दृष्टि से और विकास योजनाओं के निर्माण एवं उनको क्रियान्वित करने की दृष्टि से जिला प्रशासन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

भारत में जिला प्रशासन की भूमिका और महत्ता का आभास हमें उसके उद्देश्यों से ही हो जाता है जो प्रधान रूप से निम्न प्रकार है :

(क) सरकारी कानूनों और आदेशों को अपने क्षेत्र में लागू करना;

(ख) सरकार का भू–राजस्व एकत्र करना ; एवं

(ग) जिले की जनता का अधिकाधिक कल्याण।

जिला प्रशासन के ये सभी उद्देश्य परस्पर सम्बन्धित हैं तथा एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। अपने उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में जिला प्रशासन को निरन्तर सजग और सक्रिय रहना पड़ता है। जिला प्रशासन नागरिकों तथा उनके सभी अधि ाकारों की रक्षा का प्रबन्ध करता है। सरकारी राजकोष के अधि ाकारों की रक्षा का प्रबन्ध करता है। सरकारी राजकोष के अधि ाकारी जिलाधिकारी के अधीन रहकर कार्य करते हैं। इस प्रकार वे भी जिला प्रशासन का भाग बन जाते हैं। जिले में राजस्व, आबकारी, कृषि, सिंचाई, उद्योग, खाद्य एवं नागरिक आपूर्ति, महामारियों तथा अन्य आकस्मिक आपदाओं के निराकरण, कल्याण एवं विकास कार्यों के संचालन, चुनावों के संचालन, स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के संचालन आदि विभिन्न कार्यों और दायित्वों का निर्वाह जिला प्रशासन ही करता है। जिला प्रशासन द्वारा सरकार के सभी कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य सम्पन्न किए जाते हैं जो संविधान में वर्णित नहीं है। इस प्रकार भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में जिला प्रशासन का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जिला प्रशासन के लक्षण (Features of District Administration)

1. जिला प्रशासन, स्थानीय क्षेत्रों व राज्य प्रशासन के मध्य एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।
2. जिला प्रशासन के अधीन विभिन्न राजस्व, कानून व व्यवस्था एवं विकासात्मक कार्यों को निष्पादित करने वाली प्रशासनिक इकाईयां कार्य करती है।
3. सामान्यतः जिले का औसत क्षेत्र 4000 वर्ग मील होता है।
4. सामान्यतः जिला प्रशासन के अधीन 10 लाख जनसंख्या होती है।
5. जिला प्रशासन का प्रशासनिक प्रमुख 'जिला कलेक्टर' कहलाता है। जो जिला स्तर पर सभी विभागों का मुख्य नियंत्रक एवं समन्वयक होता है।
6. प्रत्येक जिला प्रशासन एक सम्भाग की इकाई होती है जिस पर सम्भागीय आयुक्त नामक अधिकारी का नियंत्रण रहता है।

जिला प्रशासन का संगठन (Organisation of District Administration)

जिस प्रकार राज्य प्रशासन प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से अनेक इकाईयों में विभक्त रहता है उसी प्रकार जिला प्रशासन भी अनेक इकाईयों में विभाजित होता है। यद्यपि जिला प्रशासन की संगठनात्मक व्यवस्था प्रत्येक राज्य में भिन्न–भिन्न होती है लेकिन सामान्य ढांचा बहुत कुछ समान होता है। जिला प्रशासन की संगठनात्मक व्यवस्था को निम्न चार्ट द्वारा दर्शाया जा सकता है :

क्षेत्रीय व जिला प्रशासन – संगठनात्मक व्यवस्था
(राजस्थान राज्य के सन्दर्भ में)

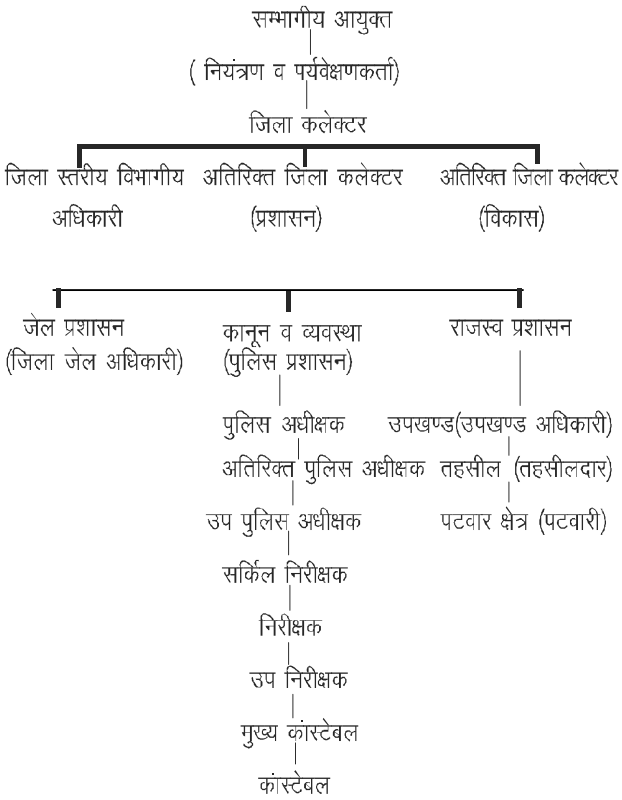

जिला प्रशासन स्तर पर प्रमुख रूप से जिला कलेक्टर मुख्य अधिकारी होता है। इस स्तर पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रखने का उत्तरदायित्व सम्भाग स्तर पर सम्भागीय आयुक्त का होता है। इसलिए सम्भागीय आयुक्त को भी जिला प्रशासन का ही अंग माना जाता है। सम्भागीय आयुक्त के सन्दर्भ में विस्तृत विवरण अध्याय के अग्रभाग में दिया गया है।

जिला स्तरीय प्रशासन के समाज के निकट होने के कारण इस स्तर पर राज्य प्रशासन के सभी विभागों की इकाईयाँ **होती है। जिला प्रशासन स्तर मुख्य रूप से चार घटकों से मिलकर बनता है :**

(1) कानून–व्यवस्था प्रशासन

जिला प्रशासन का मुख्य कार्य लोगों की सुरक्षा करना, कानून और व्यवस्था बनाए रखना, अपराधों पर नियंत्रण रखना और न्याय करना होता है। इन कार्यों का दायित्व जिला कलेक्टर का होता है जो कि पुलिस प्रशासन की सहायता से निष्पादित करता है। इसी कार्य में जेल प्रशासन की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जिला स्तर पर पुलिस प्रशासन का मुखिया पुलिस अधीक्षक होता है जो कि जिला कलेक्टर के नियंत्रण में कार्य करता है।

(2) राजस्व प्रशासन

जिला प्रशासन के कार्य का दूसरा समूह राजस्व प्रशासन से सम्बन्धित है। भू–राजस्व का निर्धारण और वसूली तथा अन्य सार्वजनिक देय और कर जैसे बिक्री कर, भूमि–अभिलेखों का रखरखाव, आम लोगों तथा सरकार और जनता के बीच हुए भूमि सम्बन्धी विवादों को निपटाना, भूमि सुधार लागू करना, कृषि जोत आदि जिला स्तर पर राजस्व कार्य हैं। जिला कलेक्टर मूल रूप से इन सभी कार्यों के प्रति उत्तरदायी होता है और उसकी सहायता के लिए राजस्व तथा अन्य विभागीय कर्मचारियों का व्यापक विस्तार होता है। जैसे उपखण्ड अधिकारी, तहसीलदार, पटवारी आदि।

(3) विकास प्रशासन

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् विकास प्रशासन का क्षेत्र व्यापक हो गया है और जिला प्रशासन ने इस व्यापक क्षेत्र में कार्य करना आरम्भ कर दिया है। समाज की प्रकृति ग्रामीण होने के कारण कृषि विकास जिला प्रशासन का एक, प्रमुख कार्य है। इसमें सिंचाई, सहकारी समितियां, पशुपालन, मछली पालन आदि कार्य शामिल हैं। यद्यपि विकास सम्बन्धी कार्यों के निष्पादन का दायित्व स्थानीय प्रशासन की संस्थाओं को सौंपा गया है लेकिन इन कार्यों पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण रखने का दायित्व जिला कलेक्टर का होता है।

(4) अन्य जिला स्तरीय विभागीय अधिकारी

प्रत्येक जिले में राज्य प्रशासन के सभी विभागों के कार्यालय स्थापित किए जाते हैं। इन कार्यालयों में जिला स्तरीय अधिकारी होते हैं। कुछ प्रमुख अधिकारी निम्न हैं :–

1. जिला उद्योग अधिकारी
2. जिला शिक्षा अधिकारी
3. जिला पशुपालन अधिकारी
4. जिला नियोजन अधिकारी
5. जिला परिवहन अधिकारी
6. मुख्य चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अधिकारी
7. जिला अल्प बचत अधिकारी

उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त जिला स्तर पर विभिन्न परियोजनाओं के अधिकारी भी जिला स्तर पर कार्यरत हैं। जैसे परियोजना अधिकारी महिला एवं बाल विकास अभिकरण, परियोजना अधिकारी हैंडलूम, परियोजना अधिकारी रेशम कीट पालन आदि। इन सभी जिला स्तरीय अधिकारियों पर प्रशासनिक नियंत्रण जिला कलेक्टर का होता है तथा तकनीकी नियंत्रण उनके विभागों का होता है। जिला कलेक्टर की सहायता के लिए अतिरिक्त जिला कलेक्टर कार्य करते हैं। अतिरिक्त जिला कलेक्टरों की संख्या प्रत्येक जिले में भिन्न–भिन्न होती है। लेकिन सामान्यतः दो अतिरिक्त जिला कलेक्टरों तो होते ही हैं एक प्रशासन से सम्बन्धित व दूसरा विकास कार्यों से सम्बन्धित।

संभागीय आयुक्त (Divisional Commissioner)

स्वतंत्रता के पश्चात् प्रत्येक राज्य में प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से विभिन्न इकाईयां निर्मित की गई, जिन्हें 'जिला' कहा जाता है। लेकिन कुछ वर्षों के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि राज्य व जिले के मध्य उचित समन्वय स्थापित नहीं हो पा रहा है, इसलिए कुछ राज्यों में राज्य एवं जिला स्तर के मध्य एक और स्तर गठित किया गया है जिसे सम्भाग कहा जाता है कुछ राज्यों में इसे मण्डल भी कहा जाता है। संभाग स्तर का सर्वोच्च अधिकारी सम्भागीय आयुक्त होता है। प्रत्येक सम्भाग में कुछ जिले सम्मिलित किए जाते हैं। सम्भागीय आयुक्त उन्हीं जिलों के प्रशासन में समन्वय स्थापित करने एवं पर्यवेक्षण रखने के लिए उत्तरदायी होता है।

भारत में सभी राज्यों में संभाग स्तर एवं संभागीय आयुक्त पद का सृजन नहीं किया गया है। लेकिन जिन राज्यों में यह व्यवस्था अपनायी गयी वहाँ यह पद सदैव विवाद का विषय रहा है अर्थात् कभी इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया तो कभी इसको पुनर्जीवित किया गया। वर्तमान में राजस्थान,

असम, बिहार, जम्मू और कश्मीर, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल ऐसे राज्य हैं जहां संभागीय आयुक्त का पद है जबकि आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, केरल, गुजरात आदि प्रमुख राज्यों में संभागीय आयुक्त का पद नहीं है।

स्वतंत्रता के पश्चात् एकीकृत राजस्थान राज्य में पांच संभागीय आयुक्त के पदों का सृजन किया गया था। ये पांच संभाग बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, उदयपुर तथा कोटा में स्थापित किए गए थे। प्रत्येक संभाग में तीन से चार जिले सम्मिलित किए गए थे। लेकिन यह व्यवस्था प्रारम्भ से ही विवाद का विषय रही है यही कारण रहा कि 1962 में राजस्थान में संभागीय आयुक्त का पद समाप्त कर दिया गया तथा उसके द्वारा किए गए कार्यों को जिला कलेक्टर व राजस्व मण्डल में विभक्त कर दिया गया। इस पद की समाप्ति का मुख्य कारण राजस्थान विधानसभा में की जाने वाली मांग थी जिसके अन्तर्गत यह मत व्यक्त किया गया कि संभागीय आयुक्त महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक कार्यों में विलम्ब का कारण बनता है तथा अनावश्यक प्रशासनिक व्यय होता है।

राजस्थान में 25 वर्षों तक संभागीय आयुक्त का पद समाप्त रहा। 25 वर्षों के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि जिला स्तर पर बढ़ते हुए कार्यों तथा अन्तर जिला प्रशासनिक समन्वय की आवश्यकता को देखते हुए संभागीय आयुक्त के पद की पुनर्स्थापना आवश्यक है। परिणाम स्वरूप 1987 में संभागीय आयुक्त व्यवस्था को पुनर्जीवित किया गया है। राजस्थान में वर्तमान में गठित संभाग तथा उनके अन्तर्गत आने वाले जिलों को निम्न तालिका में दर्शाया गया है :

राजस्थान में संभाग एवं उनसे सम्बन्धित जिले

क्र.सं.	संभाग	सम्मिलित जिले	
1.	बीकानेर	(i)	बीकानेर
		(ii)	चुरू
		(iii)	हनुमानगढ़
		(iv)	श्री गंगानगर
2.	जयपुर	(i)	जयपुर
		(ii)	अलवर
		(iii)	सीकर
		(iv)	झुंझुनू
		(v)	दौसा
3.	अजमेर	(i)	अजमेर
		(ii)	नागौर
		(iii)	भीलवाड़ा
		(iv)	टोंक
4.	जोधपुर	(i)	जोधपुर
		(ii)	पाली
		(iii)	जैसलमेर
		(iv)	बाड़मेर
		(v)	जालौर
		(vi)	सिरोही
5.	उदयपुर	(i)	उदयपुर
		(ii)	चित्तौड़गढ़
		(iii)	डूंगरपुर
		(iv)	बांसवाड़ा
		(v)	राजसमंद
		(vi)	प्रतापगढ़
6.	कोटा	(i)	कोटा
		(ii)	बूंदी
		(iii)	बारां
		(iv)	झालावाड़
7.	भरतपुर	(i)	भरतपुर
		(ii)	धौलपुर
		(iii)	सवाईमाधोपुर
		(iv)	करौली

संभागीय आयुक्त कार्यालय का संगठन

संभागीय आयुक्त का कार्यालय संभाग नगर में स्थित होता है। यह कार्यालय अधिक विस्तृत नहीं होता है क्योंकि संभाग स्तर पर कार्यात्मक दायित्व नहीं दिए जाते हैं अपितु वे केवल जिला प्रशासन पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रखने के लिए उत्तरदायी होते हैं। सामान्यतः प्रत्येक संभाग कार्यालय में 30–50 कार्मिक होते हैं।

संभागीय आयुक्त कार्यालय का संगठन
(राजस्थान राज्य के सन्दर्भ में)

संभागीय आयुक्त
|
अतिरिक्त संभागीय आयुक्त
|
उप–निदेशक
|
राजस्व लेखा निरीक्षक
|
अन्य राजस्व, सांख्यिकी एवं
सामान्य प्रशासनिक कार्मिक

संभागीय आयुक्त के पद पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी की नियुक्ति की जाती है। इस पद पर नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है। संभागीय आयुक्त का कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता है।

संभागीय आयुक्त की सहायता के लिए एक अतिरिक्त संभागीय आयुक्त नियुक्त किया जाता है। इस पद पर राज्य प्रशासनिक सेवा के अधिकारी की नियुक्ति की जाती है। संभागीय आयुक्त कार्यालय में राजस्व व सांख्यिकी से सम्बन्धित अन्य कार्मिक भी होते हैं जिन्हें सम्बन्धित विभागों से संभागीय आयुक्त कार्यालय में प्रतिनियुक्त किया जाता है।

संभागीय आयुक्त के कार्य
(Functions of Divisional Commissioner)

(1) जिला प्रशासन पर नियंत्रण

प्रत्येक संभाग क्षेत्र में 3 से 4 जिले सम्मिलित होते हैं। संभागीय आयुक्त का प्रमुख कार्य इन जिलों के प्रशासन पर नियंत्रण रखना होता है। इस कार्य हेतु संभागीय आयुक्त कार्यालय में उस संभाग के क्षेत्राधिकार में आने वाले जिला प्रशासन के प्रमुख अधिकारियों की बैठक आयोजित की जाती है। इस बैठक में विभागों के अध्यक्ष के साथ–साथ सभी जिलों के जिला कलेक्टर भी भाग लेते हैं। इस बैठक में जिले में संचालित हो रहे कार्यों पर विचार–विमर्श होता है तथा संभागीय आयुक्त द्वारा आवश्यक निर्देश दिए जाते हैं।

(2) समन्वय सम्बन्धी कार्य

जिला प्रशासन में विभिन्न विभागों द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्य किए जाते हैं। प्रत्येक विभाग के कार्य दूसरे विभाग के कार्यों से सम्बन्धित रहते हैं। ऐसी स्थिति में यह संभावना बनी रहती है कि दो या अधिक विभागों के मध्य प्रशासनिक या वैधानिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाए। ऐसी स्थिति में संभागीय आयुक्त अन्तर्विभागीय समन्वय स्थापित करने में अहम् भूमिका निभाता है।

(3) पर्यवेक्षण सम्बन्धी कार्य

संभागीय आयुक्त स्थानीय इकाईयों का आकस्मिक निरीक्षण या पूर्व निर्धारित दौरे करता है। इन दौरों के द्वारा कार्यों का निरीक्षण करता है तथा विसंगति होने पर उचित मार्गदर्शन करता है।

(4) विकासात्मक एवं कल्याणकारी कार्य

संभागीय आयुक्त को यह दायित्व सौंपा गया है कि वह अपने संभाग के सर्वांगीण विकास को सुनिश्चित करने के लिए संचालित हो रही योजनाओं एवं गतिविधियों पर दृष्टि रखे। महिला एवं बाल कल्याण, अनुसूचित जाति तथा जनजाति, विकलांग तथा निराश्रित, बंधुआ मजदूर एवं सीमान्त कृषक, अल्पसंख्यक और पिछड़े वर्गों इत्यादि के कल्याण हेतु प्रवर्तित विभिन्न केन्द्रीय व राज्य योजनाओं की क्रियान्विति और गरीबी निवारण के राष्ट्रीय कार्यक्रमों की सफलता के लिए संभागीय आयुक्त निरन्तर प्रयासरत रहता है। जिला कलेक्टर कार्यालय तथा अन्य जिला स्तरीय इकाईयों में प्रशासनिक कार्यकुशलता और प्रतिबद्धता बनाए रखने का दायित्व भी संभागीय आयुक्त को सौंपा गया है।

(5) प्रशासनिक कार्य

संभागीय आयुक्त अनेक प्रकार के प्रशासनिक कार्यों को भी निष्पादित करता है। संभाग स्तर पर कार्मिक प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के निष्पादन का दायित्व संभागीय आयुक्त को दिया गया है। जैसे जिला कलेक्टर एवं अन्य अधिकारियों के वार्षिक गोपनीय प्रतिवेदन संभागीय आयुक्त द्वारा भरे जाते हैं तथा राजस्व प्रशासन के कार्मिकों के स्थानान्तरण के आदेश भी संभागीय आयुक्त द्वारा जारी किए जाते हैं। इसके साथ–साथ यह जनसम्पर्क सम्बन्धी कार्य भी करता है अर्थात् जन शिकायतों की प्रशासन के विरूद्ध शिकायतों की सुनवाई करके आवश्यक निर्णय लेता है।

(6) न्यायिक कार्य

संभागीय आयुक्त को कुछ कानूनों के अन्तर्गत मुकदमों की सुनवाई करने तथा अपीलीय प्राधिकारी की शक्तियां भी प्रदान की गई है। राजस्थान भू–राजस्व अधिनियम की धारा 75 (i) च तथा 76 (ग) के अनुसार राजस्व अपीलीय प्राधिकारी के रूप में संभागीय आयुक्त को प्राधिकृत किया गया है। इसके अतिरिक्त निम्न कानूनों से सम्बन्धित वाद भी संभागीय आयुक्त के अधीन हैं :

(i) राजस्थान नगर पालिका अधिनियम,

(ii) राजस्थान भूमि भवन कर अधिनियम,

(iii) राजस्थान नगरीय भूमि हरबंदी अधिनियम,

(iv) राजस्थान धार्मिक भवन तथा स्थान अधिनियम,

(v) राजस्थान आबकारी अधिनियम तथा

(vi) राजस्थान वन अधिनियम

संभागीय आयुक्त : एक विवादास्पद पद

प्रारम्भ से ही सम्भागीय आयुक्त के पद के विषय में विवाद रहा है। इस सम्बन्ध में दो मत रहे हैं। एक इसके पक्ष में तथा दूसरा इसके विपक्ष में। जो इस पद के पक्ष में हैं उनका तर्क है कि मध्यवर्ती स्तर पर प्रशासनिक संगठन के निर्माण से

विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा मिलेगा और राज्य प्रशासन को भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक रूप से निम्नतर स्तर पर रहने वाले नागरिकों के समीप लाएगा। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय निकायों का अच्छा पर्यवेक्षण तथा समन्वय भी सम्भव होगा। दूसरे वर्ग के विद्वानों का मत है कि मध्यवर्ती स्तर पर प्रशासन का निर्माण जिला अधिकारियों की पहल तथा उत्तरदायित्व को सीमित करता है। इसके साथ–साथ उनका यह भी तर्क है कि जिन राज्यों में यह पद है वहां कार्यकुशलता या कार्य को निपटाने में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। इस पद को सृजित करने का एक उद्देश्य यह भी था कि राज्य व जिलों के मध्य समन्वय स्थापित होगा लेकिन आलोचकों के अनुसार इस क्षेत्र में भी अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

इस प्रकार संभागीय आयुक्त के पद के पक्ष व विपक्ष में अनेक तर्क सामने आए हैं। प्रत्येक का विवरण निम्न प्रकार है :

पक्ष में तर्क

प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल ने जिला प्रशासन पर दी गई अपनी रिपोर्ट में संभागीय आयुक्त के पक्ष में निम्न बातों का उल्लेख किया है :

(i) संभागीय आयुक्त की उपस्थिति विभिन्न विकास विभागों के क्षेत्रीय अधिकारियों के बीच समन्वय को सरल बनाएगी। यह समन्वय बहुत अधिक दूरी पर स्थित होने के कारण राज्य मुख्यालय द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। केवल वही अधिकारी इसे प्रभावी ढंग से कर सकता है जिसे क्षेत्र की समस्याओं की गहरी जानकारी हो।

(ii) बड़े राज्यों में जिलाधीशों का प्रभावी पर्यवेक्षण उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि क्षेत्र स्तर पर विद्यमान किसी एक अधिकारी के द्वारा न किया जाए। इसके अतिरिक्त यदि आयुक्त का पद नहीं रखा जाता है तो अपेक्षाकृत युवा तथा कम अनुभवी जिला कलेक्टरों को एक अनुभवी प्रशासक का मार्गदर्शन तथा परामर्श का लाभ नहीं मिल पाएगा।

(iii) मध्यवर्ती स्तर पर आयुक्त की उपस्थिति राज्य स्तर से सत्ता प्रत्यायोजन को बढ़ावा देगी। इससे विभिन्न मामलों का शीघ्र निपटारा सम्भव होगा तथा सामान्य जनता की प्रशासन तक पहुंच भी अधिक होगी।

(iv) आयुक्त के पद का प्रयोग पंचायती राज संस्थाओं को पर्याप्त मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए किया जा सकता है। इसका प्रयोग पंचायती राज संस्थाओं तथा क्षेत्रीय एवं राज्य स्तर की एजेंसियों के मध्य समन्वय स्थापित करने के लिए भी किया जा सकता है।

(v) पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव युक्त क्षेत्र में स्थित अधिकारी क्षेत्रीय नियोजन तथा उसके कार्यान्वयन के उत्प्रेरक के रूप में कार्य करेगा।

(vi) आयुक्त की वरिष्ठता तथा अनुभव वाला प्रशासक उस मण्डल के युवा प्रशासनिक अधिकारियों के उपयोगी प्रशिक्षण देने में अच्छी भूमिका निभा सकेगा।

विपक्ष में तर्क

संभागीय आयुक्त के पद के विपक्ष में निम्न तर्क दिए जाते हैं :

(i) जिला स्तर पर सरकार के कार्य अधिक तथा जटिल हो गए हैं जिसके परिणामस्वरूप संभाग अब पर्यवेक्षण के लिए उचित वास्तविक इकाई नहीं रह गया है। संभाग में इतना बड़ा क्षेत्र सम्मिलित किया जाता है कि वह प्रशासन की प्रभावी इकाई नहीं बन सकता है।

(ii) जिलों के ऊपर पर्यवेक्षक सत्ता के रूप में तथा अपीलीय राजस्व संस्थाओं के रूप में आयुक्त का पद असंगत और अनावश्यक रूप से व्ययकारी है।

(iii) इसमें भी सन्देह है कि प्रशासन के मध्यवर्ती स्तर के रूप में, आयुक्तों की कोई उपयोगी भूमिका है या वे काम को निपटाने में कोई विशेष योगदान देते हैं। यह पद केवल सार्वजनिक कार्यों के निष्पादन में विलम्ब ही करता है।

(iv) आयुक्त विविध तथा परिपक्व अनुभव वाले अधिकारी होते हैं, इसलिए राज्य मुख्यालय पर उनके रहने से उनके इस महत्त्वपूर्ण अनुभव का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा सकता है। आयुक्त की वरिष्ठता तथा अनुभव वाले अधिकारियों के लिए उपयोगी व्यस्तता या तन्मयता निर्माण करने में संभाग प्रशासन असफल रहता है।

संभागीय आयुक्त की भूमिका का मूल्यांकन (Evaluation Of Role Of Divisional Commissioner)

संभाग स्तर के गठन व संभागीय आयुक्त पद के सृजन का मुख्य उद्देश्य जिला प्रशासन पर पर्यवेक्षण रखना एवं राज्य व जिले के मध्य समन्वय स्थापित करना था। इस पद की स्थापना के समय इसकी जो भूमिका निर्धारित की गई थी वह निम्न प्रकार है :

(i) संभाग स्तर के अधिकारी का प्राथमिक कार्य जिला स्तर पर अपने विभाग के अधिकारियों के कार्यों का पर्यवेक्षण करना तथा उनमें समन्वय स्थापित करना है।

(ii) संभागीय आयुक्त अपेक्षाकृत युवा जिला अधिकारियों के लिए मानदण्ड तथा स्तर निर्धारित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी करता है और निरीक्षण तथा दौरों, प्रतिवेदनों तथा विवरणियों, निर्देशों तथा समय–समय पर जिला अधिकारियों के साथ बैठकों के माध्यम से वह इन मानकों या स्तर के अनुपालन को सुनिश्चित करता है।

(iii) संभागीय आयुक्त जिला प्रशासन का निरीक्षण करके उनकी समस्याओं व कठिनाईयों को राज्य स्तर पर अवगत कराता है। यदि जिला स्तर पर तकनीकी मार्गदर्शन पर्याप्त रूप में उपलब्ध नहीं है तो संभागीय आयुक्त यह सुनिश्चित करता है कि यह स्थिति न रहे। लक्ष्यों को प्राप्त करने का उत्तरदायित्व भी उसी का होता है।

(iv) संभागीय आयुक्त अपने क्षेत्राधिकार में स्थित पंचायती राज संस्थाओं के साथ सक्रिय सम्पर्क बनाए रखता है।

संभागीय आयुक्त की उपर्युक्त भूमिका की विभिन्न विद्वानों व राजनीतिज्ञों ने आलोचना की है। आलोचकों का यह मानना है कि यह अनावश्यक रूप से व्ययकारी स्तर है। व्यावहारिक स्थिति यह है कि संभागीय आयुक्त की जिला प्रशासन पर पर्यवेक्षण व नियंत्रण के लिए उत्तरदायी बनाया गया है लेकिन उसे व्यापक अधिकार नहीं दिए गए हैं। वह केवल डाकघर का कार्य करता है अर्थात् जिला स्तर से सूचनाएं राज्य स्तर तक पहुँचाता है जबकि संभागीय आयुक्त के पास निर्णय लेने की शक्ति होनी चाहिए तभी वह वास्तविक रूप से जिला प्रशासन पर प्रभावी नियंत्रण व पर्यवेक्षण रखने में सफल होगा।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- जिला प्रशासन, राज्य प्रशासन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है।
- जिला प्रशासन का प्रमुख अधिकारी जिला कलेक्टर होता है जिस पर पर्यवेक्षण व नियंत्रण संभागीय आयुक्त द्वारा रखा जाता है।
- जिला प्रशासन की अवधारणा प्राचीन काल से प्रचलित है।
- नागरिकों से निकटतम प्रशासनिक व्यवस्था होने के कारण जिला प्रशासन का अत्यधिक महत्व है।
- जिला प्रशासन के अधीन विभिन्न राजस्व, कानून व व्यवस्था एवं विकासात्मक कार्यों को निष्पादित करने वाली प्रशासनिक इकाईयां कार्य करती हैं।
- जिला प्रशासन स्तर पर राज्य प्रशासनके सभी विभागों के क्षेत्रीय कार्यालय होते हैं जिन पर जिला कलेक्टर का नियंत्रण रहता है।
- राज्य प्रशासन व जिला प्रशासन के मध्य उचित समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से जिस स्तर का गठन किया गया है, उसे संभाग या मण्डल कहा जाता है।
- संभाग स्तर पर प्रमुख अधिकारी संभागीय आयुक्त होता है।
- राजस्थान में सात संभाग बनाए गए हैं : बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, उदयपुर, कोटा तथा भरतपुर।
- संभागीय आयुक्त का एक कार्यालय संभाग मुख्यालय पर होता है जिसमें 30 से 50 कार्मिक कार्य करते हैं।
- संभागीय आयुक्त का मुख्य कार्य जिला प्रशासन पर पर्यवेक्षण व नियंत्रण रखना होता है।
- संभागीय आयुक्त का पद प्रारम्भ से ही विवाद का विषय रहा है। एक वर्ग का यह मत है कि यह एक अनावश्यक स्तर है जबकि दूसरा वर्ग इसे राज्य व जिला स्तर के मध्य समन्वय स्थापित करने वाला महत्त्वपूर्ण स्तर मानता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. गुप्तकाल में जिला स्तर के समकक्ष इकाई को कहा जाता था ?

   (अ) शतग्रामी (ब) विषय

   (स) सरकार (द) जनपद ( )

2. वर्तमान में राजस्थान में कितने जिले हैं ?

   (अ) 28 (ब) 25

   (स) 30 (द) 33 ( )

3. जिला प्रशासन पर पर्यवेक्षण व नियंत्रण रखने के लिए कौनसा पदाधिकारी प्रमुख रूप से उत्तरदायी है :

   (अ) राज्य का प्रमुख सचिव

   (ब) संभागीय आयुक्त

   (स) मुख्यमंत्री

   (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ( )

4. जिला स्तर पर कानून व व्यवस्था बनाए रखने सम्बन्धी कार्य जिला कलेक्टर किस प्रशासनिक व्यवस्था के माध्यम से निष्पादित करता है :

   (अ) पुलिस प्रशासन

   (ब) जेल प्रशासन

   (स) पुलिस व जेल प्रशासन दोनों

   (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ( )

5. राजस्थान में कितने संभाग बनाए गए हैं :

(अ) 5 (ब) 4

(स) 7 (द) 3 ( )

6. राजस्थान में 1962 में समाप्त किए गए संभागीय आयुक्त के पद को पुनः कब सृजित किया गया ?

(अ) 1985 (ब) 1987

(स) 1980 (द) 1986 ( )

7. संभागीय आयुक्त पद पर किस सेवा के अधिकारी को नियुक्त किया जाता है ?

(अ) भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी को

(ब) भारतीय प्रशासनिक सेवा के कनिष्ठ अधिकारी को

(स) राजस्थान प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी को

(द) राजस्थान प्रशासनिक सेवा के कनिष्ठ अधिकारी को ( )

8. संभागीय आयुक्त निम्न में से कौनसा कार्य करने के लिए उत्तरदायी होता है ?

(अ) राजस्व सम्बन्धी (ब) नियंत्रण सम्बन्धी

(स) पर्यवेक्षण सम्बन्धी (द) उपर्युक्त सभी ( )

अति–लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश शासन काल में जिला स्तर को किस नाम से जाना जाता था ?
2. भारत के संविधान के किस अनुच्छेद में 'जिला' शब्द का प्रयोग किया गया है ?
3. जिला प्रशासन में राजस्व प्रशासन सम्बन्धी कार्यों का निष्पादन जिला कलेक्टर प्रमुख रूप से किन अधिकारियों के माध्यम से निष्पादित करता है ?
4. संभाग स्तर को कुछ राज्यों में किस नाम से जाना जाता है ?
5. प्रारम्भ में राजस्थान राज्य में कितने संभाग बनाए गए थे ?
6. वर्तमान में राजस्थान में सृजित सात सम्भागों के नाम बताएं।
7. प्रत्येक संभाग कार्यालय में सामान्यतः कितने कार्मिक होते हैं ?
8. संभागीय आयुक्त का प्रमुख कार्य बताइए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत में जिला प्रशासन के विकास पर टिप्पणी लिखिए।
2. जिला प्रशासन के महत्व पर प्रकाश डालिए।
3. संभागीय आयुक्त के पद के पक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
4. संभागीय आयुक्त के पद के विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
5. संभागीय आयुक्त की भूमिका का संक्षेप में मूल्यांकन कीजिए।
6. संभागीय आयुक्त के प्रमुख कार्य बताइए।
7. संभागीय आयुक्त कार्यालय के संगठन को संक्षेप में बताइए।
8. जिला प्रशासन की प्रमुख विशेषताएँ बताइए ।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जिला प्रशासन के अर्थ, विकास, महत्त्व को समझाइए।
2. संभागीय आयुक्त कार्यालय के संगठन व कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. संभागीय आयुक्त की जिला प्रशासन पर पर्यवेक्षण सम्बन्धी भूमिका की विवेचना कीजिए।
4. जिला प्रशासन पर पर्यवेक्षण सम्बन्धी संभागीय आयुक्त की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ।

उत्तरमाला

(1) ब (2) द (3) ब (4) स (5) स (6) ब (7) अ (8) द

इकाई–IX

अध्याय–22

जिला कलेक्टर

(District Collector)

जिला कलेक्टर का पद 200 वर्षों से अधिक समय पहले बनाया गया था। यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पदों में से हैं। यह पद स्वतंत्र भारत की लोक प्रशासन प्रणाली को उपनिवेशी शासकों से विरासत में मिला है। स्वतंत्रता से 1988 तक इस पद को जिलाधीश के रूप में जाना जाता था लेकिन अब औपचारिक रूप से इसको ''जिला कलेक्टर'' शब्द से जाना जाता है।जिला कलेक्टर जिला प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी होता है। स्वतंत्रता के पहले और बाद में कई सुधार हुए, कई बार पुर्नगठन किए गए, जिनमें भारत की लोक प्रशासन प्रणाली भी प्रभावित हुई परन्तु जिला कलेक्टर के पद में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को साकार रूप देने के लिए निम्नतर स्तर तक अनेक संस्थाएँ स्थापित की गई परन्तु इसमें इस पद के महत्त्व व गरिमा में कोई कमी नहीं आई। वर्तमान में भी यह पद, एक प्रतिष्ठित पद है।

जिला कलेक्टर पद का विकास

(Development of Post of District Collector)

जिला प्रशासन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यह प्रशासनिक इकाई प्राचीन काल से ही एक महत्त्वपूर्ण इकाई रही है। इसलिए जिला कलेक्टर या उसका समकक्ष पद भी प्राचीन काल से ही विद्यमान रहा हैं। जिला कलेक्टर पद के विकास क्रम को निम्न काल खंडों में समझा जा सकता हैं।

प्राचीन काल

प्राचीन काल में विशेष रूप से मौर्य काल व गुप्तकाल में जिला कलेक्टर के समकक्ष पद थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल का वर्णन चाणक्य द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' में मिलता है। इस काल में जिले के लिए 'अहारा' शब्द का प्रयोग किया जाता था तथा उसके प्रमुख अधिकारी को स्थानिक कहा जाता था। गुप्तकाल में जिले को 'विषय' कहा जाता था तथा जिलाधिकारी 'विषयपति' के नाम से जाना जाता था। इन दोनों कालों में ये जिला स्तरीय सर्वोच्च अधिकारी राजस्व तथा जनोपयोगी कार्य देखते थे।

मुगलकाल

मुगलकाल में भी जिला प्रशासन के समकक्ष इकाई थी जिसे 'सरकार' कहा जाता था। इसके प्रमुख अधिकारी को 'आमिल' कहा जाता था जो कि वर्तमान के जिला कलेक्टर के समकक्ष स्तर का पदाधिकारी था तथा राजस्व सम्बन्धी कार्यों के लिए उत्तरदायी था।

ब्रिटिश शासन काल

ब्रिटिश शासन काल में भी जिला नामक प्रशासनिक इकाई थी, जिसके प्रमुख पदाधिकारी को 'कलेक्टर' (Collector) कहा जाता था। वर्तमान में जिला कलेक्टर के पद का स्वरूप 'कलेक्टर' के समान ही है। ब्रिटिश शासन काल से पूर्व जिले का सर्वोच्च अधिकारी केवल राजस्व संबंधी कार्यों को ही करता था लेकिन ब्रिटिश शासन काल में इसे राजस्व के साथ साथ दंडनायक एवं सामान्य प्रशासनिक अधिकार भी सौंपे गए। इस काल में जिला स्तर पर कलेक्टर, केन्द्रीय शक्ति के रूप में कार्य करता था। इस काल में यह पदाधिकारी सत्ता, सम्मान, गौरव व भय का प्रतीक था। जिला स्तर पर सरकार की समस्त शक्तियों का उपयोग किया करता था।

स्वतंत्रता के पश्चात

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में जिला स्तर पर सर्वोच्च पदाधिकारी के रूप में जिला कलेक्टर पद का सृजन किया गया। स्वतंत्रता के पश्चात इसकी स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है। ब्रिटिश शासन काल में यह पदाधिकारी कानून व व्यवस्था की स्थापना करने के लिए एवं राजस्व सम्बन्धी कार्यों के लिए उत्तरदायी था लेकिन स्वतंत्र भारत में इसके लिए विकास तथा जन कल्याण से सम्बन्धित कार्य भी महत्त्वपूर्ण बन गए हैं।

जिला कलेक्टर पद पर नियुक्ति

(Appointment on the Post of District Collector)

जिला कलेक्टर पद पर नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है। इस पद पर प्रशासनिक सेवा के अधिकारी की नियुक्ति की जाती है। जिला कलेक्टर का कार्यकाल निर्धारित नहीं होता है। जिला कलेक्टर की नियुक्ति के सम्बन्ध में सम्पूर्ण राष्ट्र में दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं।

पहली प्रणाली के अन्तर्गत भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S.) में नवचयनित व्यक्ति को ही जिला कलेक्टर बनाया जाता हैं जब कि दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत राज्य प्रशासनिक सेवा (R.A.S.) के वरिष्ठ एवं अनुभवी अधिकारी को, जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा वर्ग में पदोन्नत हुआ है, जिला कलेक्टर के पद पर नियुक्त किया जाता है। दोनो ही प्रणालियों के अपने–अपने गुण व दोष हैं।

पहली प्रणाली के अन्तर्गत नियुक्त, जिला कलेक्टर में कार्य करने की अधिक क्षमता होती हैं क्योंकि वह नवयुवक होता है, इसलिए जिला कलेक्टर के व्यापक कार्यभार को सरलता से निष्पादित कर सकता हैं। लेकिन व्यापक उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिए पर्याप्त अनुभव का होना आवश्यक होता है, जिसका अभाव नवयुवक में होता है। इसके विपरीत, दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत नियुक्त जिला कलेक्टर को व्यापक प्रशासनिक अनुभव तो होता है लेकिन उसकी शारीरिक कार्य क्षमता कम होती है क्योंकि इस प्रकार से नियुक्त व्यक्ति सेवानिवृति की आयु के समीप होता है।

दोनो ही प्रणालियों के गुण व दोषों के कारण अधिकांश राज्यों में जिला कलेक्टर की नियुक्ति के सम्बन्ध में दोनो प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है अर्थात कुछ जिलों में भारतीय प्रशासनिक सेवा के युवा अधिकारी को नियुक्त किया जाता है एंव कुछ जिलों में राज्य प्रशासनिक सेवा से पदोन्नत अधिकारी को नियुक्त किया जाता है।

जिला कलेक्टर की भूमिका (Role of District Collector)

जिला कलेक्टर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका राजस्व अधिकारी (Revenue Officer) के रूप में होती है। उसकी इसी भूमिका के कारण उसे 'कलेक्टर'(Collector) कहा जाता है। कलेक्टर शब्द अंग्रेजी के 'कलेक्ट' (Collect) शब्द से बना है जिसका अर्थ है एकत्र करना। इस प्रकार जिला कलेक्टर जिला स्तर पर राजस्व एकत्र करने के लिए उत्तरदायी होता है। उसे भू राजस्व, अधिनियम 1956 के अन्तर्गत व्यापक अधिकार व शक्तियां प्रदान की गई हैं।

(ख) प्रशासक (Administrator) के रूप में

जिला प्रशासक का मुखिया होने के कारण वह सम्पूर्ण जिले की प्रशासनिक व्यवस्था पर नियंत्रण व पर्यवेक्षण रखता है। वह अधीनस्थ अधिकारियों को कार्यालय की प्रकिया, प्रशासनिक कार्य एवं व्यक्तिगत आचरण की शिक्षा देता है तथा प्रशासन के विरूद्व जनता की शिकायतों की उचित सुनवाई तथा कार्यवाही करता है। इसके अतिरिक्त वह राज्य प्रशासन के अभिकर्त्ता के रूप में राज्य प्रशासन के सभी कार्यों को कियान्वित करने के लिए उत्तरदायी होता है।

(ग) दंडनायक (Magistrate) के रूप में

जिला दंडनायक के रूप में जिला कलेक्टर की अनेक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इन्हीं शक्तियों के कारण जिला कलेक्टर को जिला मजिस्ट्रेट (D.M.) भी कहा जाता है। वह पुलिस, जेल तथा न्यायिक क्षेत्र के कतिपय कार्य निष्पादित करवाता हैं। प्रमुख रूप से दंडनायक के रूप में जिला कलेक्टर के निम्न दायित्व हैं :–

1. जिले में शांति, सुरक्षा, एकता, सद्भाव तथा व्यवस्था बनाए रखना।
2. जिला पुलिस तंत्र पर नियत्रंण रखना।
3. साम्प्रदायिक दंगों, राजनीतिक आंदोलनों, उग्र प्रदर्शनों, आंतककारी गतिविधियों तथा जातीय संघर्षों इत्यादि पर नियंत्रण रखना।
4. विदेशियों के पारपत्र की जाँच करना।
5. जाति, निवास तथा अन्य आवश्यक प्रमाण पत्र जारी करना।
6. जिला कारागृह का निरीक्षण करना।
7. धारा 144 के अन्तर्गत शांति भंग के मामलों की सुनवाई करना।
8. शस्त्रालयों पर नियत्रंण रखना।
9. तस्करी, नशीली दवा व्यापार तथा आतंककारी गतिविधियों पर नियत्रंण रखना।

(घ) विकास अधिकारी के रूप में

सरकार के कार्यों की प्रकृति दो प्रकार की होती हैं एक नियामकीय तथा दूसरी विकासात्मक। वर्तमान समय में यद्यपि विकासात्मक कार्य मुख्य रूप से स्थानीय प्रशासन द्वारा निष्पादित किए जाते हैं। लेकिन इन कार्यों पर पर्यवेक्षण रखने तथा समन्वय स्थापित करने में जिला कलेक्टर की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

जिला कलेक्टर उपर्युक्त चार रूपों में अपनी भूमिका का निर्वहन करता है।

जिला कलेक्टर के कार्य (Functions of District Collector)

उपर्युक्त वर्णित चारों प्रकार की भूमिकाओं के निर्वहन

के लिए जिला कलेक्टर अनेक कार्यो को निष्पादित करता है 'जिला कलेक्टर' के कार्यो को निम्न बिन्दुओं से समझा जा सकता है :–

1. राजस्व एकत्र करना

यह जिला कलेक्टर का मुख्य कार्य है। उसे सरकार की भूमि का स्वामी माना जाता है। सरकार किसानों से लगान, भू–राजस्व आदि के रूप में भूमि का किराया वसूल करती है। सरकार अपना यह कार्य जिला कलेक्टर के माध्यम से सम्पन्न करती है। इस कार्य में जिला कलेक्टर की सहायता उपखंड अधिकारी, तहसीलदार, कानूनगो, गिरदावर और पटवारी आदि अनेक कर्मचारियों द्वारा की जाती है। जिला कलेक्टर भू–राजस्व का मूल्यांकन करता है। वह प्रत्येक प्रकार की भूमि का रिकॉर्ड रखता है तथा भूमि–सुधार के लिए किए जाने वाले कार्यक्रमों की देखरेख करता है।

2. भूमि सुधार

जिला कलेक्टर भूमि सुधार, भूमि प्रबन्ध तथा भूमि अधिग्रहण से संबंधित कार्यों को भी निष्पादित करता है। यधपि इन सभी कार्यों के लिए पृथक से विभाग होता है लेकिन इन कार्यो पर पर्यवेक्षण रखने का दायित्व जिला कलेक्टर का ही होता है।

3. कानून और व्यवस्था की स्थापना

राजस्व सम्बन्धी दायित्वों के साथ साथ जिला कलेक्टर का एक ओर महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य जिला क्षेत्र में कानून व व्यवस्था की स्थापना करना होता है। इस कार्य के निष्पादन के लिए उसे दण्डनायक या मजिस्ट्रेट की शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इस कार्य का निष्पादन पुलिस प्रशासन की सहायता से करता है। जिले में पुलिस प्रशासन का मुखिया पुलिस अधीक्षक होता है जिस पर नियंत्रण जिला कलेक्टर का ही होता हैं।

जिला क्षेत्र में भ्रमण करके जिला कलेक्टर द्वारा कानून व व्यवस्था की स्थिति के संबंध में जानकारी प्राप्त की जाती है। किसी प्रकार की अनियमितता पाए जाने पर वह पुलिस प्रशासन को आवश्यक दिशा–निर्देश प्रदान करता है।

4. लोक कल्याणकारी कार्य

भारत एक लोक कल्याणकारी राज्य है। इसलिए सरकार द्वारा लोक कल्याण की अनेक योजनाएँ व कार्यक्रम संचालित किए जाते हैं। राज्य व केन्द्र सरकार द्वारा निर्मित कल्याणकारी योजनाओं का वास्तविक रूप में क्रियान्वयन जिला स्तर पर ही होता है। जिला स्तर पर जन कल्याण के कार्य भी जिला कलेक्टर द्वारा निष्पादित किए जाते हैं।

5. प्राकृतिक विपदाओं में सहायता

जब जिले अथवा उसके किसी भाग में प्राकृतिक विपदाएं उत्पन्न हो जाती हैं तो जिले के सभी अधिकारी एवं अभिकरण उनके निवारण में लग जाते हैं। इन सभी अधिकारियों व अभिकरणों को आवश्यक दिशा निर्देश जिला कलेक्टर द्वारा ही दिये जाते हैं। ये प्राकृतिक विपदाएँ बाढ़, सूखा, भूकंप, अग्निकांड, महामारी आदि किसी भी रूप में हो सकती हैं।

6. निर्वाचनों का संचालन

भारत में प्रजातात्रिंक व्यवस्था के अन्तर्गत समय–समय पर अनेक निर्वाचनों का आयोजन किया जाता है। ये निर्वाचन अनेक निकायों के लिए किये जाते हैं जैसे संसद, विधानसभा, नगरीय संस्थाएं एवं पंचायतीराज संस्थाएं। जिला स्तर पर इन निर्वाचनों के संचालन का मुख्य दायित्व जिला कलेक्टर का ही होता है। जिला कलेक्टर,, जिला निर्वाचन अधिकारी की भूमिका का निर्वहन करता है।

7. प्रोटोकाल कार्य

प्रोटोकाल कार्य एवं कर्त्तव्य वे होते हैं, जो जिला कलेक्टर को जिले में किसी बडे पदाधिकारी के आने पर सम्पादित करने होते हैं। जब कोई मंत्री या दूसरे माननीय व्यक्ति जिले का दौरा करते हैं तो उनके स्वागत व सुरक्षा प्रबन्ध का दायित्व जिला कलेक्टर का ही होता है।

8. जिला क्षेत्र का भ्रमण करना

जिला कलेक्टर का एक प्रमुख कार्य जिले का भ्रमण करना है। विभिन्न विभागों द्वारा संचालित कार्यों का निरीक्षण करता है। भ्रमण के दौरान जिला कलेक्टर द्वारा जन शिकायतों की सुनवाई भी की जाती है। शिकायतों के शीघ्र निराकरण की व्यवस्था भी करता है।

9. विकास सम्बन्धी कार्य

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय प्रशासन के समक्ष सबसे बडी चुनौती विकास सम्बन्धी थी। इसलिए अनेक विकासात्मक कार्यक्रम संचालित किए जिनके संचालन का दायित्व जिला कलेक्टर को सौंपा गया था। वर्तमान में इन विकासात्मक कार्यों के संचालन का दायित्व स्थानीय प्रशासन की संस्थाओं को सौंपा गया है। लेकिन इन संस्थाओं के विकासात्मक कार्यों पर पर्यवेक्षण व नियत्रंण रखने का दायित्व जिला कलेक्टर का होता है। वह विकास कार्यों का समन्वय करता हैं तथा उनकी बाधाओं का निराकरण करता है। विकास तथा समाज कल्याण विभाग के सभी जिला अध्यक्ष जिला कलेक्टर से अनुदान एवं सहायता प्राप्त करते हैं। किसी महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम को अन्तिम

रूप से स्वीकार करने से पूर्व जिला कलेक्टर से परामर्श लिया जाता है।

10. औपचारिक बैठकों का आयोजन

जिला स्तर पर सर्वोच्च पदाधिकारी होने के कारण जिला कलेक्टर का मुख्य दायित्व विभिन्न विभागीय कार्यों में समन्वय स्थापित करना होता है। इस कार्य हेतु जिले की समन्वय समिति की बैठक बुलाई जाती है। जिला परिषद की विकास समिति की बैठकों में भी वह भाग लेता है तथा परामर्श देता है । इस प्रकार औपचारिक बैठकों के माध्यम से वह जिला प्रशासन में समन्वय स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

11. प्रशासनिक कार्य

जिला प्रशासन के मुखिया के रूप में जिला कलेक्टर विभिन्न सामान्य प्रशासनिक कार्यों को भी निष्पादित करता है। जैसे विभिन्न कानूनों को लागू करना तथा उन पर पर्यवेक्षण रखना।

12. अन्य कार्य

जिला कलेक्टर द्वारा उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्य भी सम्पन्न किये जाते हैं जिनमें से प्रमुख निम्न हैं :–

1. अल्प बचत कार्यक्रम को प्रोत्साहन देना,
2. प्रचार व जन–सम्पर्क कार्यक्रमों को संचालित करना,
3. प्रसार माध्यमों से सम्पर्क स्थापित करना,
4. जिले की समस्याओं पर जनता का ध्यान आकर्षित करना, तथा
5. जनगणना सम्बन्धी कार्य।

जिला कलेक्टर के उपर्युक्त कार्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जिला प्रशासन स्तर पर जिला कलेक्टर की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

जिला कलेक्टर की भूमिका की समीक्षा
(Review of the Role of District Collector)

जिला कलेक्टर के कार्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जिला प्रशासन में जिला कलेक्टर एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी है। नियामक और विकास कार्यो में, दोनो में उसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी पडती है। लेकिन व्यवहार में उनके कार्य निष्पादन में अनेक बाधाएँआती हैं जिसके कारण वह पूर्ण सक्षमता से कार्य नहीं कर पाता है। प्रमुख बाधाएँ निम्न हैं :

(1) कार्यकाल की अनिश्चिता

जिला कलेक्टर का कार्यकाल निश्चित नहीं होता है। अध्ययनों के दौरान यह ज्ञात हुआ है कि राज्य सरकार द्वारा जिला कलेक्टरों के स्थानान्तरण अनेक बार किए जाते हैं। उदाहरण के लिए राजस्थान में जिला कलेक्टर का औसत कार्यकाल 14.2 महीने है। यह कार्यकाल विकास संबंधी उद्देश्यों की प्राप्ति के अनुकूल नहीं है क्योंकि जब तक वे जिले की समस्याओं से परिचित होते हैं तब उनका स्थानान्तरण कर दिया जाता है।

(2) राजनीति हस्तक्षेप

राजनीतिक हस्तक्षेप और दबाव भी जिला कलेक्टर के कार्यो में बाधा उत्पन्न करते हैं। भूमि अधिग्रहण या परमिट जारी करने सम्बन्धी मामलों में ऐसा दबाव विशेष रूप से रहता है। यदि जिला कलेक्टर ऐसे दबावों का विरोध ा करता है तो उस पर जनता के प्रतिनिधियों के अनुरोध के प्रति असंवेदनशील होने का आरोप लगाया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक हस्तक्षेप व दबाव के कारण उसके कर्त्तव्यों के निर्वहन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

(3) प्रोटोकोल

नवाचार की यह अपेक्षा है कि जिले में महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के दौरों की अगवानी जिला कलेक्टर द्वारा की जाएगी। कुछ जिलों में जो महत्त्वपूर्ण शहर हैं, वहाँ ऐसे दौरे बहुधा होते रहते हैं और इनसे जिला कलेक्टर के कार्य में बाधा आती हैं।

(4) कार्यभार की अधिकता

जिला कलेक्टरों के पास बहुत अधिक कार्यभार होता है क्योंकि उसके कार्य अत्यधिक व्यापक होते हैं। अध्ययनों से यह तथ्य सामने आया हैं कि इसका अधिकांश समय पत्र व्यवहार में बैठकों में भाग लेने में तथा प्रोटोकोल में ही व्यतीत हो जाता है। इस प्रकार वह विकास कार्यों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाता है।

(5) न्यायिक कार्यो की पृथकता

जिलें में कानून व व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व जिला कलेक्टर का होता है जिसके लिए वह पुलिस प्रशासन पर नियत्रंण रखता है। इस कार्यपालक के पास न्यायिक शक्तियाँ नहीं होने के कारण इसका यह नियत्रंण निष्प्रभावी रहता है।

उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त अन्य कारक भी हैं जो जिला कलेक्टर के कार्यो में बाधा उत्पन्न करते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन बाधाओं को दूर करने के लिए सकारात्मक प्रयास किये जाने चाहिए।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- जिला प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी जिला कलेक्टर होता है।
- जिला कलेक्टर पद प्राचीन काल से ही विद्यमान है लेकिन इसके वर्तमान स्वरूप का विकास ब्रिटिश शासन काल से हुआ हैं।
- स्वतंत्रता के पश्चात जिला कलेक्टर को राजस्व सम्बन्धी कार्यो के साथ साथ विकासात्मक दायित्व भी दिए गए हैं।
- जिला कलेक्टर के पद पर राज्य प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी या भारतीय प्रशासनिक सेवा में कनिष्ठ अधिकारी की नियुक्ति की जाती हैं।
- जिला कलेक्टर चार रूपों में अपनी भूमिका का निर्वहन करता है। राजस्व अधिकारी के रूप में, प्रशासक के रूप में, दण्डनायक के रूप में तथा विकास अधिकारी के रूप में
- अपनी भूमिका के निर्वहन के लिए जिला कलेक्टर द्वारा अनेक कार्य किए जाते हैं।
- जिला कलेक्टर को अपने कार्यों के निष्पादन में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. मौर्यकाल में जिला कलेक्टर के समकक्ष पद का नाम था :
   (अ) स्थानिक (ब) विषयपति
   (स) कलेक्टर (द) आमिल ( )
2. मुगल शासन काल में जिला कलेक्टर के समकक्ष पदाधिकारी का कार्य था :
   (अ) राजस्व सम्बन्धी
   (ब) कानून व व्यवस्था बनाए रखना
   (स) विकास सम्बन्धी (द) उपर्युक्त सभी ( )
3. जिला कलेक्टर को इस कानून के अन्तर्गत राजस्व सम्बन्धी अधिकार दिए गए है :
   (अ) भू राजस्व अधिनियम 1956
   (ब) राजस्थान भू राजस्व रेवाईन लेण्ड नियम 1967
   (स) राजस्थान भू राजस्व एंव भू–आवंटन नियम 1970
   (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं। ( )
4. जिला पुलिस प्रशासन का मुखिया होता है :
   (अ) पुलिस अधीक्षक (ब) पुलिस निरीक्षक
   (स) पुलिस महानिरीक्षक (द) पुलिस निदेशक ( )
5. चाणक्य द्वारा रचित प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम है:
   (अ) चाणक्य शास्त्र (ब) अर्थशास्त्र
   (स) मौर्य शास्त्र (द) उपर्युक्त सभी ( )
6. मौर्य काल में जिला प्रशासन इकाई को कहा जाता था ?
   (अ) विषय (ब) अहारा
   (स) सरकार (द) डिस्ट्रिकट ( )
7. जिला स्तर पर सरकार की भूमि का स्वामी होता है।
   (अ) जिला प्रमुख (ब) अतिरिक्त जिला कलेक्टर
   (स) जिला कलेक्टर (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ( )
8. राजस्थान में जिला कलेक्टर का औसत कार्यकाल क्या माना गया है
   (अ) 14.8 माह (ब) 14.6 माह
   (स) 14.4 माह (द) 14.2 माह ( )

अति–लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मुगल शासन काल में जिला कलेक्टर के समकक्ष पद को क्या कहा जाता था?
2. ब्रिटिश शासन काल में जिला कलेक्टर को किस नाम से जाना जाता था?
3. जिला कलेक्टर पद नियुक्त अधिकारी किस प्रशासनिक सेवा वर्ग से सम्बन्धित होता हैं?
4. जिला कलेक्टर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका किस रूप में होती है?
5. विकास संबंधी कार्यों में जिला कलेक्टर की कैसी भूमिका होती है?
6. निर्वाचन संबंधी कार्यों में जिला कलेक्टर किस रूप में अपनी भूमिका का निर्वहन करता है?
7. अंग्रेजी के शब्द 'कलेक्ट' का क्या तात्पर्य है ?
8. कानून व व्यवस्था बनाए रखने के लिए जिला कलेक्टर को कौन सी शक्तियॉ दी गई है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जिला कलेक्टर पद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर टिप्पणी लिखिए?

2. जिला कलेक्टर की नियुक्ति सम्बन्धी प्रावधानों को बताइयें।
3. जिला कलेक्टर की जिला प्रशासन में भूमिका को संक्षेप में बताइए।
4. जिला कलेक्टर के कार्यो में आने वाली बाधाओं की संक्षेप मे बताइए।
5. जिला कलेक्टर की राजस्व संबंधी भूमिका पर टिप्पणी लिखिए ।
6. एक दंडनायक के रूप में जिला कलेक्टर किन शक्तियों का प्रयोग करता है ? संक्षेप में स्पष्ट कीजिए ।
7. संक्षेप में, जिला कलेक्टर के भूमि सुधार कार्यों को बताइए।
8. राजनीतिक हस्तक्षेप किस प्रकार जिला कलेक्टर के कार्यों को बाधित करता है ? स्पष्ट कीजिए ।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जिला प्रशासन में जिला कलेक्टर की भूमिका व कार्यो का विवेचन कीजिये ।
2. जिला कलेक्टर की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3 "जिला कलेक्टर पद उपनिवेशी शासकों से विरासत में मिला है" विश्लेषण कीजिए।
4. किस प्रकार जिला कलेक्टर की भूमिका को अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है ? व्याख्या कीजिए।

उत्तरमाला

1.(अ) 2.(अ) 3.(अ) 4.(अ) 5.(ब) 6.(ब) 7.(स) 8.(द)

अध्याय–23

उप खण्ड एवं तहसील प्रशासन तंत्र

(Sub Divisional And Tehsil Administration)

जिला प्रशासन स्तर पर सरकार के सभी कार्यों का वास्तविक निष्पादन होता है। इसलिए प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से जिले के अधीन विभिन्न इकाइयाँ सृजित की गई है जैसे उपखण्ड, तहसील, पटवार क्षेत्र आदि। यह अधीनस्थ इकाइयाँ, नियामकीय कार्य करने के लिए उत्तरदायी होती है। विकासात्मक कार्य हेतु स्थानीय प्रशासन की इकाइयाँ स्थापित की गई हैं।

उपखण्ड प्रशासन
(Sub-Divisional Administration)

प्रशासकीय दृष्टि से राज्य को जिलों में तथा जिले को तहसीलों व विकास खण्डों में विभाजित किया गया है। एक जिले में तहसीलों की संख्या 13 तक है। अतः नियंत्रण का क्षेत्र बहुत अधिक हो जाता है। इसलिए जिला एवं तहसील के बीच एक स्तर और सृजित किया जाता है जिसे उपखण्ड कहा जाता है। प्रत्येक उपखण्ड में एक अधिकारी नियुक्त किया जाता है जिसे उपखण्ड अधिकारी कहते हैं। सामान्यतः कुछ तहसीलों के समूह पर एक उपखण्ड स्थापित किया जाता है। एक जिले में प्रायः दो या तीन उपखण्ड होते हैं।

उपखण्ड के प्रमुख अधिकारी को भिन्न–भिन्न राज्यों में भिन्न–भिन्न नामों से जाना जाता है। उत्तरप्रदेश व राजस्थान में इसे एस0 डी0 ओ0 (S.D.O.) या एस0 डी0 एम0, (S.D.M.) तमिलनाडु में उप–जिलाधीश (Sub Collector) तथा महाराष्ट्र में प्रान्त अधिकारी का नाम दिया गया है। इसी प्रकार अधिकतर राज्यों में इसका कार्यालय स्थापित किया गया है जैसे राजस्थान, प0 बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास आदि। शेष राज्यों में इसका प्रमुख कार्य निरीक्षण करना है। अतः यह भ्रमणशील रहता है। जिला राजस्व कार्यालयों पर प्रतिवेदन, बम्बई (1919) के अनुसार, प्रान्त अधिकारी (एस0 डी0 ओ0) मुख्य रूप से ''एक निरीक्षक, जाँच एवं पर्यवेक्षक अधिकारी है, जो अपील सुनता है तथा मुकदमों के फैसले करता है। वह गांवों में घूमकर शिकायतें सुनता है, लोगों की माँगे सुनता है तथा प्रत्यक्ष अनुभव लेता है।''

नियुक्ति (Appointment)

उप–खण्ड अधिकारी के पद पर प्रायः राजस्थान प्रशासनिक सेवा (R.A.S.) के अधिकारी को कुछ अनुभव के बाद लगाया जाता है। कभी–कभी भारतीय प्रशासकीय सेवा के (I.A.S.) व्यक्ति को भी सेवा के प्रारम्भ में नियुक्त कर दिया जाता है। इन सेवाओं में भर्ती लोक सेवा आयोग द्वारा प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से की जाती है। जैसे आर0 ए0 एस0 की भर्ती राजस्थान लोक सेवा आयोग तथा आई0 ए0 एस0 के लिए भर्ती संघ लोक सेवा आयोग करता है। एस0 डी0 ओ0 के कुछ पद तहसीलदार (आर0 टी0 एस0) के पदों से पदोन्नति के माध्यम से भी भरे जाते हैं। एस0 डी0 ओ0 के पद के लिए अलग से कोई विशेष प्रशिक्षण नहीं होता। प्रशिक्षण की सेवा वर्ग के अनुसार अलग–अलग व्यवस्था की गई है।

भर्ती एवं प्रशिक्षण की दृष्टि से एस. डी. ओ. एक सामान्यज्ञ (Generalist) पद है। इस पद पर कार्य करने वाले अधिकारी को उसकी सेवा श्रेणी (Rank) के अनुसार सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

उप–खण्ड अधिकारी के कार्य
(Functions of Sub-Divisional Officers)

अधिकतर राज्यों में उपखण्ड अधिकारी जिला एवं तहसील प्रशासन के बीच की कड़ी है। इस दृष्टि से उपखण्ड में लगभग उन सभी उत्तरदायित्वों को पूरा करता है जिन्हें जिले में जिला कलेक्टर पूरा करता है। उपखण्ड स्तर पर विकास से संबंधित अधिकार नहीं होते हैं। अतः विकास की दृष्टि से इसके कार्य बहुत सीमित हैं। वह मूल रूप से एक नियामकीय अधिकारी है। इसके निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं :

(1) न्यायिक कार्य

उपखण्ड अधिकारी राजस्व न्यायालयों के पद सोपान में प्रमुख कड़ी है। यद्यपि तहसीलदार को भी राजस्व मामलों में सुनवाई का कुछ अधिकार दिया गया है। किन्तु एस. डी. ओ. राजस्व (भू–राजस्व) के सन्दर्भ में प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश के समकक्ष है। तहसील प्रशासन राजस्व कार्यों को स्वयं करता है अतः विशुद्ध रूप से यह एक कार्यपालिका संस्था है। इसलिए एस. डी. ओ. को तहसील प्रशासन की क्रियाओं के विरूद्ध शिकायत सुनने के प्रारम्भिक अधिकार दिये हैं। नागरिकों के बीच के राजस्व मामले यदि तहसीलदार सुनता है तो उसमें अपील के

अधिकार एस. डी. ओ. को दिये गये हैं। एस. डी. ओ. का न्यायालय प्रतिदिन लगता है तथा विवाद से संबंधित पक्ष अपने वकीलों सहित प्रस्तुत होते हैं।

(2) नियामकीय कार्य

जिले में तहसील कार्यालय नियामकीय कार्यों के लिए जिम्मेदार है। इन कार्यों में राजस्व से संबंधित कार्य आते हैं जैसे भू–राजस्व, भूमि के रिकॉर्ड, भूमि के नक्शे, भूमि सुधार, चकबन्दी, अतिरिक्त भूमि का अधिग्रहण एवं वितरण, सरकारी भूमि का प्रबन्ध, फसलों से सम्बन्धित रिकॉर्ड तथा आँकड़े आदि। इसी प्रकार उपयोगी वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था जैसे चीनी, मोटा कपड़ा, अभाव की स्थिति में खाद्यान्न, सीमेन्ट, मिट्टी का तेल आदि की राशनिंग भी इसी श्रेणी में आती है। राज्य सरकार के ऐसे कानून को लागू करना जिसमें नागरिकों को किसी क्रिया से रोका गया हो जैसे लाइसेंसिंग, विस्फोटक पदार्थों पर नियंत्रण, मिलावट, जखीरेबाजी, कालाबाजारी आदि की रोकथाम इत्यादि सभी क्रियाएं नियामकीय कार्यों में आती है। एस. डी. ओ. इन सब कार्यों के लिए अपने उप–खण्ड में पूर्णतः जिम्मेदार है। वह निरीक्षण करता है, छापे मारता है, शिकायतें सुनता है तथा भ्रष्टाचार को सीमित करने के लिए हर सम्भव प्रयास करता है।

(3) दण्डनायक के रूप में

एस. डी. ओ. को अपने उपखण्ड क्षेत्र में व्यवस्था कायम करने के लिए दण्डनायक की शक्तियाँ दी जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसे एस. डी. एम. कहा जाता है। क्षेत्र की आवश्यकता के अनुसार, इस अधिकारी को द्वितीय श्रेणी या प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट के अधिकार दिये जाते हैं। न्यायिक कार्यों के कार्यपालिका से अलगाव के सिद्धान्त के आधार पर भारतीय दण्ड संहिता की सभी धाराएँ मुंसिफ मजिस्ट्रेट को सौंप दी गई हैं। फिर भी उसके पास फौजदारी के अनेक अधिकार हैं।

(4) निरीक्षण सम्बन्धी कार्य

आधारभूत रूप से इस पद की स्थापना तहसील प्रशासन पर नियंत्रण के लिए की गई है। जिला कलेक्टर के नियंत्रण के क्षेत्र की समस्या का समाधान एस. डी. ओ. के माध्यम से किया गया है। पटवारी तथा राजस्व निरीक्षकों (गिरदावर) के सन्दर्भ में एस. डी. ओ. को अनुशासनिक कार्यवाही की शक्तियाँ दी गई हैं। वह क्षेत्र में भ्रमण करता है और भूमि अभिलेखों की नमूने के आधार पर जांच करता है। राजस्थान भू–राजस्व नियमों के अनुसार, वह प्रत्येक तहसील में सदर कानूनगो के अभिलेखों का 1/5 भाग प्रतिवर्ष स्वयं देखता है। वसूली के समय आने वाली कठिनाइयों को देखना उसकी विशेष जिम्मेदारी है। वर्ष में दो बार प्रत्येक तहसील का निरीक्षण करना, 24 पटवार हलकों के 45 गाँवों की गिरदावरी की जाँच करना, इसके लिए एक वर्ष में कम से कम 80 दिन तथा 60 रात्रि मुख्यालय से बाहर व्यतीत करना उसके लिए अनिवार्य है।

(5) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य

एस.डी.ओ. निर्वाचन की दृष्टि से पंजीयन अधिकारी होता है। वह मतदाता सूची को नवीनतम बनाये रखता है। नये मतदाताओं के नाम दर्ज करना, मतदाता न रहने पर नाम हटाना आदि इसी अधिकारी की देखरेख में होते हैं। एस. डी. ओ. लोक सभा चुनाव के लिए उप चुनाव अधिकारी तथा विधानसभा चुनाव के लिए चुनाव अधिकारी होता है। वह अपने क्षेत्र में चुनाव की पूरी व्यवस्था करता है।

सामान्यतः यह अनुभव किया जाता है कि एस. डी. ओ. का राजस्व न्याय के अतिरिक्त कोई अपना कार्य नहीं है। वह जिला कलेक्टर के आदेशों को तहसील तक तथा तहसील के प्रतिवेदनों को जिला कलेक्टर तक पहुंचाने का कार्य ही करता है। अतः वह मात्र डाकघर का कार्य करता है।

इस प्रकार तहसील स्तर पर प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी, तहसीलदार होता है।

तहसीलदार (Tehsildar)

तहसीलदार राजस्थान तहसील सेवा का अधिकारी होता है। इस पद पर नायब तहसीलदार से पदोन्नत होकर आते हैं। नायब तहसीलदार पद पर नियुक्तियाँ 66 प्रतिशत प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से प्रत्यक्ष भर्ती से होती है। शेष 34 प्रतिशत पदों पर राजस्व निरीक्षकों से पदोन्नत होते हैं। तहसीलदार तथा नायब तहसीलदारों की नियुक्ति राजस्व मण्डल द्वारा की जाती है। इन पदों को अधीनस्थ सेवाओं में रखा गया है। इस पद पर प्रशिक्षण के लिए सर्वउद्देशीय राजस्व प्रशिक्षण विद्यालय, टोंक में भेजा जाता है। वहां उन्हें 18 माह के लिए दीवानी तथा फौजदारी प्रक्रिया, भारतीय दण्ड संहिता, राजस्थान काश्तकारी कानून 1955, भू–राजस्व अधिनियम आदि विषयों पर ज्ञान कराया जाता है। साथ ही पशुपालन, कृषि, स्वास्थ्य, पुलिस आदि से सम्बन्धित वरिष्ठ अधिकारी भी इनके समक्ष व्याख्यान देते हैं। उन्हें कुछ समय के लिए एक गाँव का व्यावहारिक रूप से सर्वेक्षण एवं भू–प्रबन्धक कागजात तैयार करने का काम दिया जाता है। प्रशिक्षण के पश्चात् नायब तहसीलदार के पद पर नियुक्ति होती है।

राजस्व मण्डल प्रत्येक जिले की आवश्यकतानुसार उसके लिए नायब तहसीलदारों की नियुक्ति करता है। जिलाधीश उनके लिए तहसीलें निर्धारित करता है। व्यवहार में इस समस्त प्रक्रिया में राजनीति का महत्त्वपूर्ण स्थान बन जाता

है। विशेष रूप से स्थानान्तरण की प्रक्रिया में प्रमुख भूमिका राजनीति की रहती है। तहसीलदार का वेतनमान उसकी बढ़ती जिम्मेदारी की तुलना में कुछ कम लगता है। तहसीलदार से एस. डी. ओ. के पद पर पदोन्नति के अवसर भी पर्याप्त मात्रा में नहीं रखे गये हैं।

तहसीलदार की भूमिका (Role of Tehsildar)

तहसीलदार का पद ऐतिहासिक दृष्टि से जिला कलेक्टर के पद से भी पुराना है। इस पद की यात्रा राजस्व एकत्र करने से आरम्भ हुई तथा सामान्य प्रशासन, कानून व्यवस्था, ग्रामीण सांख्यिकी, संकट कार्यों के बीच से होती हुई अब अनेक सूत्रों को पूरा करने की ओर बढ़ रही है।

राजस्व तहसील के अनेक नियामकीय कार्य होते हैं जिसमें राजस्व एकत्र करना, राजस्व मामलों का निपटारा, सम्पत्ति के क्रय–विक्रय का पंजीयन, राशनिंग की वस्तुओं के वितरण का प्रबन्ध तथा भू–अभिलेख प्रमुख है। इन कार्यों के अलावा तहसीलदार अपने तहसील क्षेत्र में विकास के अतिरिक्त सभी प्रकार के सरकारी कार्यों के लिए उत्तरदायी है तहसील प्रशासन के अध्यक्ष के रूप में वह निम्नलिखित कार्यों के सन्दर्भ में निर्णय लेता है तथा नियंत्रण करता है :–

1. भू–राजस्व

समस्त तहसील क्षेत्र की कृषि–भूमि का लगान ऑकने, मांग पत्र जारी करने तथा वसूल करने का काम पटवारी करते हैं। लगान के अतिरिक्त तकाबी, ऋण, गत वर्षों के बकाया तथा अन्य सरकारी वसूलियाँ आदि सम्बन्धित विभाग वसूल नहीं कर पायें तो राजस्व तंत्र करता है। इन सभी वसूलियों की अन्तिम जिम्मेदारी तहसीलदार की है। वह वसूली कार्यक्रम बनाता है, पटवारियों की विशेष बैठक में निर्देश देता हैं तथा स्वयं भी क्षेत्र में दौरे करता है।

2. भू–अभिलेख

भूमि सम्बन्धी रिकार्ड तैयार करवाना तथा रखना तहसील प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इससे भू–सम्पत्ति पर स्वामित्व तथा उसके उपयोग के अधिकार निश्चित होते हैं। भूमि की किस्म के आधार पर वर्गीकरण एवं उसके मानचित्र भी राजस्व प्रशासन तैयार करता है। भू–अभिलेख ही स्वामित्व के झगड़ों के निपटारे का आधार बनता है। इन्हें अद्यतन एवं सुरक्षित रखने की जिम्मेदारी तहसीलदार की होती है। इन पर तहसीलदार के प्रतिहस्ताक्षर होते हैं तथा वही इनकी सही प्रतिलिपि प्रदान करने का अधिकारी है।

3. उप–राजकोष

तहसीलदार उप–राजकोष अधिकारी होता है। तहसील क्षेत्र की समस्त आय राजकोष में जमा होती है तथा समस्त व्यय राजकोष से ही निकलता है। इसकी व्यवस्था की जिम्मेदारी तहसीलदार की होती है।

4. पंजीयन

तहसील क्षेत्र में सम्पत्ति के क्रय–विक्रय पर स्टैम्प ड्यूटी लगती है। सम्पत्ति के विशेष रूप से भूमि तथा इमारतों के क्रय–विक्रय का पंजीयन आवश्यक है। तहसीलदार उप–पंजीयक अधिकारी होता है। पंजीयन एक ओर तो सम्पत्ति के स्वामित्व तथा दूसरी ओर राजस्व की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण क्रिया है।

5. राजस्व सम्बन्धी झगड़ें

ऐसे सभी झगड़ें, जिनका आधार भू–सम्पत्ति हो, राजस्व प्रशासन के क्षेत्राधिकार में आते हैं। इनमें कुछ के लिए प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार तहसीलदार का है। शेष मामलों में वह एस. डी. ओ. की मदद करता है। राजस्थान काश्तकारी कानून 1955 तथा राजस्थान भू–राजस्व अधिनियम, 1956 के अन्तर्गत उसे अनेक प्रकार के मुकदमे सुनने का अधिकार दिया गया है।

6. राशनिंग

उपभोक्ता वस्तुओं की कमी तथा उनके सदुपयोग की दृष्टि से कुछ वस्तुओं का राशनिंग कर दिया जाता है। चीनी, सीमेन्ट, मिट्टी का तेल आदि ऐसी ही वस्तुएं हैं। तहसील क्षेत्र में इनके वितरण की व्यवस्था की जिम्मेदारी तहसीलदार की है।

7. राहत कार्य

भारत के अधिकांश क्षेत्र प्रकृति के कोपभाजन रहते हैं। अकाल, अनावृष्टि, बाढ़, महामारी आदि सामान्य संकट रहते हैं। इन परिस्थितियों में सहायता पहुँचाने का दायित्व तहसीलदार का होता है। इसके अलावा आगजनी, युद्ध आदि के समय भी व्यवस्था की जिम्मेदारी तहसीलदार की है।

तहसीलदार, तहसील में राज्य का अभिकर्ता होता है। वह तहसील की जनता के समक्ष राज्य तथा जिला प्रशासन के समक्ष नागरिकों की बात रखता है। यद्यपि औपचारिक रूप से उसे बहुत से कार्य नहीं सौंपे गये हैं किन्तु अनौपचारिक रूप से उसे जिला कलेक्टर की अनेक जिम्मेदारियाँ संभालनी पड़ती है। कानून एवं व्यवस्था की दृष्टि से उसे मजिस्ट्रेट के अधिकार भी दिये गये हैं। निर्वाचन, विदेशियों का प्रबन्ध, मुख्य अतिथियों का स्वागत, अनेक सामान्य कानूनों आदि दायित्वों का भी उसे निर्वहन करना होता है।

लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के कारण जनस्थिति के अनुसार रोजगार योजना, काम के बदले अनाज, अन्त्योदय, 20 सूत्री कार्यक्रम, 20 संकल्प, परिवार नियोजन पखवाड़ा आदि योजनाएँ निरन्तर सरकार संचालित करती है।

इन सबकी व्यवस्था भी तहसीलदार ही करता है। तहसीलदार सभी प्रकार के आंकड़े एकत्र करने के लिए सर्वाधिक प्रमाणिक व्यक्ति माना जाता है। देश के नियोजन का बहुत कुछ आधार यही आँकड़े बनते हैं। जनगणना, कृषि सर्वेक्षण, भूमि के उपयोग सम्बन्धी सूचनाएँ तथा पशु सर्वेक्षण आदि प्रमुख रूप से तहसीलदार की देखरेख में पूरे किये जाते हैं।

ऐसा प्रमुख अधिकारी स्वतंत्रता के पश्चात् भी प्रजातंत्र की दृष्टि से नियामकीय तथा नकारात्मक समझा जाता है। तहसीलदार का जनता से सबसे अधिक सम्पर्क रहता है और उसकी छवि एक रूखे, अड़ियल तथा भ्रष्ट अधिकारी की है। विचारणीय बिन्दु यह है कि ऐसे अधिकारी को किस प्रकार जनसेवक का रूप दिया जाये।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

1. जिला व तहसील के मध्य एक प्रशासनिक स्तर का सृजन किया जाता है जिसे उप खण्ड कहा जाता है।
2. उप खण्ड के प्रमुख अधिकारी को उप खण्ड अधिकारी या एस. डी.ओ. या एस. डी. एम. कहा जाता है।
3. उप खण्ड अधिकारी के पद पर सामान्यतः राज्य प्रशासनिक सेवा के अधिकारी को नियुक्त किया जाता है।
4. उप खण्ड अधिकारी न्यायिक, नियामकीय, दण्डनीय एवं प्रशासनिक कार्यों को निष्पादित करने के लिए उत्तरदायी होता है।
5. राजस्व प्रशासन की अन्तिम महत्त्वपूर्ण इकाई को तहसील कहा जाता है।
6. तहसील कार्यालय में विभिन्न राजस्व प्रशासन के कार्मिक कार्य करते हैं।
7. तहसील कार्यालय का मुखिया तहसीलदार होता है जो कि राजस्थान तहसील सेवा का कार्मिक होता है।
8. तहसीलदार मुख्य रूप से राजस्व प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के निष्पादन के लिए उत्तरदायी होता है। इसके अतिरिक्त वह तहसील क्षेत्र में सामान्य प्रशासनिक कार्यों को भी निष्पादित करता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. उपखण्ड अधिकारी को किस राज्य में प्रान्त अधिकारी के नाम से जाना जाता है?

   (अ) राजस्थान (ब) मध्यप्रदेश

   (स) तमिलनाडु (द) महाराष्ट्र ( )

2. उप खण्ड अधिकारी की किस शक्ति के कारण उसे एस. डी. एम. कहा जाता है :

   (अ) न्यायिक (ब) दण्डनायक की

   (स) प्रशासनिक (द) उपर्युक्त सभी ( )

3. निर्वाचन की दृष्टि से उप खण्ड अधिकारी को कहा जाता है :

   (अ) निर्वाचक (ब) पंजीयन अधिकारी

   (स) दण्डनायक (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ( )

4. तहसील स्तर के समानान्तर किस स्तर की स्थापना की गई है :

   (अ) पटवार क्षेत्र (ब) विकास खण्ड

   (स) उप खण्ड (द) उपर्युक्त सभी ( )

5. तहसीलदार पर प्रत्यक्ष भर्ती पद्धति से कितने प्रतिशत पद भरे जाते हैं ?

   (अ) 66 (ब) 34

   (स) 67 (द) 36 ( )

6. जिला राजस्व कार्यालयों का प्रतिवेदन किस वर्ष प्रस्तुत किया गया था।

   (अ) 1920 (ब) 1921

   (स) 1919 (द) 1918 ( )

7. भर्ती व प्रशिक्षण की दृष्टि से एस.डी.ओ. पद हैः

   (अ) सामान्यज्ञ (ब) विशेषज्ञ

   (स) दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ( )

8. तहसीलदार को किस कानून के अन्तर्गत राजस्व सम्बन्धी विवाद सुनने का अधिकार है :

   (अ) राजस्थान काश्तकारी कानून, 1995

   (ब) राजस्थान भू–राजस्व अधिनियम, 1956

   (स) दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ( )

अति–लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. तमिलनाडु में उप खण्ड अधिकारी को किस नाम से जाना जाता है ?
2. भर्ती व प्रशिक्षण की दृष्टि से उप खण्ड अधिकारी किस प्रकृति का पद है ?
3. उप खण्ड अधिकारी सदर कानूनगो के अभिलेखों का कितना भाग प्रतिवर्ष स्वयं देखता है ?

4. राज्य के भौगोलिक विभाजन के आधार पर बनी अन्तिम प्रशासकीय इकाई का नाम बताइए।
5. किसी एक कानून का नाम बताइए जिसके अन्तर्गत तहसीलदार विभिन्न मुकदमों को सुनने का अधिकार रखता है।
6. उप खण्ड अधिकारी राजस्व के सन्दर्भ में किस श्रेणी का न्यायाधीश है?
7. उप खण्ड अधिकारी लोकसभा चुनाव में किस पदाधिकारी के रूप में कार्य करता है?
8. नायब तहसीलदार की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. उप खण्ड प्रशासन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. तहसील प्रशासन को संक्षेप में बताइए।
3. उप खण्ड अधिकारी के नियुक्ति से सम्बन्धित प्रावधानों को स्पष्ट कीजिए।
4. उप खण्ड अधिकारी के न्यायिक कार्यों को बताइए।
5. एक दण्ड नायक के रूप में उप खण्ड अधिकारी की भूमिका बताइये।
6. उपखण्ड अधिकारी के निरीक्षण सम्बन्धी कार्यों पर टिप्पणी लिखिए।
7. तहसीलदार पद पर नियुक्ति सम्बन्धी प्रावधानों को बताइए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. उप खण्ड अधिकारी की भूमिका का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. तहसीलदार के कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. उप खण्ड प्रशासन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. तहसीलदार की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

उत्तरमाला

(1) द (2) ब (3) ब (4) ब (5) अ (6) स (7) अ (8) स

अध्याय–24

पटवारी एवं ग्रामसेवक

(Patwari & Gramsevak)

प्रशासनिक व्यवस्था के विभिन्न आयामों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आयाम है राजस्व प्रशासन। सरकार को विभिन्न करों से प्राप्त होने वाली आय को राजस्व कहा जाता है। जब तक राजस्व सम्बन्धी प्रशासनिक व्यवस्था सुदृढ नहीं होगी तब तक सरकार वित्त की समुचित व्यवस्था के अभाव में अपने नियामकीय एवं विकासात्मक कार्यों का निष्पादन पूर्ण दक्षता से करने में सक्षम नहीं हो सकती है। राजस्व प्रशासन की आधारभूत इकाई जिला स्तरीय प्रशासनिक व्यवस्था होती है। जिला स्तरीय राजस्व प्रशासन की व्यवस्था में जिलाधीश, उपखंड अधिकारी, तहसीलदार और पटवारी प्रमुख कार्मिक होते हैं। इनमें से पटवारी सबसे निचले स्तर का, किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्मिक होता है।

पटवारी पदनाम संभवतः मुस्लिम शासकों की देन है लेकिन राजा के लिए भू–राजस्व एकत्र करने वाला यह कार्मिक उतना ही प्राचीन हैं जितनी कि राजशाही व्यवस्थाओं की ऐतिहासिक परम्परा। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ तक यह पद सरकार से स्वतंत्र था। यह गॉव का नौकर होता था और गाँव से ही वेतन प्राप्त करता था। सन् 1873 के राजस्व कानून के अधीन ही इस पद को सरकारी माना गया।

राजस्व कार्यों के लिए एक तहसील को कुछ पटवार क्षेत्रों (सर्किल) में विभाजित किया जाता है। एक पटवार सर्किल एक या अधिक गॉवों के समूह से बनता है। इसके निर्धारण के लिए खेतों की संख्या, कृषि क्षेत्र व अनुमानित राजस्व को ध्यान में रखा जाता है। पटवार सर्किल की स्थापना एवं परिवर्तन भू लेख निदेशक नामक पदाधिकारी कर सकता है लेकिन उसके लिए इसे राज्य सरकार की अनुमति लेनी आवश्यक होती है।

प्रत्येक पटवार सर्किल के लिए एक पटवारी रखा जाता है। उसे विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है जैसे– उत्तर प्रदेश में लेखपाल, तामिलनाडु में करनन, महाराष्ट्र में तलैटी तथा राजस्थान आदि में पटवारी। सभी राज्यों में इस कर्मचारी को बहुत महत्त्व दिया जाता है। जन सामान्य में यह कहावत है कि 'ऊपर करतार तथा नीचे पटवार'। राजस्थान में लम्बरदार के पद की समाप्ति से इस पद का महत्व और अधिक बढ़ा है। लम्बरदार के रूप में शासन द्वारा गाँव का मुखिया नियुक्त होता था जो राजस्व एकत्र करवाने के लिए उत्तरदायी था तथा कानून एवं व्यवस्था में सहयोग करता था। लम्बरदार पद सामन्ती मूल्यों का पोषक था अतः इसे 1963 में समाप्त कर दिया गया और पटवारी पद का सृजन किया गया।

भर्ती एवं प्रशिक्षण

(Recruitment and Training)

राजस्थान में पटवारी के पद पर भर्ती का अधिकार राजस्व मंडल को दिया गया है। इस सम्बन्ध में नियम राजस्व मंडल द्वारा ही बनाये जाते हैं। राजस्व मंडल द्वारा निर्मित नियमों के अनुरूप प्रत्येक जिले में पटवारी पद पर भर्ती का कार्य जिलाधीश द्वारा किया जाता है। इस पद के लिए न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता माध्यमिक स्तर तक की मानी गयी है। भर्ती के लिए एक समिति बनायी जाती है जिसमें जिलाधीश, उप खंड अधिकारी तथा राजस्व मंडल के एक सदस्य को रखा जाता है। प्रत्याशियों का चयन प्रतियोगी परीक्षाओं एवं साक्षात्कार के माध्यम से किया जाता है।

चयन के पश्चात् चयनित प्रत्याशियों को राजस्व प्रशिक्षण स्कूल, टोंक में प्रशिक्षण हेतु भेजा जाता है। लगभग नौ माह के प्रशिक्षण कार्यक्रम के मध्य उसे भाषा, गणित, भूगोल, सर्वेक्षण एवं भू–अभिलेख कार्य आदि व्यावहारिक विषय पढाये जाते हैं। इसके साथ ही प्रशिक्षणार्थियों को पटवार पत्रावलियों को तैयार करना, सर्वे करना तथा राजस्व विधियों एवं आदेशों का व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता है। प्रशिक्षण की अवधि में उन्हें मासिक भत्ता दिया जाता है। अन्त में राजस्व मंडल द्वारा आयोजित एक विभागीय परीक्षा होती है। परीक्षा में उत्तीर्ण पटवारियों को राजस्व मंडल विभिन्न जिलों में मॉग के अनुसार भेज देता है जिनकी पटवार सर्किल में नियुक्ति जिलाधीश द्वारा की जाती है।

पटवारी के स्थानान्तरण एवं अनुशासन की शक्तियाँ जिलाधीश को ही दी गई हैं। पटवारी के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह स्थायी रूप से अपने पटवार क्षेत्र में रहे। लेकिन सामान्यतः पटवारी तहसील मुख्यालय पर ही रहते हैं। प्रत्येक पटवार सर्किल में पटवार घर स्थापित किया जाता है जिसमें पटवारी के कार्यालय तथा आवास की व्यवस्था होती है।

पटवारी के कार्य (Functions of Patwari)

पटवारी जिला स्तरीय राजस्व प्रशासन में नींव का पत्थर माना जाता है। पटवारी अपने क्षेत्र में तहसीलदार का प्रतिनिधित्व करता है। पटवारी के कार्यों को निम्न शीर्षकों द्वारा समझा जा सकता है :

1. भू–अभिलेख सम्बन्धी कार्य (Land Ragistrations)

गॉव की भू–सम्पत्ति से संबंधित विभिन्न अभिलेखों को रखने का दायित्व पटवारी का ही होता है। एक पटवारी लगभग 2000 काश्तकारों के अभिलेख रखता है। अपने पटवार क्षेत्र में भूमि से संबंधित दस्तावेज, नक्शे तथा अन्य अभिलेख स्त्रोतों को भली प्रकार से रखने का उत्तरदायित्व पटवारी का होता है। इन अभिलेखों का निर्धारण, पटवारी राज्य सरकार द्वारा निर्धारित प्रपत्र में ही करता है। इन अभिलेखों में गाँवों के क्षेत्रफल, भूमि की प्रकृति, स्वामित्व, फसल की स्थिति, सिंचाई के साधन, भू–राजस्व आदि से संबंधित विवरण होता हैं। पटवार घर में पटवारी की डिक्री, गिरदावरी रिपोर्ट, जमाबंदी अभिलेख, वसूली पत्र, भू नक्शा, संरक्षण चिह्नों की सूची, मूल्याकंन खसरा आदि अभिलेख सुरक्षित रूप से रखे जाते हैं जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर भूमि सम्बन्धी विवाद का निपटारा किया जा सकें।

2. राजस्व संग्रहण (Revenue Collection)

राजस्व एकत्रित करने का मुख्य उत्तरदायित्व पटवारी का ही है। भू–राजस्व एकत्र करके तहसील मुख्यालय में जमा कराने का दायित्व पटवारी का हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखा जाता है कि :

(i) सरकार द्वारा निर्धारित किया गया राजस्व ही एकत्र किया जाए अर्थात अपनी इच्छा से इसे कम या अधिक न किया जाये,

(ii) भू–राजस्व का संग्रहण निर्धारित समय सीमा में किया जाए, तथा

(iii) एकत्रित राजस्व को निर्धारित समय सीमा में जमा कराया जाए।

पटवारी का यह भी दायित्व है कि वह सिंचाई कर, जुर्माने तथा अन्य शुल्क एवं ऋणों को भी वसूल करे।

3. राजस्व अभियानों का संचालन (Execution of Revenue campaigns)

ग्रामीण कृषकों तथा भूमि मालिकों की समस्याओं का समाधान करने हेतु कई बार विशिष्ट प्रशासनिक राजस्व अभियान संचालित किए जाते हैं। इन अभियानों के संचालन का दायित्व पटवारी का ही होता हैं।

4. भूमि सुधार (Land Improvement)

भूमि–सुधारों के प्रभावी क्रियान्वयन के अभाव में ग्रामीण कृषकों की कृषि व्यवस्था में विशेष रूप से कृषि भूमि में अनेक प्रकार की बाधाएँ आती थीं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए सरकार द्वारा भूमि–सुधार हेतु कार्यक्रम संचालित किए जाते हैं। इन भूमि सुधारों के सफल क्रियान्वयन, बंधुआ मजदूरी से मुक्ति तथा छोटे किसानों की सुविधाओं को ध्यान रखने के क्रम में पटवारी की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

5. समग्र ग्रामीण विकास (Integrated Rural Development)

यद्यपि पटवारी राजस्व कार्मिक है एवं विकास कार्यो का उत्तरदायित्व ग्राम सेवकों का होता है किन्तु वास्तव में जनता पर ग्राम सेवकों की तुलना में पटवारी का प्रभाव अधिक रहा है। आज भी पटवारी के जनता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध हैं तथा विभिन्न विकास कार्यक्रमों में वह जनता के साथ जुड़ा है। एकीकृत ग्रामीण विकास, अन्त्योदय योजना, काम के बदले अनाज योजना, 20 सूत्री कार्यक्रम, इंदिरा आवास योजना, ग्रामीण युवा स्वास्थ्य एवं रोजगार प्रशिक्षण कार्यक्रम, महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम आदि के संचालन में पटवारी की भूमिका प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। गॉव के प्रत्येक सदस्य के साथ पटवारी का निरन्तर सम्पर्क एवं सम्बन्ध उसकी भूमिका को प्रभावशाली बनाता है।

6. आपातकालीन सहायता (Help in Emergency)

बाढ, सूखा, अकाल, ओलावृष्टि, तूफान, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अग्निकांड, महामारी, टिड्डीदल आक्रमण द्वारा फसलों की क्षति आदि विपत्तियों के समय गॉव की जनता को राहत पहुँचाने का कार्य पटवारी का ही हैं। जब भी ऐसी कोई विपत्ति आती हैं तो गॉव में वन तथा पशु हानि तथा फसलों की हुई हानि के बारे में सम्पूर्ण विवरण उच्चतर अधिकारियों को पटवारी ही पहुँचाता है तथा इसी आधार पर राज्य सरकार द्वारा दी जाने वाली सहायता एवं जिलाधीश द्वारा किए जाने वालो अपेक्षित उपायों का निर्धारण होता है।

7. सांख्यिकी सम्बन्धी कार्य (Satistical Functions)

पटवारी अपने पटवार क्षेत्र के सभी ग्रामों की भू–राजस्व, फसल, पशुधन, सिंचाई आदि से संबंधित सांख्यिकी का एकत्रण कर उन्हें जिलाधीश के माध्यम से राजस्व मंडल को सम्प्रेषित करता है। इस सांख्यिकी को एकत्रित करने लिए पटवारी को निरन्तर भ्रमण करने पडते हैं तथा विभिन्न

स्त्रोतों से सूचनाओं को प्राप्त करना पडता है।

8. पंचायतीराज संस्थाओं से सम्बन्धित कार्य (Functions Related To Panchayati Raj Insititutions)

पटवारी पंचायती राज संस्थाओं से सम्बन्धित विभिन्न कार्यो को निष्पादित करता है। इन संस्थाओं के चुनावों के समय मतदान दलों की ग्रामीण क्षेत्रों में व्यवस्था करने का दायित्व पटवारी का ही होता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान में पटवारी ग्राम पंचायत की वित्त व कर समिति की कार्यवाहियों में मुख्य सहायक की भूमिका निभाता है।

9. विविध कार्य (Other Functions)

उपर्युक्त वर्णित कार्यो के अतिरिक्त पटवारी द्वारा अन्य कार्य भी निष्पादित किए जाते हैं :

(i) जनगणना सम्बन्धी कार्य,

(ii) भू–स्वामित्व से सम्बन्धित दस्तावेज प्रमाणित करना,

(iii) अभिलेखों की नकल तैयार करना,

(iv) अल्प बचत लक्ष्य आपूर्ति में योगदान देना, तथा

(v) मतदाता सूची तैयार करने में सहयोग देना।

इस प्रकार जिला स्तर पर राजस्व प्रशासन में पटवारी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यहाँ तक कहा जाता है कि राजस्व प्रशासन में पटवारी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्मचारी होता है। यहीं कारण है कि पटवारी पर नियत्रंण रखने की विधिक व्यवस्था भी की गयी है। पटवारी को प्रतिदिन किए गए कार्यो को एक डायरी में अंकित करना होता है। यदि पटवारी ने निर्धारित कार्यक्रम के अनुरूप कार्य नहीं किया हो तो उसके वेतन में कटौती कर दी जाती है। इसके अतिरिक्त तहसील स्तर का एक कर्मचारी जिसे गिरदावर (राजस्व निरीक्षक) के नाम से जाना जाता है उसे पटवारी के कार्यों के निरीक्षण के लिए नियुक्त किया जाता है।

ग्राम सेवक (Gram-Sevak)

पंचायती राज व्यवस्था में ग्राम पंचायत स्तर पर ग्राम सेवक एक महत्त्वपूर्ण कार्मिक हैं। ग्राम सेवक ही ग्राम पंचायत का सचिव होता है। पंचायती राज अधिनियम में प्रावधान यह किया गया है कि प्रत्येक ग्राम पंचायत में एक सचिव होगा। पूर्व में सहायक सचिव भी नियुक्त होते थे परन्तु राज्य सरकार ने अधिनियम में संशोधन कर सहायक सचिव का पद समाप्त कर दिया है। ग्राम सेवक को ही पंचायत सचिव कहा जाता है।

नियुक्ति (Appointment)

राजस्थान पंचायत राज अधिनियम 1994 के अनुसार प्रत्येक पंचायत के लिए एक सचिव या पंचायतों के किसी समूह के लिए पंचायत सचिव होगा। अधिनियम के अनुसार गठित राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद सेवा के अर्न्तगत नियुक्त ग्राम सेवक ही पंचायत सचिव के रूप में कार्य करता है। नियमों में यह व्यवस्था भी की गई है कि जब जिला स्थापना समिति द्वारा चयनित व्यक्ति उपलब्ध न हो तो ग्राम पंचायत जिला स्थापना समिति से पूर्व स्वीकृति के पश्चात 6 माह के लिए संविदा आधार पर कोई कर्मचारी अस्थायी रूप से नियुक्त कर सकती है।

राजस्थान में वर्तमान में नगरपालिकाओं एवं राज्य सरकार के विभागों से अधिशेष (सरप्लस) कर्मचारी पंचायती राज विभाग में सचिव के पद पर कार्य कर रहे हैं। चयनित ग्राम सेवकों या पंचायत सचिवों को पंचायत प्रशिक्षण केन्द्र अजमेर, मंडोर और डूंगरपुर में प्रशिक्षण दिया जाता है।

ग्राम सेवक के कार्य (Functions of Gram-Sevak)

ग्राम सेवक के कार्यों के सम्बन्ध में विस्तृत प्रावधान पंचायती राज अधिनियम 1994 में तथा उसी के अर्न्तगत निर्मित नियमों में किए गए हैं जो निम्न प्रकार हैं :

I. अधिनियम की धारा 78(2) में वर्णित कर्त्तव्य (Duties Defined In Section 78(2) of the act)

प्रत्येक पंचायत के सचिव या किसी समूह पंचायत सचिव के, सरपंच के नियत्रंण के अधीन रहते हुए निम्नलिखित कर्त्तव्य होंगे :

(अ) पंचायत के अभिलेख और रजिस्टर अपनी अभिरक्षा में रखना,

(ब) पंचायत के निमित्त प्राप्त धनराशियों के लिए अपने हस्ताक्षर से रसीदें जारी करना,

(स) पंचायत निधि के लेखे रखने के लिए उत्तरदायी होना,

(द) पंचायत निधि की सुरक्षित अभिरक्षा के लिए उत्तरदायी होना,

(च) अधिनियम व नियमों के द्वारा अपेक्षित समस्त विवरण और रिपोर्ट तैयार करना, तथा

(छ) समस्त ऐसे भुगतान करना जो पंचायत द्वारा मंजूर किये जायें।

II. बैठकों के नोटिस, एजेन्डा व अनुपालना सम्बन्धित कार्य

1. ग्राम सभा का नोटिस निर्धारित तारीख से 15 दिन पूर्व

नोटिस बोर्ड पर लगाना, घोषणा करवाना और इनकी प्रतियाँ नियमों में निर्धारित जन प्रतिनिधियों व अधिकारियों को प्रेषित करना,

2. बैठकों में एजेन्डा पर जो विचार–विमर्श होता है, उसकी पूरी कार्यवाही का विवरण दर्ज करना,
3. आगामी ग्राम सभा के समक्ष रिपोर्ट प्रस्तुत करना,
4. प्रत्येक पखवाडे सामान्य बैठकों का आयोजन, नोटिस, बैठक संचालन व पालना, तथा
5. विशेष बैठक का नोटिस, बैठक, संचालन व पालना।

III. करों व फीस संबंधी कार्यवाही

(Work Related To Taxes And Fees)

1. नियम के अनुसार निर्धारित विभिन्न कर लगाने हेतु आपत्तियां आमंत्रित करने हेतु नोटिस जारी करना,
2. प्राप्त आपत्तियों पर विचार एवं निर्णय करवाना,
3. पंचायत प्रस्ताव द्वारा फीस की दरें निर्धारित करवाकर तद्नुसार वसूल करना,
4. चुंगी वसूली,
5. भवन कर, वाहन कर, वाणिज्यिक फसलों पर कर, जल कर हेतु अन्य कार्यवाही, तथा
6. कांजी हाउस की चराई फीस व जुर्माने की सही वसूली।

IV. अचल सम्पत्तियों संबंधी कार्यवाही

(Work Related To Permanent Properties)

1. सभी भवनों व अचल सम्पत्तियों का रजिस्टर में संधारण।
2. सम्पत्तियों के रखरखाव की व्यवस्था।
3. नई आबादी भूमि के आवासीय/वाणिज्य भूखंडों की योजना बनवाकर ग्रामीण विकास विभाग से अनुमोदन पश्चात आरक्षित दर से नीलामी आदि द्वारा भूखंड आवंटन।
4. आबादी, भूमि आवंटन हेतु प्रार्थनापत्रों का रजिस्टर में संधारण।
5. पंचों के साथ मौका निरीक्षण का साईट प्लान बनाना।
6. आपत्तियों हेतु एक माह का नोटिस जारी करना।
7. नीलामी समिति द्वारा नीलामी करवाना।
8. नीलामी न्यूनतम बाजार दर से प्रारम्भ करना।
9. 10,000/– से अधिक नीलामी बोली होने पर सक्षम स्वीकृति बाद ही 75 प्रतिशत राशि जमा कर पट्टा जारी करना।
10. आपसी बातचीत द्वारा भूमि निस्तारण में जिलाधीश द्वारा निर्धारित न्यूनतम दर ध्यान में रखना।
11. 50 वर्ष पुराने मकानों के पट्टे जारी करने हेतु पूरी जाँच करना।
12. आवंटन के भूखंडों में नियमों की पालना करना।
13. भूमि के अस्थाई उपयोग करने वालों का सर्वे कर सूची अनुसार वार्षिक किराया वसूली करना।
14. मकान/दुकान किराये पर देते समय निर्धारित शर्तों की पालना।
15. पट्टे पर सरपंच के साथ संयुक्त हस्ताक्षर करना।
16. निर्धारित प्रपत्र में पट्टा बही रजिस्टर संधारित करना।
17. पट्टा रजिस्टर की एक प्रति हर माह के पहिले सप्ताह में विकास अधिकारी को प्रेषित करना जहॉ कंट्रोल रजिस्टर में पट्टों का इंद्राज कर सत्यापन होता है।
18. चरागाहों हेतु गांव वार समितियाँ बनवाकर चरागाह विकास करवाना व पंचायत प्रस्ताव अनुरूप चराई फीस वसूली।
19. तालाबों से अधिकतम आय हेतु कार्यवाही। तथा
20. कृषि फार्म व फलोद्यान के समय ठेका करवा कर कार्यवाही करवाना।

V. निर्माण कार्यों संबंधित कार्यवाही

(Constructional Functions)

1. निर्माण कार्यो के अनुमान कनिष्ठ अभियंता से तैयार करवाना,
2. जवाहर ग्राम समृद्वि योजना के जारी निर्देशों की पालना करना,
3. निर्माण कार्यो का नियमानुसार तकनीकी अनुमोदन,
4. 10,000/– रूपये तक कच्चे व 50,000/– रूपये से अधिक मूल्य के पक्के निर्माण कार्य जिला विकास अभिकरण द्वारा स्वीकृति बाद प्रारम्भ करना,
5. प्रत्येक माह कार्यों की भौतिक प्रगति रिपोर्ट बनाकर निर्धारित तारीखों पर पंचायत समिति में भेजना,
6. प्रपत्र 25 में कार्यों का रजिस्टर संधारण करना, तथा
7. सामग्री क्रय प्रक्रिया का पालन करना।

VI. बजट एवं लेखा व ऑडिट संबंधी कार्य (Functions Related To Budget, Accounts And Audit)

1. 15 फरवरी तक निर्धारित प्रपत्र 27 में बजट तैयार कर पंचायत में पेश करना,
2. राजस्व की समय पर वसूली कर मांग व वसूली रजिस्टर प्रपत्र 4 में लेखा संधारित करना,
3. पंचायत द्वारा स्वीकृत इम्प्रेस्ट राशि रू. 500/—से अधिक राशि बैंक/पोस्ट ऑफिस में ही जमा करवाना,
4. बिना बजट प्रावधान व्यय नहीं हो यह सुनिश्चित करना,
5. पास बुक, चेक बुक, रसीद बुक रखना,
6. कैश बुक, लेजर, राजस्व रजिस्टर, स्टॉक रजिस्टर निर्धारित प्रपत्रों में संधारित करना,
7. बिल व वाउचर सुरक्षित रखना,
8. हर माह पास बुक का मिलान बैंक/पोस्ट ऑफिस के खाते से करवाना,
9. त्रैमासिक एवं वार्षिक लेखा निर्धारित प्रपत्रों में तैयार कर पंचायत समिति को प्रेषित करना, तथा
10. ऑडिट हेतु उचित व्यवस्था करना एवं ऑडिट रिपोर्ट पर यथासंभव पालना करना।

VII. ग्राम सेवक (पंचायत सचिव) के अन्य कर्त्तव्य (Other Duties)

पंचायती राज अधिनियम 1994 के अन्तर्गत निर्मित नियम 331 के अनुसार ग्रामसेवक के अन्य कार्य निम्न हैं :

1. सचिव पंचायत में नियमित रूप से कार्यालय समय में उपस्थित रहेगा एवं सरपंच के निर्देशानुसार कार्य करेगा,
2. वह नियमित रूप से अपनी उपस्थिति इस हेतु निर्धारित रजिस्टर में दर्ज करेगा,
3. यदि एक से अधिक पंचायतों का कार्यभार सचिव के पास हो, तो विकास अधिकारी द्वारा सप्ताह के दिन नियत किये जायेंगे जिन दिनों वह संबंधित पंचायत में उपस्थित रहा करेगा। ऐसी परिस्थिति में उस पंचायत में केवल उन्हीं दिनों में सचिव उपस्थिति दर्ज करेगा।
4. हर माह की 20 तारीख को सचिव की उपस्थिति का सत्यापन प्रमाण पत्र सरपंच के द्वारा विकास अधिकारी को भेजा जायेगा,
5. विकास अधिकारी द्वारा स्वीकृत अवकाश की सूचना सचिव द्वारा सरपंच को भी दी जायेगी। पंचायत में रखे गये उपस्थिति पंजिका में तद्नुसार छुट्टी दर्ज होगी,
6. सचिव पंचायत अभिलेख के बारे में गोपनीयता बनाये रखेगा व सरपंच की स्वीकृति बिना किसी प्रार्थी को रिकार्ड का निरीक्षण या प्रति जारी नहीं करेगा,
7. वह पंचायत के आदेशों की पालना करेगा, पंचायत की बैठकों में नियमित रूप से शामिल होगा, बैठकों का कार्यवाही विवरण सही लिखेगा, पंचायत की पत्रावलियॉ, अभिलेख व रजिस्टर संधारित करेगा,
8. वह पंचायत की ओर से राशि प्राप्त करेगा, लेखा पुस्तिकायें संधारित करेगा, बजट तैयार करेगा, एवं निर्धारित तारीखों पर पंचायत/पंचायत समिति को निर्धारित रिपोर्ट व स्टेटमेंट भेजेगा,
9. पंचायत द्वारा स्वीकृत भुगतानों की व्यवस्था करेगा,
10. कर व फीस की वसूली हेतु मांग तैयार करवायेगा व अप्रेल माह में मॉग पत्र जारी करवायेगा,
11. मई माह में पटवारी द्वारा करों की वसूली में मदद करेगा,
12. वित्तीय वर्ष की अंतिम तिमाही में आयोजित ग्राम सभा के पूर्व वार्षिक कार्य योजना तैयार करवायेगा एवं पारित होने के बाद पंचायत समिति के माध्यम से जिला विकास अभिकरण की स्वीकृति हेतु भेजेगा,
13. राशि के संभावित आवंटन को ध्यान में रखने हेतु ग्राम सभा द्वारा प्रस्तावित कार्यो की प्राथमिकतायें तय करवायेगा,
14. स्वीकृत कार्यो की क्रियान्विति पंचों की कमेटी की देखरेख में करवायेगा,
15. स्वीकृति की शर्तो के अनुसार मस्टररोल व निर्माण कार्यो के लेखे रखेगा,
16. निर्माण कार्यों के तकनीकी मापदंड व गुणवत्ता बनाये रखेगा,
17. निर्माण कार्य पूरा होने के एक सप्ताह में कनिष्ठ अभियन्ता को सूचित कर एक माह की अवधि में पूर्णता प्रमाण प्राप्त करेगा,
18. जुलाई व जनवरी माह में पंचों की कमेटी के साथ आबादी व चारागाह भूमियों में अतिक्रमण के मामलों के सर्वेक्षण हेतु जायेगा,
19. अतिक्रमणों का सर्वेक्षण रजिस्टर संधारित करेगा तथा पंचायत/तहसीलदार को राजस्व व अन्य नियमों के अनुसार बेदखली/नियमन हेतु रिपोर्ट भेजेगा, तथा

20. आबादी भूमि के क्रय हेतु प्राप्त प्रार्थनापत्रों का नियमानुसार शीध्रतिशीध्र निपटारा करवायेगा।

इस प्रकार ग्राम पंचायत स्तर पर प्रमुख कार्मिक ग्राम सेवक या पंचायत सचिव होता है जो कि ग्राम पंचायतों के कार्य संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- जिला स्तरीय राजस्व प्रशासन में पटवारी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्मचारी होता है।
- पटवारी पद नाम संभवतः मुस्लिम शासकों की देन है।
- राजस्व कार्यों के लिए एक तहसील को कुछ पटवार सर्किल में विभाजित किया जाता हैं। पटवार सर्किल का प्रमुख कर्मचारी पटवारी होता है।
- पटवारी के पद पर भर्ती जिलाधीश द्वारा राजस्व मंडल के नियमों के अनुसार की जाती है।
- पटवारी मुख्य रूप से भू–अभिलेख संधारण व संरक्षण का कार्य करता है।
- इसके अतिरिक्त राजस्व संबंधी अन्य कार्य भी पटवारी अपने क्षेत्र में निष्पादित करने के लिए उत्तरदायी होता है।
- सामान्य प्रशासनिक कार्यो के निष्पादन में भी पटवारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।
- पटवारी के पद पर अनुशासनहीनता की संभावना अधिक रहती हैं। इसलिए इस पर नियंत्रण करने के लिए कुछ प्रावधान किए गए है।
- ग्राम पंचायत के सचिवालय में एक सचिव होता है जिसे ग्राम सेवक या पंचायत सचिव कहा जाता है।
- ग्राम सेवक राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद सेवा का कार्मिक होता है।
- ग्राम सेवक के कर्त्तव्यों का विवरण पंचायती राज अधिनियम तथा उसके अनुरूप बने नियमों में किया गया है।
- ग्राम सेवक, ग्राम पंचायत के कार्य संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. पटवार सर्किल की स्थापना एवं परिवर्तन का अधिकार होता है ?

   (अ) राजस्व मंडल (ब) भू लेख निदेशक
   (स) जिलाधीश (द) पटवारी ( )

2. उत्तर प्रदेश में पटवारी पद को किस नाम से जाना जाता है ?

   (अ) लेखपाल (ब) कारनाम
   (स) तलैटी (द) पटवारी ( )

3. पटवारी के प्रशिक्षण की अवधि कितनी होती है ?

   (अ) 6 माह (ब) 1वर्ष
   (स) 8 माह (द) 9 माह ( )

4. पटवारी पंचायत समिति की किस समिति का मुख्य सहायक होता हैं ?

   (अ) शिक्षा (ब) वित्त व कर
   (स) समाज सेवा (द) उत्पादन कार्यक्रम ( )

5. ग्राम सेवक को अन्य किस नाम से जाना जाता है?

   (अ) पंचायत सचिव (ब) सहायक सचिव
   (स) पंचायत अधिकारी (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं ( )

6. राजस्व से होने वाली आय से क्या तात्पर्य है ?

   (अ) राजाओं की संपत्ति (ब) सरकार के अधिकार
   (स) सरकार के कर (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं( )

7. पटवारी नाम पद कौनसे शासकों की देन है ?

   (अ) मुस्लिम (ब) ब्रिटिश
   (स) मौर्य (द) गुप्त ( )

8. ग्राम सेवक पद पर नियुक्त कार्मिक किस सेवा वर्ग से संबंधित होता है ?

   (अ) राजस्थान प्रशासनिक सेवा
   (ब) राजस्थान ग्राम सेवक सेवा
   (स) राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद सेवा
   (द) राजस्थान तहसीलदार सेवा ( )

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. सरकार की आय का प्रमुख स्त्रोत बताइए ।
2. किस वर्ष पटवारी पद को सरकारी पद माना गया है ?
3. पटवारी के प्रशिक्षण देने वाले केन्द्रों के नाम बताइए ।
4. लम्बरदार नामक पद कब समाप्त किया गया था ?
5. ग्राम सेवकों को प्रशिक्षण देने वाले केन्द्रों के नाम बताइए।
6. तमिलनाडु में पटवारी को किस नाम से जाना जाता है ?
7. पटवारी के स्थानान्तरण की शक्तियाँ किसके पास है ?

8. ग्राम सेवक, ग्राम सभा की बैठक की सूचना कितने दिन पूर्व नोटिस बोर्ड पर लगाता है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. पटवारी पर नियंत्रण व्यवस्था पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. पटवारी की भर्ती व प्रशिक्षण व्यवस्था को बताइए।
3. ग्राम सेवकों की नियुक्ति संबंधी प्रावधानों को बताइए।,
4. भारत में पटवारी पद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर टिप्पणी लिखिये ।
5. पटवारी के भू–अभिलेख सम्बन्धी कार्यों को संक्षेप में समझाएँ।
6. पटवारी के राजस्व सम्बन्धी कार्यों पर टिप्पणी लिखिए।
7. अचल सम्पत्ति संबंधी कार्यवाही के संदर्भ में ग्राम सेवक की भूमिका पर टिप्पणी लिखिए।
8. ग्राम सेवक के बजट व लेखा सम्बन्धी कार्यों को बताइए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजस्व प्रशासन में पटवारी की भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. ग्राम सेवक के कार्यो की विवेचना कीजिए।
3. "पटवारी, राजस्व, प्रशासन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्मिक है।" स्पष्ट कीजिये?
4. ग्राम सेवक की भूमिका की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये?

उत्तरमाला

1. (ब) 2. (अ) 3. (अ) 4. (ब)
5. (अ) 6. (स) 7. (अ) 8. (स)

इकाई–X

अध्याय–25

राजस्थान में नगरीय प्रशासन

(Urban Administration in Rajasthan)

भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया है। इस प्रकार की शासन व्यवस्था में त्रिस्तरीय प्रशासनिक व्यवस्था अपनायी गयी है। केन्द्रीय स्तर पर केन्द्रीय प्रशासन, राज्य स्तर पर राज्य प्रशासन तथा स्थानीय स्तर पर स्थानीय प्रशासन। स्थानीय प्रशासन, शासन की वह व्यवस्था है, जिसमें स्थानीय नागरिकों का अपनी स्थानीय समस्याओं के समाधान के लिए स्वयं को व्यवस्था करने का अधिकार दिया जाता है। इसके द्वारा स्थानीय नागरिकों द्वारा स्थानीय स्तर पर ही अपनी समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया जाता है।

स्थानीय शासन की व्यवस्था जिस रूप में स्वीकार की गयी थी उसे प्रारम्भ में 'स्थानीय स्वशासन' नाम दिया गया था लेकिन कालान्तर में इस अवधारणा को स्थानीय शासन एवं स्थानीय प्रशासन के नाम से पहचाना गया। कुछ विद्वान स्थानीय स्वशासन एवं स्थानीय प्रशासन को एक ही अर्थ में प्रयोग में लाते हैं लेकिन कुछ विद्वानों ने इन दोनों के मध्य अन्तर बताया है जो निम्न प्रकार है :

स्थानीय प्रशासन	स्थानीय स्वशासन
1. स्थानीय प्रशासन शासन की प्रशासकीय व्यवस्था का एक अंग है।	1. यह शासन की प्रशासकीय व्यवस्था का अंग नहीं है।
2. राज्य का पूर्ण नियंत्रण रहता है।	2. राज्य का सीमित नियंत्रण रहता है।
3. स्थानीय प्रशासन के कार्मिक लोक सेवक माने जाते हैं।	3. इनके कर्मचारी लोक सेवक नहीं माने जाते हैं।
4. स्थानीय प्रशासन सरकार के द्वारा बनाए गए नियमों के अन्तर्गत कार्य करता है।	4. अपने नियमों का निर्माण स्वयं करता है।
5. नौकरशाही प्रभावी रहती है।	5. नौकरशाही का प्रभाव बहुत कम रहता है।
6. जनप्रतिनिधियों का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं रहता।	6. जन प्रतिनिधियों का प्रत्यक्ष प्रभाव रहता है।
7. जनता की आवश्यकताओं के प्रति उदासीन रहती है एवं राज्य सरकार के निर्णय पर निर्भर रहती है।	7. ये संस्थाएं जनता की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक रहती हैं।

विद्वानों द्वारा बताए गए उपर्युक्त अन्तरों के गहन विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि स्थानीय स्वशासन एवं स्थानीय प्रशासन में अन्तर का मुख्य आधार राज्य सरकार का नियंत्रण होता है। यद्यपि भारत में इस स्तर की स्थापना का मुख्य उद्देश्य स्वशासन की स्थापना करना था लेकिन अनेक कारणों से इस स्तर पर राज्य का नियंत्रण प्रभावी रहने लगा इसलिए इसे स्थानीय शासन या स्थानीय प्रशासन के नाम से ही जाना जाता है। भारतीय संविधान में स्थानीय शासन शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्थानीय शासन स्थानीय नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक सीमित क्षेत्र या स्थान विशेष में उस क्षेत्र की जनता की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थापित किया जाता है।

स्थानीय शासन का महत्त्व (Importance of Local Administration)

स्थानीय शासन का महत्त्व प्राचीन काल से चला आ रहा है तथा राजाओं के राज्य काल में भी शासन की इकाइयों की आवश्यकतानुसार स्थापना होती रही है। प्रशासनिक इतिहास के पन्नों पर दृष्टिपात करें तो यह विदित होता है कि इन संस्थाओं का अस्तित्व किसी न किसी रूप में सदैव प्रत्येक काल और प्रत्येक राज्य में विद्यमान रहा है। समस्त विश्व में लोकतांत्रिक विचारों के विस्तार के साथ ही यह विचारधारा बलवती होती चली गई कि स्थानीय शासन को स्थानीय व्यक्तियों द्वारा ही संचालित किया जाना चाहिए। न केवल प्राचीन काल में अपितु आज विश्व के सभी सभ्य एवं प्रजातांत्रिक राष्ट्रों में स्थानीय संस्थाओं का एक जाल सा बिछा हुआ मिलता है और संघीय एवं प्रान्तीय सरकारें नागरिकों के स्थानीय महत्त्व के अधिकांश कार्य इन संस्थाओं के द्वारा ही करवाने लगी हैं।

आधुनिक युग में इन संस्थाओं के महत्त्व में अत्यधिक वृद्धि हुई है सभी प्रजातंत्रीय और लोक कल्याणकारी राज्यों में शासन संबंधी कार्यों का इतना अधिक महत्त्व और विस्तार हो गया है कि केवल केन्द्रीय शासन या राज्य शासन इन कार्यों का निष्पादन नहीं कर सकता। इसी कारण समस्त लोकतांत्रिक देशों में राष्ट्रीय और प्रान्तीय सरकारें इनके कार्यभार को हल्का करने की दृष्टि से स्थानीय शासन की संस्थाओं को व्यापक उत्तरदायित्व दे रही हैं।

स्थानीय शासन की संस्थाएं न केवल आधुनिक नागरिक जीवन के लिए अनिवार्य बन गई हैं अपितु ये प्रजातंत्र की निर्वाहक भी हो गई हैं। यद्यपि स्थानीय शासन के बिना प्रजातंत्र तो चल सकता है लेकिन प्रजातंत्र अपने पूर्ण विशुद्ध स्वरूप में केवल तभी साकार हो सकता है जब वह समस्त नागरिकों को शासन में सहभागिता प्रदान करे। यह लक्ष्य स्थानीय संस्थाओं के द्वारा सरलता से पूरा किया जा सकता है।

स्थानीय शासन के महत्त्व को बताते हुए **लार्ड ब्राइस** ने लिखा है कि ''स्थानीय संस्थाओं से नागरिकों में परस्पर सौहार्द्र, मेल–मिलाप, सामाजिकता, न्यायप्रियता और सामान्य कार्यों के प्रति सामान्य समझ जैसे गुणों का विकास अपने आप ही हो जाता है।''

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि आधुनिक विशाल राज्यों में नागरिकों की सामुदायिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सक्रिय स्थानीय शासन की संस्थाओं का अत्यधिक महत्त्व है।

भारत में स्थानीय शासन का विकास (Development of Local Administration in India)

भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाएँ **अतीत काल से चली आ रही हैं फिर भी नगरीय एवं ग्रामीण दोनों प्रकार की स्थानीय संस्थाओं का व्यवस्थित आरम्भ 19वीं शताब्दी से माना जाता है।**

प्राचीन भारत में आज की तरह स्थानीय शासन को नगरीय व ग्रामीण क्षेत्रों में विभाजित किया हुआ था। बौद्धकाल में हमारे देश में अनेक छोटे–छोटे गणराज्य थे। इन गणराज्यों में ग्रामीण स्वशासन का महत्त्वपूर्ण स्थान था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में चन्द्रगुप्त मौर्य ने स्वायत्त शासन प्रणाली प्रचलित कर शासन के विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाई थी।

मुग़ल काल में भी स्थानीय शासन विद्यमान था। इस काल में भी नगरीय व ग्रामीण दोनों प्रकार के स्थानीय शासन की व्यवस्था थी। इस काल में स्थानीय शासन के विषय में **अबुल फजल कृत आईन–ए–अकबरी** में विवरण मिलता है।

भारत में स्थानीय शासन के आधुनिक स्वरूप का प्रारम्भ ब्रिटिश काल से ही माना जाता है। यद्यपि प्रारम्भिक ब्रिटिश काल में इन संस्थाओं को नष्ट कर दिया गया था लेकिन धीरे–धीरे पुनः इनका विकास होने लगा। 1882 में **लार्ड रिपन** ने स्वायत्त शासन संस्थाओं के विकास का एक प्रस्ताव तैयार किया। लार्ड रिपन के इस प्रस्ताव का उद्देश्य राजनीतिक और सार्वजनिक शिक्षा की प्रगति और विस्तार करना बताया गया। यह भी घोषित किया गया कि इस प्रस्ताव के माध्यम से बुद्धिमान लोगों को स्थानीय शासन के कार्य में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा। लॉर्ड रिपन के इस प्रस्ताव को स्थानीय स्वायत्त शासन का **मेग्नाकार्टा** भी कहा गया। लार्ड रिपन के इस प्रस्ताव को कुछ विद्वानों ने एक युगान्तरकारी प्रस्ताव माना है। इसी प्रस्ताव के कारण लॉर्ड रिपन को भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन का जनक माना जाता है।

लॉर्ड रिपन के प्रस्ताव के पश्चात् ब्रिटिश शासन काल में विभिन्न अधिनियमों के माध्यम से स्थानीय शासन की व्यवस्था में परिवर्तन होते गए। 1935 के भारत सरकार अधिनियम के पारित होने के साथ ही स्थानीय शासन की संस्थाओं को स्वायत्तता देने का प्रयास किया गया।

स्वतंत्र भारत में स्थानीय शासन (Local Administration in Independent India)

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में स्थानीय शासन के उसी स्वरूप को स्वीकार किया गया जो ब्रिटिश शासन काल में प्रचलित था। अन्य देशों के समान भारत में भी स्थानीय शासन को दो स्वरूपों में विभक्त किया है – नगरीय प्रशासन एवं ग्रामीण प्रशासन। भारत के संविधान निर्माताओं ने स्थानीय शासन विषय को राज्य सूची में स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त संविधान में शासन के इस तीसरे स्तर के सम्बन्ध में कोई प्रावधान नहीं रखा गया। ग्रामीण प्रशासन के रूप में बलवंत राय मेहता समिति के सुझावों के आधार पर पंचायती राज व्यवस्था को अपनाया गया।

संवैधानिक मान्यता के अभाव में स्वतंत्रता से लेकर 1992 तक स्थानीय शासन की संस्थाओं के कार्यकरण में अनेक कमियों और न्यूनताओं को अनुभव किया गया। इनमें से प्रमुख हैं :

(1) इन संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता का अभाव,

(2) इन संस्थाओं के अनियमित चुनाव,

(3) इनकी कमजोर वित्तीय स्थिति,

(4) इन्हें पर्याप्त शक्तियों व अधिकारों का अभाव,

(5) इन संस्थाओं में समाज के सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व का अभाव।

उपर्युक्त कमियों को दूर करने के लिए भारत में अनेक समितियों एवं विद्वानों ने सुझाव प्रस्तुत किए जिनमें से प्रमुख सुझाव यह रहा कि इन संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता दी जानी चाहिए। परिणाम स्वरूप भारत सरकार ने संविधान में दो व्यापक संशोधन किए जिन्हें क्रमशः ग्रामीण प्रशासन के लिए 73वां संविधान संशोधन अधिनियम (24 अप्रैल, 1993 से प्रवर्तित) और नगरीय संस्थाओं के लिए 74वां संविधान संशोधन अधिनियम (1 जून, 1993 से प्रवर्तित) के नाम से जाना जाता है।

भारत में स्थानीय शासन के विकास क्रम में उपर्युक्त दोनों संविधान संशोधन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन संशोधन अधिनियमों में स्थानीय शासन की संस्थाओं में व्याप्त न्यूनताओं को दूर करने सम्बन्धी प्रावधान रखे गए। इन दोनों संविधान संशोधनों के अनुसार सभी राज्यों ने अपने यहाँ प्रवर्तित पंचायती राज अधिनियमों व नगर निकायों से सम्बन्धित अधिनियमों को आवश्यकतानुसार संशोधित कर लिया है।

राजस्थान में नगरीय प्रशासन (Urban Administration in Rajasthan)

भारतीय संविधान में स्थानीय शासन विषय को राज्य सूची में रखा गया है अर्थात् प्रत्येक राज्य सरकार को यह स्वतंत्रता दी गई थी कि वे अपनी परिस्थितियों के अनुरूप स्थानीय शासन की व्यवस्था करें। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक राज्य में नगरीय प्रशासन की संगठनात्मक व्यवस्था भिन्न–भिन्न थी। 74वें संविधान संशोधन अधिनियम से पूर्व भारत में नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में निम्न छः प्रकार की संस्थाएँ कार्यरत थीं :

(1) नगर निगम

(2) नगर परिषद/नगरपालिका

(3) कस्बा क्षेत्र समिति

(4) अधिसूचित क्षेत्र समिति

(5) छावनी मण्डल

(6) एकल उद्देश्यीय अभिकरण

नगर निगम की स्थापना सामान्यतः महानगरों में की जाती थी जबकि छोटे नगरों में नगरपालिका / नगर परिषद की स्थापना की जाती थी। ऐसे क्षेत्रों में जो ग्राम से नगर बनने की प्रक्रिया में हों, कस्बा क्षेत्र समिति की स्थापना की जाती थी। पर्यटन व तीर्थ स्थल की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अधिसूचित क्षेत्र समिति की स्थापना की जाती थी। जिन स्थानों पर सेना की छावनी होती थी, वहाँ पर स्थानीय शासन के लिए छावनी मण्डल स्थापित किया जाता था। स्थानीय शासन से सम्बन्धित किसी एक विषय विशेष के शासन के लिए पृथक से एक संस्था बनायी जाती थी, जिसे एकल उद्देशीय अभिकरण कहा जाता था।

सभी राज्यों में उपर्युक्त छह प्रकार की संस्थाएँ नहीं थीं वस्तुतः संविधान संशोधन से पूर्व सम्पूर्ण देश में नगरीय प्रशासन की संगठनात्मक संरचना में एकरूपता का अभाव था।

नगरीय प्रशासन को संवैधानिक मान्यता देने एवं नगरीय प्रशासन में एकरूपता लाने के उद्देश्य से 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से संविधान में नगरीय प्रशासन की व्यवस्था, संरचना एवं कार्यों के सम्बन्ध में कुछ प्रावधान किए गए। राज्य सरकारों से यह अपेक्षा की गयी कि वे अपने राज्यों में संविधान के प्रावधानों के अनुरूप ही नगरीय प्रशासन की संगठनात्मक संरचना को निर्धारित करें।

इस संविधान संशोधन में तीन प्रकार की नगरीय प्रशासन की संस्थाओं का प्रावधान किया गया है :

(क) नगर निगम – (5 लाख से अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों में),

(ख) नगर परिषद – (1 लाख से अधिक व 5 लाख से कम जनसंख्या वाले क्षेत्रों में)

(ग) नगर पंचायत – (1 लाख से कम जनसंख्या वाले क्षेत्रों में या ऐसे क्षेत्रों में जो ग्राम से नगर बनने की प्रक्रिया में हों)

74वें संविधान संशोधन अधिनियम में वर्णित उपर्युक्त प्रावधानों के अनुरूप अधिकांश राज्य सरकारों ने अपने अधिनियम में संशोधन करके नगरीय प्रशासन की संरचना में परिवर्तन किया है लेकिन सभी राज्यों में पूर्ण रूप से संविधान के प्रावधानों के अनुरूप नगरीय प्रशासन की संरचना निर्धारित नहीं की गई है।

राजस्थान में 74वें संविधान संशोधन अधिनियम से पूर्व नगरीय प्रशासन की संरचना ''राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959'' के अन्तर्गत निर्धारित की गयी थी। 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के पश्चात् राजस्थान में नया अधिनियम नहीं बनाया गया अपितु पूर्व में प्रचलित अधिनियम में संशोधन के नगरीय प्रशासन की संरचना को 74वें संविधान संशोधन के सन्दर्भ में वर्ष 1994 में संशोधित किया गया। उसके पश्चात् भी आवश्यकतानुसार अधिनियम में संशोधन किए गए। वर्तमान में राजस्थान राज्य में नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में जो

संस्थाएं कार्यरत हैं उन्हें निम्न रेखाचित्र द्वारा दर्शाया गया है :

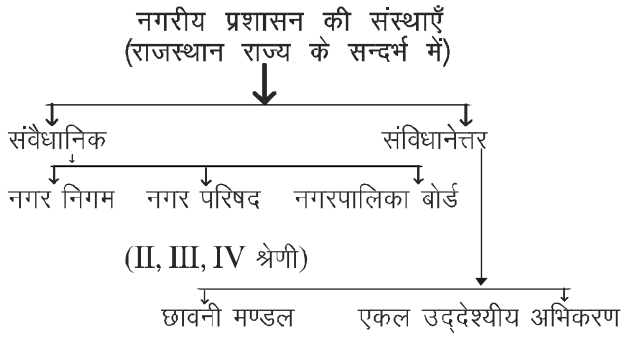

संवैधानिक संस्थाएं (Consitututional Insititutions)

संवैधानिक संस्थाएं वे हैं जिनका प्रावधान 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से संविधान में किया गया है। राजस्थान में नगर निगम, नगर परिषद एवं नगरपालिका बोर्ड नामक संवैधानिक संस्थाएं नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। यद्यपि संविधान में तीसरे स्तर की संस्था को नगर पंचायत नाम दिया गया था लेकिन राजस्थान में उसके स्थान पर नगरपालिका बोर्ड नामक संस्था कार्य कर रही है। इनमें प्रत्येक प्रकार की संस्था का विवरण निम्न प्रकार है :

(1) नगर निगम (Municipal Corporation)

महानगरों के स्थानीय प्रशासन के लिए जिस संस्था की स्थापना की जाती है उसे नगर निगम कहा जाता है। यह नगरीय प्रशासन की सर्वोच्च इकाई होती है। सर्वोच्चता से तात्पर्य है कि इनकी स्थापना महानगरों में ही की जाती है। भारत में नगर निगम की व्यवस्था ब्रिटिश शासन काल से ही प्रचलित है। ब्रिटिश शासकों ने भारत में बम्बई, मद्रास व कलकत्ता नगरों में स्थानीय प्रशासन की दृष्टि से नगर निगम की स्थापना की थी। यद्यपि ब्रिटिशकालीन नगर निगम का स्वरूप आधुनिक नगर निगम के स्वरूप से भिन्न था। भारत में वर्तमान में अनेक महानगरों में नगरीय प्रशासन की संस्था के रूप में नगर निगम स्थापित किए गए हैं। राजस्थान में शुरू में जयपुर, कोटा व जोधपुर में नगर निगम स्थापित किए गये।

नगर निगम की स्थापना (Establishment of Municipal Corporation)

नगर निगम की स्थापना करने के लिए संविधान संशोधन से पूर्व कोई मापदण्ड निर्धारित नहीं किए गए थे। राज्य सरकार नगर निगम की स्थापना करने के सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र होती थी लेकिन सामान्यतः जनसंख्या के आधार पर ही नगर निगम की स्थापना करने का निर्णय लिया जाता था। 74वें संविधान संशोधन अधिनियम में यह प्रावधान किया गया कि 5 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में नगर निगम स्थापित किए जायेंगे किन्तु विभिन्न राज्यों में ऐसे नगरों में भी नगर निगम स्थापित किए गए हैं जिनकी जनसंख्या 5 लाख से कम है। इसके अतिरिक्त नगरीय संस्था की वार्षिक आय को भी स्थापना का आधार बनाया जाता है। प्रावधान यह है कि यदि नगर में कार्यरत नगरीय संस्था की आय 50 लाख से अधिक होती है तो नगर निगम की स्थापना का निर्णय लिया जा सकता है। इस प्रकार भारत में नगर निगम बनाने के लिए निम्नलिखित आधारों को ध्यान में रखा जाता है :

1. घना बसा हुआ क्षेत्र हो,
2. विद्यमान नगरीय प्रशासन की इकाई पर्याप्त विकसित हो,
3. बढ़े हुए करों को वहन करने की जनता की क्षमता व इच्छा हो, तथा
4. नगर निगम के पक्ष में लोकमत हो।

उपर्युक्त वर्णित आधारों पर नगर निगम की स्थापना का निर्णय लिया जाता है। नगर निगम की स्थापना के लिए राज्य सरकार नगर के नागरिकों से नगर निगम के सम्बन्ध में एक निश्चित अवधि तक आपत्तियां आमंत्रित करती है। आपत्तियों के निराकरण के पश्चात् व्यवस्थापिका द्वारा सम्बन्धित नगर निगम के लिए एक पृथक अधिनियम पारित किया जाता है। इस अधिनियम के माध्यम से ही नगर निगम की स्थापना की जाती है। यद्यपि राजस्थान में इस व्यवस्था की पालना नहीं की गयी है अर्थात् राजस्थान के जिन नगरों में नगर निगम की स्थापना की गयी है उनकी स्थापना हेतु पृथक से अधिनियम पारित नहीं कराया गया है। पूर्व में प्रचलित नगरपालिका अधिनियम, 1959 के अन्तर्गत संशोधन करके ही नगर निगम की स्थापना कर दी गयी है।

नगर निगम का संगठन (Oraganisation of Municipal Corporation)

नगर निगम के संगठन के सम्बन्ध में संशोधित नगरपालिका अधिनियम, 1994 में विस्तृत प्रावधान किए गए हैं। नगर निगम की संगठनात्मक व्यवस्था को निम्न रेखाचित्र के माध्यम से दर्शाया जा सकता है :

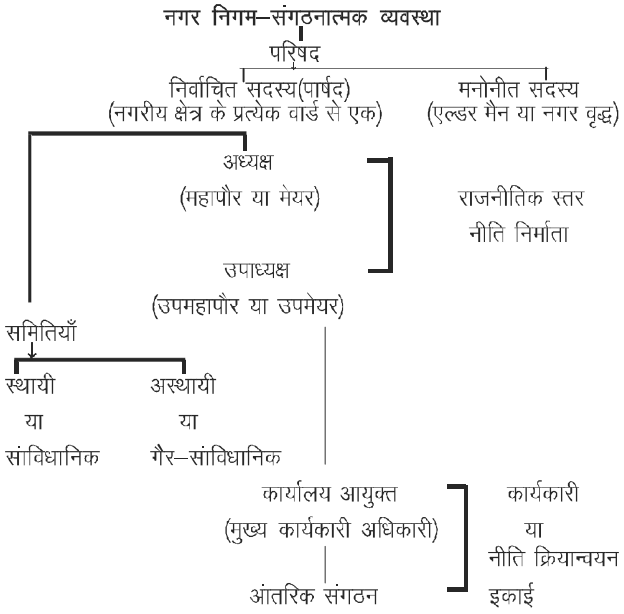

उपर्युक्त रेखाचित्र से नगर निगम की संगठनात्मक व्यवस्था स्पष्ट होती है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से नगर निगम के संगठन को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत समझा जा सकता है :

(1) परिषद (Parishad)

नगर निगम में सर्वोच्च स्तर पर नीति निर्माणक इकाई के रूप में एक परिषद होती है जिसमें जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं जिन्हें 'पार्षद' कहा जाता है कुछ राज्यों में इन्हें 'सभासद्' कहा जाता है। सम्पूर्ण नगरीय क्षेत्र को कुछ वार्डों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक वार्ड में एक सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होता है। परिषद में राज्य सरकार द्वारा नगर के वयोवृद्ध तथा अनुभवी समाजसेवकों में से सदस्यों का मनोनयन भी किया जाता है जिन्हें नगर वृद्ध या एल्डर मैन कहा जाता है। 74वें संविधान संशोधन प्रावधानों के अनुरूप अनुसूचित जाति, जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग व महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित रखे जाते हैं। उपर्युक्त आरक्षित कुल स्थानों के 1/3 सदस्य इन वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित है तथा कुल स्थानों के भी एक–तिहाई सदस्य महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे। अन्य वर्गों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या उपनगरीय क्षेत्र में उस वर्ग की जनसंख्या के आधार पर निर्धारित की जाती है।

(2) महापौर या मेयर तथा उप–महापौर या उप–मेयर (Mayor And Deputy Mayor)

नगर निगम का एक अध्यक्ष होता है जिसे महापौर या मेयर कहा जाता है। अध्यक्ष का चुनाव परिषद के सदस्यों में से ही परिषद के सदस्यों द्वारा किया जाता है। नगर निगमों के अधिनियमों में यह प्रावधान रखा जाता है कि महापौर का चुनाव एक वर्ष के लिए किया जाएगा। यदि परिषद के सदस्य चाहें तो दूसरे कार्यकाल के लिए भी उसी का चुनाव कर सकते हैं लेकिन राजस्थान में इस प्रावधान की पालना नहीं की जाती। यहां अध्यक्ष का चयन परिषद के कार्यकाल अर्थात् पांच वर्ष के लिए किया जाता है।

नगर निगमों की बैठकों की अध्यक्षता महापौर द्वारा की जाती है। नगर निगम के मेयर को कार्यकारी शक्तियां नहीं दी गयी हैं लेकिन कानून निर्माण एवं नीति निर्माण की सभी शक्तियां मेयर व उसकी परिषद में निहित होती है।

महापौर के अतिरिक्त नगर निगम में एक उप–महापौर का चुनाव भी पार्षदों द्वारा अपने ही सदस्यों में से किया जाता है। उप–महापौर का चयन भी पांच वर्ष के लिए किया जाता है। महापौर की अनुपस्थिति में उप–महापौर, महापौर की समस्त शक्तियों का प्रयोग करता है।

(3) नगर आयुक्त (City Commissioner)

नगर निगम की समस्त कार्यकारी शक्तियाँ एक प्रशासनिक अधिकारी में निहित होती हैं जिसे नगर आयुक्त, मुख्य कार्यपालक अधिकारी या नगरपालक कहा जाता है। इस पद पर नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है। यदि नगर निगम किसी केन्द्र शासित प्रदेश में है तो आयुक्त की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है। इस पद पर सामान्यतः भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी अथवा राज्य प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी की नियुक्ति की जाती है।

इस पद पर नियुक्ति एक निश्चित अवधि के लिए की जाती है। भिन्न–भिन्न राज्यों में आयुक्त का कार्यकाल भिन्न–भिन्न होता है। राजस्थान में आयुक्त का कार्यकाल तीन वर्ष निर्धारित किया गया है लेकिन राज्य सरकार को यह अधिकार है कि वह कार्यकाल से पहले भी उसे हटा सकती है या उसके कार्यकाल में वृद्धि कर सकती है।

अधिनियम में नगर आयुक्त की शक्तियों के सम्बन्ध में प्रावधान किए गए हैं। उसे प्रशासनिक, विधायी एवं वित्तीय शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। विधायी एवं वित्तीय शक्तियाँ सीमित होती है लेकिन प्रशासनिक क्षेत्र में उसकी शक्तियाँ व्यापक होती हैं।

(4) समितियाँ (Committees)

नगर निगम की परिषद का आकार सामान्यतः विस्तृत होता है। विस्तृत आकार के कारण परिषद अपनी गतिविधियों को प्रभावशाली तरीके से पूर्ण नहीं कर पाती है। इसी स्थिति

को देखते हुए समिति व्यवस्था को अपनाया गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसी विषय पर पर्याप्त विचार–विमर्श करने की दृष्टि से समितियों का गठन किया जाता है। ये समितियॉ दो प्रकार की होती है – सांविधिक एवं गैर–सांविधिक।

सांविधिक समितियों से तात्पर्य ऐसी समितियों से है जिनके सम्बन्ध में प्रावधान नगर निगम को स्थापित करने वाले अधिनियम में कर दिए जाते हैं। इस अधिनियम में ही समितियों के गठन, शक्तियों, कार्यों और अधिकारों के सम्बन्ध में प्रावधान कर दिए जाते हैं। सामान्यतः एक समिति में 7 से 9 तक सदस्य होते हैं। समिति के सदस्यों का चयन परिषद द्वारा अपने ही सदस्यों में से किया जाता है। समिति के सदस्य अपने एक अध्यक्ष का चयन करते हैं। इन समितियों को स्थायी समितियाँ भी कहा जाता है क्योंकि ये परिषद के कार्यकाल तक कार्य करती है। राजस्थान में अधिनियम में 15 स्थायी समितियों के संबंध में प्रावधान किए गए हैं। ये स्थायी समितियॉ मुख्य–मुख्य विषयों से सम्बन्धित होती हैं जैसे वित्त, प्रशासन, शिक्षा, स्वास्थ्य, जल आपूर्ति, विद्युत व्यवस्था आदि।

स्थायी समितियों की बैठकें सामान्यतः एक माह में एक बार होती है। स्थायी समिति सम्बन्धित विषय के सम्बन्ध में अध्ययन करके अपना प्रतिवेदन परिषद में प्रस्तुत करती है। स्थायी समिति के प्रतिवेदन के आधार पर ही परिषद द्वारा नीतियों का निर्माण किया जाता है।

गैर–सांविधिक समितियाँ ऐसी समितियाँ होती है जिनकी स्थापना स्वयं परिषद द्वारा आवश्यकतानुसार की जाती है। इन समितियों के सम्बन्ध में अधिनियम में प्रावधान नहीं होते हैं। इस प्रकार की समितियों का गठन किसी कार्य विशेष के लिए किया जाता है। कार्य पूर्ण होने पर ये समितियाँ स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं इसलिए इन समितियों को अस्थायी समितियॉ कहा जाता है।

उपर्युक्त समितियों के अतिरिक्त 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के प्रावधानों के अनुरूप 3 लाख से अधिक की जनसंख्या वाले नगरों में वार्ड समितियों के गठन का प्रावधान राजस्थान नगर पालिका अधिनियम में किया गया है। राजस्थान के तीनों नगर निगमों में वार्ड समितियों का गठन किया गया है। इसी प्रकार अधिनियम में महानगरीय क्षेत्रों में आयोजना के लिए महानगर आयोजना समिति के गठन का प्रावधान भी किया गया है लेकिन राजस्थान के किसी भी नगर निगम क्षेत्र में अभी तक ऐसी किसी समिति का गठन नहीं किया जा सका है।

नगर निगम के कार्य (Functions of Municipal Corporation)

नगर निगमों की स्थापना महानगरों में की जाती है। महानगरों में नगरीय समस्याएं अधिक होती हैं एवं उनकी प्रकृति भी जटिल होती है इसलिए नगर निगम के कार्य भी अत्यधिक व्यापक एवं जटिल होते हैं जिस अधिनियम के अन्तर्गत नगर निगम की स्थापना की जाती है उसी अधिनियम में नगर निगम के कार्यों के सम्बन्ध में प्रावधान कर दिए जाते हैं। नगर निगम के कार्यों को सभी राज्यों में तीन वर्गों में रखा जाता है :

(क) अनिवार्य कार्य

(ख) ऐच्छिक कार्य

(ग) विशेष कार्य

(क) अनिवार्य कार्य (Compulsory Functions)

अनिवार्य कार्यों में उन कार्यों को रखा जाता है, जिन्हें निष्पादित करना नगर निगम के लिए अनिवार्य होता है। सभी राज्यों के नगर निगमों में अनिवार्य कार्यों में भिन्नता पायी जाती है अर्थात् किसी राज्य में कोई कार्य अनिवार्य सूची में होता है तो वही कार्य दूसरे राज्य की नगर निगम की ऐच्छिक सूची में हो सकता है परन्तु अधिकांश नगर निगम, जिन अनिवार्य कार्यों को निष्पादित करते हैं, वे निम्न प्रकार हैं :

(i) पीने के पानी की व्यवस्था करना,

(ii) विद्युत का प्रबन्ध करना,

(iii) नगर में नालियों एवं जन सुविधाओं का निर्माण एवं रखरखाव,

(iv) सड़क परिवहन सेवाओं की व्यवस्था करना,

(v) सार्वजनिक मार्गों का निर्माण करना,

(vi) नगर में सफाई की व्यवस्था करना,

(vii) मृतक क्रियास्थलों का प्रबन्ध एवं रखरखाव करना,

(viii) जन्म एवं मृत्यु का लेखा–जोखा रखना,

(ix) बीमारियों की रोकथाम के लिए टीके लगवाने की व्यवस्था करना,

(x) नगर में स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना एवं रखरखाव करना,

(xi) अग्निशमन सेवाओं की व्यवस्था करना,

(xii) खाद्य पदार्थों एवं भोजनालयों पर नियंत्रण रखना,

(xiii) खतरनाक व्यापारों पर नियंत्रण रखना, तथा

(xiv) नगर निगम के प्रशासन के सम्बन्ध में वार्षिक प्रतिवेदन तैयार करना।

अनिवार्य कार्यों की सूची में वर्णित कार्यों को निष्पादित करना नगर निगम के लिए अनिवार्य होता है। यदि कोई नगर निगम इन कार्यों को निष्पादित नहीं करता है तो कोई भी नागरिक न्यायालय में याचिका दायर करके इन कार्यों को निष्पादित करने के लिए उसे बाध्य कर सकता है।

(ख) ऐच्छिक कार्य (Optional Functions)

ऐच्छिक कार्यों के अन्तर्गत ऐसे कार्यों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें निष्पादित करना नगर निगम की इच्छा पर निर्भर करता है। यद्यपि अधिनियम में यह प्रावधान किया गया है कि अनिवार्य कार्यों को निष्पादित करने के पश्चात् यदि नगर निगम के पास समय, श्रम और साधन उपलब्ध रहें तो वे ऐच्छिक कार्यों को प्राथमिकता से निष्पादित करेंगे। सामान्यतः नगर निगमों के प्रमुख ऐच्छिक कार्य निम्न होते हैं :

(i) सार्वजनिक उद्यानों, पुस्तकालयों, क्रीड़ा स्थलों का निर्माण एवं रखरखाव करना,

(ii) सार्वजनिक उपयोग के लिए भवनों का निर्माण करना,

(iii) विशिष्ट अतिथियों का स्वागत करना,

(iv) प्रदर्शनियों एवं मेलों का आयोजन करना,

(v) गरीबों तथा विकलांगों की सहायता करना,

(vi) सार्वजनिक स्थानों पर संगीत का प्रबन्ध करना,

(vii) आवारा पशुओं को पकड़ना,

(viii) सड़क किनारे छायादार वृक्षों को लगाना तथा उनकी देखभाल करना,

(ix) विवाह का पंजीकरण करना, तथा

(x) भवन एवं भूमि का सर्वेक्षण करना।

(ग) विशेष कार्य (Specified Functions)

विशेष कार्य वे हैं जो आपात् स्थितियों में उत्पन्न होते हैं और जिन्हें पूरा करना नगर निकायों का दायित्व हो जाता है, जैसे :

1. खतरनाक बीमारी के फैलने पर चिकित्सा सहायता एवं सुविधाएं प्रदान करना तथा बीमारी को फैलने से रोकने के उपाय करना, एवं
2. अकाल अथवा अभाव के समय निराश्रित लोगों की सहायता करना, अकाल राहत कार्य चलाना तथा उनका रख–रखाव करना।

74वें संविधान संशोधन अधिनियम में संविधान में 12वीं अनुसूची जोड़कर उन कार्यों को सूचीबद्ध किया गया है जिन्हें निष्पादित करने की अपेक्षा नगरीय प्रशासन की संस्थाओं से की गई है। 12वीं अनुसूची में वर्णित कार्यों की सूची प्रस्तुत अध्याय के अन्त में दी गई है ।

(2) नगर परिषद/नगरपालिका बोर्ड (Municipal Councils / Nagar Palika Board)

74वें संविधान संशोधन अधिनियम में तीन प्रकार की नगरीय प्रशासन की संस्थाओं के सम्बन्ध में प्रावधान रखे गए हैं। नगर निगम, नगर परिषद एवं नगर पंचायत लेकिन राजस्थान में नगर पंचायत के स्थान पर नगरपालिका बोर्ड नामक संस्था गठित की गई है। नगर परिषद व नगर पालिका बोर्ड की संगठनात्मक व्यवस्था, शक्तियों एवं कार्यों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। मुख्य अन्तर यह है कि नगर परिषद की स्थापना अधिक जनसंख्या वाले नगरों में की जाती है जबकि नगरपालिका बोर्ड की स्थापना कम जनसंख्या वाले क्षेत्रों में की जाती है। राजस्थान में नगरपालिका बोर्ड की तीन श्रेणियां बनायी गयी है : द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ। श्रेणी निर्धारण का आधार भी जनसंख्या को रखा गया है।

नगर परिषद एवं नगरपालिका बोर्ड की स्थापना राज्य सरकार द्वारा की जाती है। राज्य सरकार द्वारा इनकी स्थापना 'राजस्थान नगर पालिका अधिनियम, 1959 एवं संशोधित अधिनियम, 1994 के अन्तर्गत की जाती है। संविधान संशोधन से पूर्व इन संस्थाओं की स्थापना के लिए विभिन्न राज्यों ने भिन्न–भिन्न मापदण्ड अपना रखे थे। वर्तमान में संविधान के प्रावधानों के अनुरूप 1 लाख से अधिक एवं 5 लाख से कम जनसंख्या वाले नगरों में नगर परिषद की स्थापना की जाती है। 1 लाख से कम जनसंख्या वाले नगरों में नगरपालिका बोर्ड की स्थापना की जाती है।

संरचना (Structure)

नगर परिषद एवं नगर पालिका बोर्ड की संरचना समान होती है। इनकी संरचना को निम्न रेखाचित्र के माध्यम से दर्शाया जा सकता है :

नगर परिषद / नगर पालिका बोर्ड – संरचना
(Municipal Councils / Nagar Palika Board-Structure)

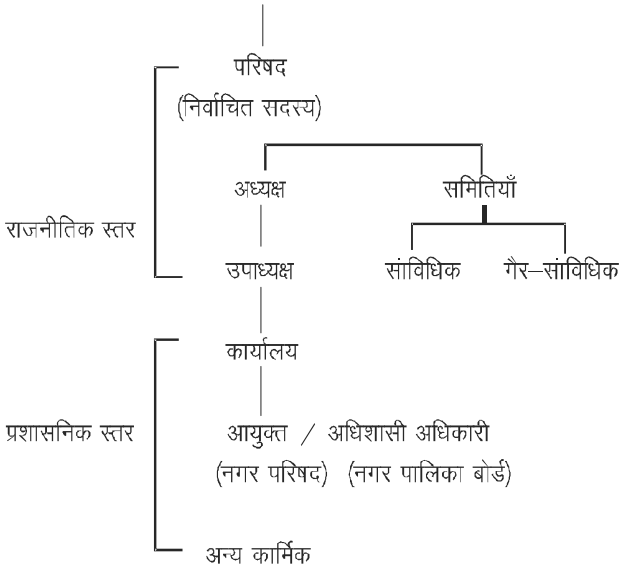

उपर्युक्त रेखाचित्र के आधार पर नगर परिषद एवं नगरपालिका बोर्ड की संरचना को निम्न शीर्षकों में समझा जा सकता है :

परिषद (Parishad)

नगर परिषद एवं नगरपालिका बोर्ड में निर्वाचित सदस्यों की एक सभा होती है, जिसे परिषद कहा जाता है। निर्वाचन की दृष्टि से सम्पूर्ण नगर को कुछ वार्डों में विभक्त कर दिया जाता है तथा प्रत्येक वार्ड से एक सदस्य का चुनाव जनता द्वारा किया जाता है। 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के प्रावधानों के अनुरूप अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग एवं महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित रखे जाते हैं। इन वर्गों के आरक्षण की वहां व्यवस्था है जो नगर निगम के सन्दर्भ में वर्णित है। कुछ राज्यों के पहाड़ी क्षेत्रों में सदस्यों के मनोनयन सम्बन्धी प्रावधान रखे गए हैं शेष राज्यों में मनोनीत सदस्य की व्यवस्था नहीं की गयी है। निर्वाचित सदस्यों का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है, अतः परिषद का कार्यकाल भी पाँच वर्ष ही होता है।

परिषद जन प्रतिनिधियों की एक सभा होती है जिसमें विभिन्न विषयों पर विचार विमर्श किया जाता है। विचार विमर्श के माध्यम से परिषद द्वारा नीतियॉ एवं नियम बनाए जाते हैं। संस्था के बजट का निर्माण भी परिषद द्वारा ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त नीतियों के क्रियान्वयन पर पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण रखने का दायित्व भी परिषद का ही होता है।

अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष (President And Vice President)

नगर परिषद एवं नगरपालिका बोर्ड में निर्वाचित सदस्य अपने ही सदस्यों में से एक अध्यक्ष एवं एक उपाध्यक्ष का निर्वाचन करते हैं। अध्यक्ष पद के लिए भी विभिन्न वर्गों के सदस्यों के लिए चक्रानुक्रम से आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष का निर्वाचन पाँच वर्ष की अवधि के लिए होता है। अध्यक्ष परिषद की बैठकों की अध्यक्षता करता है एवं सम्पूर्ण निकाय के प्रशासन पर नियंत्रण रखता है। राजस्थान नगर पालिका अधिनियम, 1959 की धारा 67 एवं 78 में अध्यक्ष के कार्यों के सन्दर्भ में प्रावधान किए गए हैं जिनमें से प्रमुख निम्न हैं :

(i) नगर परिषद या नगरपालिका बोर्ड़ की बैठक को आमंत्रित करना तथा उनकी अध्यक्षता करना,

(ii) नगर परिषद या नगरपालिका बोर्ड के वित्तीय एवं कार्यकारी प्रशासन पर पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण रखना,

(iii) नगरीय संस्था के कार्मिक प्रशासन पर नियंत्रण रखना,

(iv) नगरीय संस्था में पारित सभी प्रस्तावों को क्रियान्वयन के लिए सम्बन्धित अधिकारी को प्रस्तुत करना, तथा

(v) अन्य वे कार्य, जो समय–समय पर अधिनियम में संशोधन करके सौंपे जाएँ।

अध्यक्ष की अनुपस्थिति में या उसका पद रिक्त होने की स्थिति में उसके सभी अधिकारों का प्रयोग उपाध्यक्ष द्वारा किया जाता है। अधिनियम में उपाध्यक्ष पद के लिए आरक्षण की व्यवस्था नहीं की गयी है।

अध्यक्ष व उपाध्यक्ष यदि चाहें तो वे अपने पद से त्यागपत्र दे सकते हैं। उपाध्यक्ष अपना त्यागपत्र अध्यक्ष को प्रस्तुत करता है एवं अध्यक्ष राज्य सरकार द्वारा प्राधिकृत अधिकारी को अपना त्यागपत्र प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त अध्यक्ष व उपाध्यक्ष बिना सूचना के परिषद की बैठकों में एक माह तक अनुपस्थित रहता है तो उसे पद से हटाया जा सकता है। अधिनियम में इनके विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव की प्रक्रिया का प्रावधान भी रखा गया है।

आयुक्त या अधिशासी अधिकारी (Commissoner)

नगर परिषद एवं नगरपालिका बोर्ड़ का एक प्रशासनिक कार्यालय होता है। कार्यालय के प्रमुख अधिकारी की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है। इस अधिकारी को नगर परिषद में आयुक्त तथा नगर पालिका बोर्ड़ में अधिशासी अधिकारी के नाम से जाना जाता है। नगर परिषद में

आयुक्त की नियुक्ति राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों में से की जाती है जबकि नगरपालिका बोर्ड के अधिशासी अधिकारी की नियुक्ति नगरपालिका सेवा के वरिष्ठ अधिकारियों में से की जाती है। ये प्रशासनिक अधिकारी नगरीय संस्था के कार्मिकों पर प्रशासनिक नियंत्रण रखते हैं तथा नगरीय संस्थाओं के सभी प्रशासनिक कार्यों के निष्पादन के लिए उत्तरदायी होते हैं।

समितियाँ (Committees)

नगर परिषद एवं नगर पालिका बोर्ड अपने कार्यों का निष्पादन विभिन्न समितियों के माध्यम से करते हैं। ये समितियां दो प्रकार की होती हैं : सांविधिक व गैर–सांविधिक।

सांविधिक समितियाँ (Consititutional Committees)

ये वे समितियाँ होती हैं जिनकी स्थापना के सम्बन्ध में सम्बन्धित अधिनियम में प्रावधान किए जाते हैं। अधिनियम में ही इन समितियों के कार्यों व शक्तियों के भी प्रावधान कर दिए जाते हैं। वर्तमान में राजस्थान में नगर परिषद एवं नगर पालिका बोर्ड में निम्न पॉच सांविधिक समितियाँ गठित की गयी हैं :

(i) कार्यकारिणी समिति

(ii) वित्त समिति

(iii) कर समिति

(iv) स्वास्थ्य एवं स्वच्छता समिति

(v) नियम तथा उप–नियम समिति

ये समितियाँ परिषद के पूर्ण कार्यकाल तक कार्य करती रहती हैं इसलिए इन समितियों को स्थायी समितियाँ भी कहा जाता है। इन समितियों में परिषद के निर्वाचित सदस्य ही सदस्य होते हैं जिनका चयन परिषद के सदस्यों द्वारा ही किया जाता है। यदि अध्यक्ष किसी समिति का सदस्य होता है तो वह स्वतः ही उस समिति का अध्यक्ष होता है और यदि किसी समिति में अध्यक्ष सदस्य नहीं है और उपाध्यक्ष सदस्य है तो उपाध्यक्ष स्वतः ही उस समिति का अध्यक्ष बन जाता है। यदि अध्यक्ष व उपाध्यक्ष दोनों ही सदस्य नहीं हैं तो समिति के सदस्य अपने ही सदस्यों में से एक अध्यक्ष का निर्वाचन करते हैं।

इन सांविधिक समितियों की कार्य प्रक्रिया भी निर्धारित होती है। समिति के अध्यक्ष द्वारा बैठक आमंत्रित की जाती है। समिति की बैठक के लिए कम से कम आधे सदस्यों का होना अनिवार्य है। प्रत्येक समिति में सामान्यतः 5 से 8 तक सदस्य होते हैं। समिति में सभी निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाते हैं।

गैर–सांविधिक समितियॉ (Unconstitutional Committees)

ये वे समितियाँ होती हैं जिनकी स्थापना के सम्बन्ध में अधिनियम में प्रावधान नहीं किया जाता है। नगरीय संस्था आवश्यकतानुसार इन समितियों का गठन करती है। इन समितियों का गठन किसी विशिष्ट कार्य को निष्पादित करने के उद्देश्य से किया जाता है। कार्य समाप्ति के पश्चात् ये समितियाँ स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं इसलिए इन समितियों को अस्थायी समितियाँ भी कहा जाता है। इन समितियों की शक्तियों एवं कार्यों का निर्धारण परिषद द्वारा ही किया जाता है।

नगर परिषद / नगरपालिका बोर्ड के कार्य (Functions)

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम में इन संस्थाओं के कार्यों के सम्बन्ध में प्रावधान किए गए हैं। इन संस्थाओं द्वारा जो कार्य निष्पादित किए जाते हैं उन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : (क) अनिवार्य कार्य (ख) ऐच्छिक कार्य (ग) विशिष्ट कार्य

(क) अनिवार्य कार्य (Compulsory Functions)

इस श्रेणी में उन कार्यों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें निष्पादित करना इन संस्थाओं के लिए अनिवार्य होता है। इन कार्यों को प्राथमिक कार्य भी कहा जाता है। इन कार्यों का प्रावधान सम्बन्धित अधिनियम में कर दिया जाता है। यदि कोई नगरीय संस्था इन कार्यों को निष्पादित नहीं करती है तो नागरिकों को यह अधिकार होता है कि वे न्यायालय में अपील कर सकते हैं एवं न्यायालय ऐसे कार्यों को निष्पादित करने के लिए आदेश जारी कर सकता है।

राज्य सरकार को यह अधिकार होता है कि वह किसी भी नगरीय संस्था को अनिवार्य कार्यों के उत्तरदायित्व से मुक्त कर सकती है लेकिन इसके लिए राज्य सरकार को व्यवस्थापिका की अनुमति लेनी होती है एवं इसकी सूचना जनता में प्रसारित करनी आवश्यक होती है। प्रत्येक राज्य में अधिनियम में इन अनिवार्य कार्यों के सम्बन्ध में एक सूची निर्धारित कर दी जाती है। विभिन्न राज्यों की अनिवार्य कार्यों की सूची के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक राज्य में अनिवार्य कार्य भिन्न–भिन्न प्रकृति के होते हैं लेकिन कुछ अनिवार्य कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें प्रत्येक नगरीय संस्था निष्पादित करती है। उनमें से प्रमुख निम्न हैं :

(i) भवन निर्माण के नियमों का निर्माण करना एवं उन्हें क्रियान्वित करना,

(ii) भूमि के अतिक्रमण को रोकना,

(iii) सड़क, बाजार एवं सार्वजनिक मार्गों का निर्माण तथा उनका रखरखाव करना,

(iv) नालियों एवं सार्वजनिक सुविधाओं का निर्माण करना एवं उनकी सफाई करना,

(v) सार्वजनिक स्थानों व मार्गों पर प्रकाश की व्यवस्था करना,

(vi) खतरनाक एवं हानिकारक व्यापारों का नियमन करना,

(vii) सड़कों की सफाई करना,

(viii) अग्निशमन सेवाओं का प्रबन्ध करना,

(ix) मृतक क्रियास्थलों का प्रबन्ध करना,

(x) पीने के पानी की व्यवस्था करना,

(xi) सार्वजनिक मार्गों का नामांकन व मकानों का संख्यांकन करना,

(xii) जन्म व मृत्यु का पंजीकरण करना,

(xiii) सार्वजनिक चिकित्सालयों का प्रबन्ध करना,

(xiv) प्राथमिक चिकित्सा की व्यवस्था करना,

(xv) पशुगृह की स्थापना एवं प्रबन्ध, तथा

(xvi) महामारी से बचाव का प्रबन्ध करना।

(ख) ऐच्छिक कार्य (Optional Functions)

ऐच्छिक कार्यों में उन कार्यों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें निष्पादित करना नगरीय संस्था की क्षमता व इच्छा पर निर्भर करता है। अधिनियम में इन ऐच्छिक कार्यों का वर्णन कर दिया जाता है। यदि कोई नगरीय संस्था इन ऐच्छिक कार्यों को निष्पादित नहीं करती है तो नागरिक न्यायालय में अपील नहीं कर सकते। ऐच्छिक कार्य प्रत्येक नगरीय संस्था के लिए पृथक–पृथक निर्धारित किए जाते हैं लेकिन सामान्यतः निम्न ऐच्छिक कार्य सभी नगरीय संस्थाओं द्वारा निष्पादित किए जाते हैं:

(i) सार्वजनिक स्थानों का निर्माण व रख–रखाव,

(ii) सार्वजनिक उद्यानों का विकास एवं निर्माण,

(iii) पुस्तकालयों, वाचनालयों आदि की स्थापना करना एवं उनका संचालन करना,

(iv) शिक्षा का विस्तार करना,

(v) सार्वजनिक स्थानों पर संगीत की व्यवस्था करना,

(vi) वृद्ध नागरिकों के लिए विश्राम स्थलों की व्यवस्था करना,

(vii) बाल कल्याण केन्द्रों की स्थापना करना,

(viii) जन–स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन करना,

(ix) आवास की व्यवस्था करना,

(x) मेलों व प्रदर्शनियों का आयोजन करना,

(xi) अनाथालयों एवं महिला सुधार गृहों का निर्माण करना,

(xii) नगर में वृक्षारोपण करना, तथा

(xiii) अन्य ऐसे कार्य जो समय–समय पर अधिनियम में निर्दिष्ट किए जाएं।

(ग) विशिष्ट कार्य (Specified Functions)

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 में इन संस्थाओं द्वारा निष्पादित किए जाने वाले तीसरे प्रकार के कार्यों को 'विशेष कर्त्तव्य' शीर्षक के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। ये कार्य भी अनिवार्य कार्यों की श्रेणी में रखे जाते हैं। प्रमुख रूप से ये कार्य दो प्रकार के हैं :

(i) खतरनाक बीमारी के समय विशिष्ट चिकित्सा सहायता तथा आवास की सुविधा उपलब्ध करवाना तथा बीमारी के रोकथाम के उपाय करना।

(ii) अकाल या प्राकृतिक विपदाओं के समय नगर के नागरिकों को राहत पहुँचाना।

नगर परिषद व नगरपालिका बोर्ड के उपर्युक्त कार्यों का निर्धारण संविधान की 12वीं अनुसूची में वर्णित कार्यों के अनुरूप ही किया गया है। 12वीं अनुसूची में वर्णित कार्यों को अध्याय के अन्त में बताया गया है।

संविधानेत्तर संस्थाएं (Unconstitutional Institutions)

नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में कुछ ऐसी संस्थाएँ भी कार्यरत हैं जिनका प्रावधान संविधान संशोधन अधिनियम में नहीं किया गया है लेकिन ये संस्थाएं स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में स्थापित की गई थीं और वर्तमान में भी कार्यरत हैं। राजस्थान राज्य में ऐसी दो प्रकार की संस्थाएं कार्यरत हैं :

(क) छावनी मण्डल (ख) एकल उद्देश्यीय अभिकरण

(क) छावनी मण्डल (Cantonment Board)

छावनी मण्डल की स्थापना ऐसे क्षेत्रों में की जाती है जहाँ सेना निवास करती है। सैनिक स्थलों के आसपास असैनिक नागरिक भी निवास करते हैं। ऐसे क्षेत्रों के प्रशासन के लिए छावनी मण्डल की स्थापना की जाती है।

छावनी मण्डल में सैनिक प्रशासन के अधिकारी एवं असैनिक क्षेत्रों के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। दोनों

ही प्रकार के सदस्य संयुक्त रूप से निर्णय लेकर उन्हें क्रियान्वित करते हैं। छावनी मण्डल का अध्यक्ष उस छावनी का सर्वोच्च सैनिक अधिकारी होता है। उपाध्यक्ष पद पर नियुक्ति असैनिक प्रतिनिधियों में से की जाती है। छावनी मण्डल की स्थापना ब्रिटिश शासनकाल में पारित केन्द्रीय सरकार के एक अधिनियम ''भारतीय छावनी मण्डल अधिनियम, 1924'' के अन्तर्गत की जाती है इसलिए छावनी मण्डल पर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण व पर्यवेक्षण रहता है। जिस अधिनियम के अन्तर्गत छावनी मण्डल की स्थापना की जाती है उसी अधिनियम में उसके कार्यों व शक्तियों के सम्बन्ध में प्रावधान रखे गए हैं।

(ख) एकल उद्देश्यीय अभिकरण (Special Agencies or Functional Local Bodies)

नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में कार्यरत नगरीय संस्थाओं के पास कार्यों की अधिकता होती है क्योंकि उन्हें नियमित एवं विकासात्मक दोनों ही कार्य निष्पादित करने होते हैं इसलिए किसी एक नगरीय समस्या से सम्बन्धित कार्य को करने की दृष्टि से पृथक से एक संस्था स्थापित कर दी जाती है। ऐसी संस्थाओं को एकल उद्देश्यीय अभिकरण कहा जाता है क्योंकि ये संस्थाएँ केवल एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही कार्य करती हैं।

भारत में नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में अनेक एकल उद्देश्यीय अभिकरण कार्य कर रहे हैं। इन एकल उद्देश्यीय अभिकरणों का नाम उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यों के आधार पर निर्धारित होता है जैसे विकास प्राधिकरण, नगर सुधार न्यास, आवासन मण्डल आदि एकल उद्देश्यीय अभिकरण के उदाहरण हैं।

ये सभी अभिकरण राज्य सरकार द्वारा स्थापित किए जाते हैं। इनका संचालन एक प्रबन्ध मण्डल द्वारा किया जाता है। अधिकांश सदस्य सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं तथा राज्य सरकार द्वारा कतिपय सदस्यों का मनोनयन भी किया जाता है।

संविधान की 12वीं अनुसूची में वर्णित कार्य

(i) नगर आयोजना,

(ii) भूमि का विनियमन, भवनों का निर्माण एवं उपयोग,

(iii) आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए योजना,

(iv) सड़क व पुल निर्माण,

(v) घरेलू उद्योग एवं व्यावसायिक प्रयोजनों के लिए जल प्रदाय,

(vi) लोक स्वास्थ्य, सफाई आदि,

(vii) अग्निशमन सेवाएं,

(viii) नगरीय वानिकी एवं पर्यावरण संरक्षण,

(ix) कमजोर वर्गों के हितों का संरक्षण,

(x) गन्दी बस्तियों का विकास एवं उत्थान,

(xi) दाह गृहों का निर्माण,

(xii) कांजीघर एवं पशुओं के प्रति निर्दयता का निवारण,

(xiii) जन्म एवं मृत्यु का पंजीकरण,

(xiv) निर्धनता निवारण,

(xv) बाग, उद्यान, खेल के मैदान आदि की सुविधाएं जुटाना,

(xvi) सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक उत्थान,

(xvii) सड़कों का विद्युतीकरण, वाहन खड़े करने के स्थान, बस स्टॉप आदि का निर्माण एवं रख रखाव तथा

(xviii) बूचड़ खानों का विनियमन।

संविधान के प्रावधानों के अनुसार अब देश भर में कार्यरत नगरीय संस्थाओं से इन कार्यों के निष्पादन की अपेक्षा की गई है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- भारत की त्रिस्तरीय शासन व्यवस्था में स्थानीय शासन, शासन का महत्त्वपूर्ण तीसरा स्तर है।
- स्थानीय शासन वह व्यवस्था है जिसमें स्थानीय मामलों का प्रबन्ध स्थानीय व्यक्ति स्वयं अपने प्रतिनिधियों द्वारा करते हैं।
- नगरिकों की सामुदायिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सक्रिय स्थानीय शासन की संस्थाओं का अत्यधिक महत्त्व है।
- भारत में स्थानीय प्रशासन यद्यपि प्राचीन काल से ही विद्यमान है लेकिन इसके व्यवस्थित स्वरूप का विकास ब्रिटिश शासन काल में ही हुआ है। लार्ड रिपन को भारत में स्थानीय शासन का जनक माना जाता है।
- स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में स्थानीय शासन की जो व्यवस्था निर्धारित की गयी थी उसमें अनेक दोष व कमियाँ परिलक्षित हुईं।
- भारत में स्थानीय शासन की कमियों व दोषों को दूर करने के लिए शासन के इस स्तर को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई। संविधान में दो संशोधन 73वां व 74वां

संशोधन अधिनियम पारित किया गया। 73वां ग्रामीण प्रशासन से सम्बन्धित व 74वां नगरीय प्रशासन से सम्बन्धित है।

- 74वें संविधान संशोधन अधिनियम में तीन प्रकार की नगरीय संस्थाओं का प्रावधान किया गया था : नगर निगम, नगर परिषद व नगर पंचायत लेकिन राजस्थान में नगर पंचायत के स्थान पर नगरपालिका बोर्ड नामक संस्था कार्य कर रही हैं।
- संवैधानिक संस्थाओं के अतिरिक्त गैर–संवैधानिक संस्थाएं – छावनी मण्डल एवं एकल उद्देश्यीय अभिकरण, राजस्थान में नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं।
- नगर निगम नगरीय प्रशासन की सर्वोच्च इकाई है जिसमें एक निर्वाचित परिषद होती है जिसका अध्यक्ष महापौर या मेयर होता है। नगर निगम में विधायी व कार्यकारी शक्तियों का पृथक्करण किया गया है। विधायी शक्तियों का प्रयोग महापौर द्वारा किया जाता है एवं कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग नगर आयुक्त द्वारा किया जाता है।
- नगर निगम द्वारा निष्पादित कार्यों को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त किया गया है – अनिवार्य कार्य एवं ऐच्छिक कार्य। अनिवार्य कार्यों का निष्पादन करना नगर निगम के लिए अनिवार्य होता है।
- नगर परिषद एवं नगरपालिका बोर्ड का संरचनात्मक ढांचा नगर निगम के समान होता है लेकिन इनमें नगर निगम के समान विधायी व कार्यकारी शक्तियों का पृथक्करण नहीं किया गया है।
- नगरीय प्रशासन की सभी संस्थाओं के कार्यों का निर्धारण संविधान की 12वीं अनुसूची में सूचीबद्ध कार्यों के अनुरूप किया गया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. भारत में स्थानीय शासन का जनक माना जाता है :
   (अ) लार्ड मेयो (ब) लार्ड कार्नवालिस
   (स) लार्ड रिपन (द) लार्ड हेस्टिंग्स ( )
2. 'स्थानीय शासन' विषय को संविधान की किस सूची में रखा गया है?
   (अ) संघीय सूची (ब) राज्य सूची
   (स) समवर्ती सूची (द) किसी में भी नहीं ( )
3. 74वां संविधान संशोधन अधिनियम क्रियान्वित हुआ?
   (अ) 24 अप्रेल, 1993 (ब) 24 जून, 1993
   (स) 01 अप्रेल, 1993 (द) 01 जून, 1993 ( )
4. निम्न में से नगरीय प्रशासन की किस संस्था का संविधान में प्रावधान नहीं है?
   (अ) छावनी मण्डल (ब) नगर निगम
   (स) नगर परिषद (द) नगर पंचायत ( )
5. नगरीय प्रशासन की सर्वोच्च इकाई है?
   (अ) नगर परिषद (ब) नगर पालिका
   (स) नगर निगम (द) नगर पालिका बोर्ड ( )
6. नगर निगम की कार्यकारी शक्तियां निहित हैं :
   (अ) महापौर में (ब) नगर आयुक्त में
   (स) उप–महापौर में (द) नगर निगम की परिषद में( )
7. नगरपालिका बोर्ड के प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी को कहा जाता है?
   (अ) आयुक्त (ब) मुख्य कार्यपालक
   (स) अधिशासी अधिकारी(द) कार्यकारी अधिकारी ( )

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. स्थानीय शासन से संबंधित लॉर्ड रिपन के प्रस्ताव को कहा जाता है?
2. 74वें संविधान संशोधन के पश्चात् राजस्थान में नगरपालिका अधिनियम में संशोधन कब किया गया?
3. महानगरों में नगरीय प्रशासन की किस संस्था की स्थापना की जाती है?
4. नगर सुधार न्यास नगरीय प्रशासन की किस प्रकार की संस्था का उदाहरण है?
5. नगर निगम की बैठकों की अध्यक्षता किसके द्वारा की जाती है?
6. नगर निगम में कितने प्रकार की समितियां होती हैं?

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. स्थानीय शासन के अर्थ को बताइए।
2. भारत में स्थानीय शासन के विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. स्थानीय शासन व स्थानीय स्वशासन में अन्तर बताइए।
4. स्थानीय प्रशासन के महत्व पर टिप्पणी लिखिए।

5. एकल उद्देश्यीय अभिकरण को समझाइए।
6. छावनी मण्डल क्या है? संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजस्थान में नगर निगम के संगठन व कार्यों को समझाइए।
2. राजस्थान राज्य के सन्दर्भ में नगर परिषद की संरचना व कार्यों पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तरमाला

(1) स (2) ब (3) द (4) अ (5) स (6) ब (7) स

इकाई–X

अध्याय–26

राजस्थान में पंचायती राज

(Panchayati Raj in Rajasthan)

अधिकांश राष्ट्रों में स्थानीय प्रशासन के दो स्वरूप हैं – नगरीय प्रशासन व ग्रामीण प्रशासन। भारत में ग्रामीण प्रशासन के रूप में जो व्यवस्था अपनायी गयी है उसे पंचायती राज व्यवस्था के नाम से जाना जाता है। पंचायती राज व्यवस्था ग्रामीण स्थानीय प्रशासन की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें नागरिक विकास का उत्तरदायित्व स्वयं वहन करती हैं। यह नागरिकों की पहल और साझेदारी द्वारा ग्राम विकास की संस्थागत व्यवस्था की प्रणाली भी है।

भारत के संविधान में नीति निदेशक तत्वों के अन्तर्गत अनुच्छेद 40 में राज्यों को निर्देश दिया गया कि वे ग्राम पंचायतों का गठन कर उन्हें ऐसी शक्ति व प्राधिकार दें जो उन्हें स्वशासन की इकाइयों के रूप में विकसित करने में सहायक हो सकें। भारत में 1952 में केन्द्र सरकार द्वारा प्रवर्तित सामुदायिक कार्यक्रमों की समीक्षा के लिए 1957 में गठित बलवंतराय मेहता समिति ने 1958 में प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में पंचायती राज संस्थाओं के गठन की सिफारिश की थी।

मेहता समिति के इन सुझावों को भारत सरकार तथा राष्ट्रीय विकास परिषद ने स्वीकार कर लिया। स्थानीय प्रशासन राज्य सूची का विषय होने के कारण राज्य सरकारों से यह अपेक्षा की गई कि वे मेहता समिति के सुझावों के आधार पर अपने राज्य में पंचायती राज व्यवस्था को अपनाएं।

अधिकांश राज्य सरकारों ने मेहता समिति के सुझावों को स्वीकार करते हुए त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था स्थापित की। मेहता समिति की अनुशंसाओं के अनुरूप भारत में पंचायती राज की व्यवस्था अपनाने वाला राजस्थान देश का पहला और आन्ध्रप्रदेश दूसरा राज्य था। किन्तु एक राज्य से दूसरे राज्य में इसके स्वरूप में काफी अन्तर था।

इस प्रकार भारत में पंचायती राज के दो पृथक–पृथक स्वरूप, विकसित हुए, पहला था आन्ध्रप्रदेश स्वरूप, जिसमें खण्ड अर्थात् पंचायत समिति योजना और विकास की इकाई निर्धारित की गयी थी। दूसरा स्वरूप महाराष्ट्र स्वरूप कहलाता है, इसमें योजना और विकास की इकाई जिला अर्थात् जिला परिषद होती है।

भारत में पंचायती राज व्यवस्था के जो दो स्वरूप विकसित किए गए उनके कार्यकरण के अध्ययन से व्यवहार में कुछ विकृतियां सामने आयी। इन विकृतियों के सम्बन्ध में स्वयं बलवन्त राय मेहता समिति ने अपने प्रतिवेदन में उल्लेख किया था। एक ओर जहाँ पंचायती राज व्यवस्था से प्रशासनिक कार्यकुशलता आयी है, वहीं दूसरी ओर इन संस्थाओं में भ्रष्टाचार व्याप्त हुआ है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में गुटबाजी बढ़ी है।

पंचायती राज व्यवस्था की विकृतियों को दूर करने के लिए तथा इन संस्थाओं को सुदृढ़ बनाने के लिए सुधारों की समीक्षा करने तथा सुझाव देने के लिए केन्द्र तथा राज्य, दोनों सरकारों ने कई समितियां और आयोग नियुक्त किए। केन्द्रीय सरकार द्वारा 1977 में श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में गठित पंचायती राज सम्बन्धी समिति बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस समिति ने देश के विभिन्न राज्यों में पंचायती राज प्रणाली की समीक्षा की और पंचायती राज की भिन्न संरचना की सिफारिश की। समिति ने देश में पंचायती राज को कमजोर करने वाले विभिन्न कारकों की सावधानीपूर्वक जांच करने के पश्चात् गांव और जिले के बीच मण्डल पंचायतों के गठन की सिफारिश की। समिति ने पंचायती राज में राजनीतिक दलों की सीधी भागीदारी की उपयोगिता को भी स्वीकार किया।

पंचायती राज व्यवस्था में सुधार हेतु गठित अधिकांश समितियों का यह सुझाव था कि इन पंचायती राज संस्थाओं को सुदृढ़ तभी बनाया जा सकता है जब इनको संवैधानिक मान्यता प्रदान की जाए। इस दिशा में विचार किया गया तथा भारत सरकार ने पंचायती राज संस्थाओं के लिए 1992 में 73वां संविधान संशोधन अधिनियम पारित करके इन संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता प्रदान की।

73 वां संविधान संशोधन अधिनियम (73rd Constitutional Amendment Act)

इस प्रकार देश में पंचायती राज संस्थाओं के क्षेत्र में प्रवर्तित कमियों यथा – संवैधानिक मान्यता का अभाव, इनके अनियमित चुनाव व लम्बे समय तक अधिक्रमित रहने, उनकी दयनीय आर्थिक दशा, उन्हें पर्याप्त शक्तियों व

अधिकारों के अभाव, अनुसूचित जाति व जनजाति तथा महिलाओं को अपर्याप्त प्रतिनिधित्व तथा इन संस्थाओं के चुनावों के लिए प्रभावी व्यवस्था के अभाव की स्थितियां प्रमुख थी, के निवारण के लिए 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से सकारात्मक प्रयास किया गया है।

73वें संविधान संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन के पश्चात् सभी राज्यों ने अपने अधिनियमों में संशोधन करके संवैधानिक प्रावधानों के अनुरूप नियम निर्धारित किए हैं जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र में पंचायती राज व्यवस्था का नवीन स्वरूप सामने आया है। राजस्थान में पूर्व प्रचलित पंचायती राज अधिनियमों में संशोधन करके नवीन पंचायती राज अधिनियम, 1994 बनाया गया है। नवीन व्यवस्था में मूल रूप से त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था के अतिरिक्त एक और स्तर का सृजन किया गया है जिसे ग्रामसभा कहा जाता है। इस प्रकार वर्तमान में ग्रामीण प्रशासन के क्षेत्र में मुख्य रूप से चार संस्थाएँ कार्य कर रही हैं :

1. जिला परिषद
2. पंचायत समिति
3. ग्राम पंचायत
4. ग्राम सभा

जिला परिषद (Zila Parishad)

भारत में त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वोच्च स्तरीय संस्था जिला परिषद है। 73वें संविधान संशोधन से पूर्व विभिन्न राज्यों में इस स्तर को भिन्न–भिन्न नामों से जाना जाता था। जैसे तमिलनाडु व कर्नाटक में जिला विकास परिषद, असम में महकमा परिषद, गुजरात में जिला पंचायत आदि।

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 में जिला परिषद के सम्बन्ध में प्रावधान रखे गए हैं। संविधान संशोधन में जिला परिषद को केवल एक नीति निर्माणक इकाई माना गया है। उसे कार्यकारी दायित्व नहीं दिए गए हैं। संविधान संशोधन से पूर्व महाराष्ट्र एवं गुजरात को छोड़कर सभी राज्यों में जिला परिषद को नीति निर्माण इकाई ही बनाया गया था। महाराष्ट्र व गुजरात में जिला परिषद को मुख्य कार्यकारी इकाई बनाया गया था लेकिन संविधान संशोधन के पश्चात् इन राज्यों में भी परिवर्तन करके जिला परिषद को केवल नीति निर्माण इकाई तक सीमित रखा गया है।

संगठन

73वें संविधान संशोधन के पश्चात् सभी राज्यों में जिला परिषद की संगठनात्मक व्यवस्था में एकरूपता लायी गयी है। जिला परिषद की संगठनात्मक व्यवस्था को निम्न रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है :

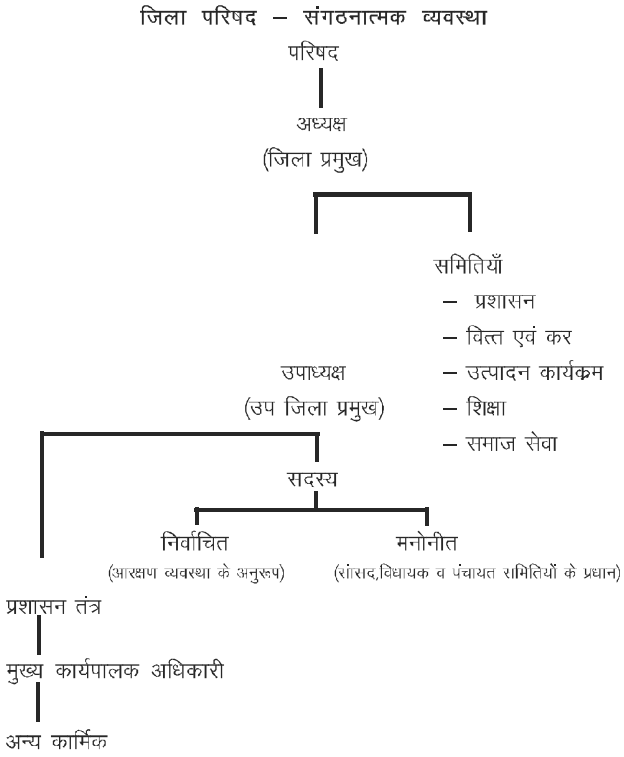

वर्तमान में जिला परिषद की संगठनात्मक व्यवस्था को निम्न शीर्षकों में समझा जा सकता है :

1. परिषद (Parishad)

जिला परिषद में सर्वोच्च स्तर पर एक परिषद होती है जिसमें निम्न सदस्य होते हैं :

(क) निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित सदस्य,

(ख) जिला परिषद क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाले लोकसभा व राज्य विधानसभा के सभी सदस्य,

(ग) जिला परिषद के क्षेत्र के अन्तर्गत निर्वाचकों के रूप में पंजीकृत राज्यसभा के सभी सदस्य, तथा

(घ) जिला परिषद क्षेत्र की सभी पंचायत समितियों के प्रधान।

राज्य सरकार जिला परिषद के लिए निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या निर्धारित करती है। सामान्यतः 4 लाख की जनसंख्या वाले

परिषद क्षेत्र में 17 निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था की जाती है। 4 लाख से अधिक जनसंख्या वाले जिले में 4 लाख से अधिक के प्रत्येक 1 लाख की जनसंख्या पर 2 सदस्यों की वृद्धि कर दी जाती है।

निर्वाचन के लिए स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के अनुरूप की गयी है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े वर्ग एवं महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित किये गये हैं। महिलाओं के लिए कुल निर्वाचित होने वाले स्थानों के एक–तिहाई स्थान और अन्य वर्गों के लिए उनकी जनसंख्या के आधार पर स्थान आरक्षित किये जाते हैं। इसी प्रकार जिला परिषद के अध्यक्ष के लिए भी आरक्षण की व्यवस्था की गई है। आरक्षित स्थान चक्रानुक्रम के आधार पर आवंटित किये जाते हैं।

परिषद का कार्यकाल पांच वर्ष निर्धारित किया गया है। सदस्यों की योग्यता के लिए भी अधिनियम में प्रावधान किये गये हैं। वही योग्यताएँ अन्य पंचायती राज संस्थाओं अर्थात् पंचायत समिति एवं ग्राम पंचायत के सदस्यों के निर्वाचन के लिए भी निर्धारित की गई हैं। ये योग्यताएँ निम्न प्रकार हैं :–

(i) 21 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली हो,

(ii) किसी स्थानीय संस्था में वैतनिक कर्मचारी न हो,

(iii) राज्य सरकार की सेवा से उसे हटाया न गया हो,

(iv) राज्य सरकार के किसी विभाग का कर्मचारी न हो,

(v) किसी भी पंचायती राज संस्था में कोई अंश या स्वामित्व न रखता हो,

(vi) किसी ऐसे शारीरिक या मानसिक रोग से ग्रसित न हो जो कि कार्यों को बाधित करे,

(vii) किसी अपराध के लिए न्यायालय द्वारा दण्डित न हो,

(viii) उसका किसी प्रकार का शुल्क या फीस बकाया न हो,

(ix) संबंधित पंचायती राज संस्था की ओर से या उसके विरूद्ध विधि व्यवसाय के रूप में नियोजित न हो,

(x) मृत्युभोज निवारण अधिनियम के अधीन दोषी न ठहराया गया हो,

(xi) उसके दो से अधिक बच्चे न हों, तथा

(xii) किसी अन्य पंचायती राज संस्था का सदस्य न हो।

उपर्युक्त वर्णित योग्यताओं के आधार पर सदस्यों का निर्वाचन होता है। ये निर्वाचित सदस्य परिषद का निर्माण करते हैं। परिषद का एक अध्यक्ष एवं एक उपाध्यक्ष निर्वाचित सदस्यों में से निर्वाचित सदस्यों द्वारा चयनित किया जाता है। अध्यक्ष को जिला प्रमुख व उपाध्यक्ष को उप जिला प्रमुख कहा जाता है।

जिला प्रमुख जिला परिषद का मुखिया होता है जो परिषद की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा आंतरिक प्रशासन पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रखता है। जिला प्रमुख की अनुपस्थिति में उप जिला प्रमुख उसकी शक्तियों का प्रयोग करता है।

जिला प्रमुख की शक्तियाँ एवं कार्य (Powers and functions of Zila Pramukh)

नवीन पंचायती राज अधिनियम, 1994 में जिला परिषद के जिला प्रमुख की शक्तियों एवं कार्यों के संबंध में प्रावधान किये गये जो निम्न प्रकार हैं :

1. जिला परिषद की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था पर पर्यवेक्षण व नियंत्रण रखना,
2. जिला परिषद की बैठकों को आमंत्रित करना, उनकी अध्यक्षता करना एवं संचालन करना,
3. जिला परिषद के वित्तीय प्रशासन को नियंत्रित एवं पर्यवेक्षित करना,
4. जिले में प्राकृतिक विपदाओं के समय सहायता उपलब्ध कराने के उद्देश्य से वित्तीय स्वीकृति देना तथा प्रशासनिक व्यवस्था करना,
5. जिले में विकास को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों एवं योजनाओं का निर्माण करके उन्हें संचालित करना,
6. वर्ष 1999 में राज्य सरकार ने जिला प्रमुख के दायित्वों में वृद्धि करते हुए, यह अधिसूचना जारी की थी कि जिला प्रमुख जिला विकास अभिकरण के कार्यों को भी देखेगा। वर्ष 2002 में इसी प्रावधान में और संशोधन किया गया तथा जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को जिला परिषद का अंग ही बना दिया गया। इस प्रकार जिले में ग्रामीण विकास की योजनाओं को संचालित करने का दायित्व भी जिला प्रमुख को सौंपा गया,
7. इसी संशोधन अधिनियम में जिला प्रमुख को जिले की सभी पंचायती राज संस्थाओं पर नियंत्रण व पर्यवेक्षण रखने का अधिकार दिया गया है,
8. अन्य कार्य जो अधिनियम में समय–समय पर सम्मिलित किये जाते हैं।

परिषद की बैठकें, गणपूर्ति एवं प्रक्रिया (Meetings of Parishad Qorum and Procedure)

अधिनियम यह प्रावधान करता है कि जिला परिषद

की बैठकें तीन माह में एक बार आयोजित की जाएगी। ये बैठकें जिला परिषद के मुख्यालय पर आयोजित की जाती हैं। निर्वाचन के पश्चात् प्रथम बैठक मुख्य कार्यपालक अधिकारी द्वारा आमंत्रित की जाती है तथा इस बैठक की अध्यक्षता भी मुख्य कार्यपालक अधिकारी करता है। शेष सभी बैठकें जिला प्रमुख द्वारा आमंत्रित की जाती हैं तथा उनकी अध्यक्षता जिला प्रमुख द्वारा ही की जाती है। अधिनियम में यह प्रावधान भी किया गया है कि विशिष्ट परिस्थितियों में यदि जिला प्रमुख उचित समझे तो विशिष्ट बैठक भी आमंत्रित कर सकता है। किन्तु, ऐसी बैठक जिला परिषद के एक–तिहाई सदस्यों के लिखित रूप से अपेक्षा किये जाने पर ही आमंत्रित की जा सकती है।

अधिनियम में जिला परिषद की बैठक के लिए गणपूर्ति, सदस्यों की कुल संख्या के एक–तिहाई सदस्य निर्धारित की गयी है। बैठक के लिए निश्चित समय से आधे घण्टे तक यदि गणपूर्ति नहीं होती है तो अध्यक्ष उस बैठक को स्थगित करके आगामी बैठक का समय निश्चित कर देता है जिसकी सूचना सूचनापट्ट पर लगा दी जाती है। गणपूर्ति के अभाव में स्थगित बैठक के पश्चात् होने वाली बैठक में गणपूर्ति पर विचार नहीं किया जाता। बैठक की अध्यक्षता जिला प्रमुख द्वारा की जाती है, यदि वह अनुपस्थित होता है तो उप जिला प्रमुख अध्यक्षता करता है और यदि दोनों ही अनुपस्थित होते हैं तो उपस्थित सदस्य अपने सदस्यों में से ही अध्यक्षता के लिए एक सदस्य का चयन करते हैं। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि चयनित सदस्य को हिन्दी लिखने एवं पढ़ने का ज्ञान हो।

बैठक में विचार–विमर्श करने वाले विषयों का पूर्व निर्धारण कर लिया जाता है तथा सभी निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं। अध्यक्ष को निर्णायक मत देने का अधिकार होता है। अधिनियम में यह प्रावधान रखा गया है कि बैठक में विचार किये जाने वाले विषयों से यदि प्रमुख, उप प्रमुख या किसी सदस्य का हित जुड़ा हो तो ऐसा व्यक्ति विचार–विमर्श में भाग नहीं ले सकता एवं न ही उसे निर्णय के लिए मत देने का अधिकार होता है। इस स्थिति के निर्धारण का दायित्व जिला परिषद के मुख्य कार्यपालक अधिकारी का होता है। बैठक की समस्त कार्यवाहियों को लिखा जाता है जिसका दायित्व भी मुख्य कार्यपालक अधिकारी का होता है। बैठक में लिए गए निर्णयों को संबंधित व्यक्ति या संस्था तक पहुंचाने का दायित्व भी मुख्य कार्यपालक अधिकारी का ही होता है।

2. समितियाँ (Committees)

नवीन पंचायती राज अधिनियम, 1994 में यह प्रावधान रखा गया है कि प्रत्येक जिला परिषद अपने कार्यों के संचालन के लिए कुछ समितियों का गठन करेगी। अधिनियम में ऐसी पांच समितियों के संबंध में प्रावधान रखे गये हैं। ये पांच समितियां निम्न प्रकार हैं:–

(i) प्रशासन एवं स्थापन

(ii) वित्त एवं कर

(iii) उत्पादन

(iv) शिक्षा

(v) समाज सेवा

इन समितियों को स्थायी समितियाँ भी कहा जाता है क्योंकि इन समितियों के संबंध में प्रावधान अधिनियम में किये गये हैं तथा ये समितियाँ जिला परिषद के सम्पूर्ण कार्यकाल तक कार्य करती हैं। प्रत्येक समिति में पांच सदस्य होते हैं जिनका चयन जिला परिषद के निर्वाचित सदस्यों में से किया जाता है। यदि जिला प्रमुख किसी समिति का सदस्य होता है तो वह स्वतः ही समिति का अध्यक्ष हो जाता है और यदि किसी समिति का सदस्य उप जिला प्रमुख है और जिला प्रमुख सदस्य नहीं है तो ऐसी स्थिति में उप जिला प्रमुख समिति का अध्यक्ष होता है और यदि जिला प्रमुख व उप जिला प्रमुख दोनों ही समिति के सदस्य नहीं हैं तो समिति के सदस्य अपने में से एक का अध्यक्ष के रूप में चयन करते हैं।

ये समितियां अपने विषय से संबंधित मामलों पर विचार–विमर्श करके एक प्रतिवेदन तैयार करती हैं जिसे वह परिषद की बैठक में प्रस्तुत करती है। बैठक में समिति के सुझावों पर विचार–विमर्श किया जाता है तथा निर्णय लिया जाता है। सामान्यतः समिति के सुझावों को स्वीकार कर लिया जाता है।

उपर्युक्त स्थायी समितियों के अतिरिक्त आवश्यकता होने पर जिला परिषद किसी विशिष्ट कार्य के लिए अन्य समितियों का गठन भी कर सकती है लेकिन ऐसी समितियाँ **कार्य समाप्ति के पश्चात् स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं इसलिए इन समितियों को अस्थायी समितियाँ कहा जाता है।**

3. आंतरिक प्रशासन (Internal administration)

जिला परिषद के कार्यों को संचालित करने के लिए जिला परिषद में आंतरिक प्रशासनिक व्यवस्था का गठन किया गया है अर्थात् इसका एक कार्यालय होता है जिसका मुख्य अधिकारी मुख्य कार्यपालक अधिकारी के नाम से जाना जाता है। इस पद पर राज्य सरकार द्वारा भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी की नियुक्ति की जाती है। यह पदाधिकारी निम्नलिखित कार्यों को करने के लिए उत्तरदायी होता है :

(i) जिला परिषद की नीतियों–निर्णयों एवं आदेशों को क्रियान्वित करना,

(ii) अधिनियम के अन्तर्गत दिये गये कार्यों को निष्पादित करना,

(iii) जिला परिषद के अधिकारियों व कर्मचारियों पर नियंत्रण व पर्यवेक्षण रखना,

(iv) जिला परिषद के सभी दस्तावेजों की अभिरक्षा करना,

(v) जिला परिषद के कोष को संग्रहीत करना एवं निर्धारित नियमों के अन्तर्गत धन को व्यय करने के लिए कोष में से धन निकालना,

(vi) जिला परिषद की स्थायी समितियों की बैठक की सूचना जारी करना तथा स्वयं बैठक में उपस्थित रहना,

(vii) जिले की पंचायती राज संस्थाओं की सम्पत्तियों का निरीक्षण करना, तथा

(viii) आपातकालीन परिस्थितियों में इस अधिकारी को आदेश जारी करने के विशिष्ट अधिकार प्राप्त होते हैं।

जिला परिषद के अन्य अधिकारी व कर्मचारी (Personnel of Zila Parishad)

मुख्य कार्यपालक अधिकारी की सहायता के लिए जिला परिषद में राज्य सरकार द्वारा अन्य अधिकारी व कर्मचारी भी नियुक्त किये जाते हैं जिनमें से प्रमुख रूप से एक मुख्य लेखाधिकारी होता है। यह अधिकारी वित्तीय कार्यों को निष्पादित करता है। जिला परिषद में राज्य सरकार द्वारा उप जिला शिक्षा अधिकारी भी नियुक्त किया जाता है जो जिले में पंचायती राज संस्थाओं द्वारा संचालित प्राथमिक शिक्षा केन्द्रों पर पर्यवेक्षण रखता है। इसके अतिरिक्त जिला परिषद में अन्य कर्मचारी भी नियुक्त किये जाते हैं जिनमें प्रमुखतः सहायक सचिव, सहायक अभियन्ता, लेखाकार, कार्यालय सहायक, लिपिक, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी आदि हैं।

जिला परिषद के कार्य (Functions of Zila Parishad)

73वें संविधान संशोधन अधिनियम एवं राजस्थान के नवीन पंचायतीराज अधिनियम में जिला परिषद को नीति निर्माण करने वाली इकाई माना है अर्थात् जिला परिषद को क्रियान्वयन संबंधी दायित्व नहीं दिये गये हैं। जिला परिषद के कार्यों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत समझा जा सकता है :

(1) सामान्य कार्य (General Functions)

सामान्य कार्य के अन्तर्गत जिले के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए जिला परिषद योजनाओं का निर्माण करती है तथा उन योजनाओं के क्रियान्वयन को भी सुनिश्चित करती है।

(2) कृषि से संबंधित कार्य (Functions related to Agriculture)

जिले में कृषि के विकास के लिए एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि हेतु जिला परिषद विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित नीतियों एवं योजनाओं का निर्माण करती है एवं उसके क्रियान्वयन पर पर्यवेक्षण रखती है। सामान्यतः कृषि उत्पादन, कृषि उपकरण, कृषि पद्धति, कृषकों को प्रशिक्षण, भूमि सुधार, भू–संरक्षण आदि विषयों के सम्बन्ध में जिला परिषद नीति निर्माण का कार्य करती है।

(3) सिंचाई सम्बन्धी कार्य (Functions related to Irrigation)

ग्रामीण क्षेत्रों में सिंचाई के लिए पानी की व्यवस्था करने के लिए विभिन्न नीतियाँ एवं कार्यक्रम जिला परिषद द्वारा बनाये जाते हैं। जल स्रोतों के विकास के लिए विभिन्न योजनाएँ निर्मित की जाती हैं। इसके साथ–साथ सिंचाई सुविधाओं के रखरखाव के लिए विभिन्न नीतियॉ निर्धारित की जाती हैं।

(4) सांख्यिकी सम्बन्धी कार्य (Functions related to satistics)

सरकार के प्रत्येक स्तर पर विभिन्न नीतियों, योजनाओं व कार्यक्रमों के निर्धारण के लिए विभिन्न सूचनाओं एवं आंकड़ों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक जिले में पंचायती राज संस्थाओं से संबंधित आंकड़ों व सूचनाओं को एकत्रित व प्रकाशित करने का दायित्व जिला परिषद का ही होता है।

(5) बागवानी सम्बन्धी कार्य (Functions related to Gardening)

जिला परिषद द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में पार्क व उद्यान लगाने के लिए समय–समय पर विभिन्न नीतियों का निर्माण किया जाता है। इस कार्य हेतु जिला परिषद वन विभाग से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखती है, इसके अतिरिक्त जिला परिषद उद्यानों के विकास के लिए विभिन्न संस्थाओं को प्रोत्साहित भी करती है।

(6) ग्रामीण विद्युतीकरण (Rural Electrification)

राज्य सरकार के ऊर्जा विभाग द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत की व्यवस्था के लिए ग्रामीण विद्युतीकरण नामक योजना संचालित की जाती है। इस योजना के क्रियान्वयन के मूल्यांकन का दायित्व जिला परिषद का ही होता है।

(7) भूमि संबंधी कार्य (Land Improvement)

ग्रामीण क्षेत्रों में आय का प्रमुख साधन कृषि होता है। कृषि उत्पादन भूमि की स्थिति अर्थात् मिट्टी की उर्वरता पर निर्भर करता है। इस हेतु जिला परिषद का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह भूमि की मिट्टी के विकास हेतु कार्यक्रम व नीतियाँ निर्धारित करे। सामान्यतः जिला परिषद मिट्टी संरक्षण कार्यक्रम एवं मिट्टी परीक्षण कार्यक्रम संचालित करती है।

(8) लघु उद्योगों से संबंधित कार्य (Functions related to small Scale Industries)

ग्रामीण क्षेत्रों में लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास के लिए जिला परिषद विभिन्न नीतियों का निर्धारण करती है तथा उसी के अनुरूप प्रशिक्षण कार्यक्रम भी आयोजित किये जाते हैं। लघु उद्योगों को प्रारम्भ करने के लिए जिला परिषद ऋण दिलवाने की व्यवस्था भी करती है।

(9) निर्माण सम्बन्धी कार्य (Constructions)

पंचायती राज संस्थाओं द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न भवनों एवं सड़कों का निर्माण किया जाता है। इनके निर्माण के लिए स्वीकृति जिला परिषद द्वारा ही दी जाती है। इसके अतिरिक्त निर्माण संबंधी एवं रखरखाव संबंधी नियमों का निर्माण भी जिला परिषद द्वारा किया जाता है।

(10) स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य (Health)

ग्रामीण क्षेत्रों में चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध करवाने की दृष्टि से जिला परिषद विभिन्न योजनाओं का निर्माण करती है जिसके आधार पर ही स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना की जाती है। केन्द्र एवं राज्य सरकार द्वारा निर्मित स्वास्थ्य कार्यक्रमों को जिले में क्रियान्वित करवाने का दायित्व जिला परिषद का ही होता है।

जिला परिषद के उपर्युक्त कार्य कुछ प्रमुख कार्यों को ही दर्शाते हैं। इसके अतिरिक्त भी जिला परिषद पर अन्य अनेक कार्यों को निष्पादित करने के लिए उत्तरदायित्व होता है जिनमें से प्रमुख निम्न हैं :

(i) ग्रामीण क्षेत्रों में आवास की सुविधाओं के विकास के लिए नीतियाँ बनाना।

(ii) ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के विकास के लिए कार्यरत शिक्षण संस्थाओं पर पर्यवेक्षण रखना।

(iii) समाज कल्याण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करना।

(iv) ग्रामीण क्षेत्रों में समाज सुधार के लिए की जाने वाली विभिन्न क्रियाओं पर नियंत्रण रखना तथा उनके क्रियान्वयन के लिए आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध करवाना।

(v) आपातकालीन परिस्थितियों में सहायता कार्य के लिए जिले की पंचायती राज संस्थाओं को आवश्यक दिशा–निर्देश जारी करना।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि जिला परिषद पंचायती राज की सर्वोच्च इकाई है जो कि ग्रामीण प्रशासन की विभिन्न नीतियों व योजनाओं के निर्माण व उनके क्रियान्वयन पर पर्यवेक्षण रखती है।

पंचायत समिति (Panchyat Samiti)

भारत में त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था को अपनाया गया है। इस व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण स्तर पंचायत समिति को माना जाता है। सम्पूर्ण जिले को कुछ खण्डों में विभक्त किया जाता है एवं प्रत्येक खण्ड स्तर पर पंचायत समिति की स्थापना की जाती है। वर्तमान में राजस्थान में कुल 237 पंचायत समितियाँ हैं। यह योजनाओं एवं कार्यक्रमों को अपने क्षेत्र में क्रियान्वित करती है। राजस्थान राज्य के सन्दर्भ में पंचायत समिति की संरचना एवं कार्यों का विवरण निम्नप्रकार है :

संरचना (Structure)

राजस्थान में पंचायत समिति की संरचना का निर्धारण नवीन पंचायती राज अधिनियम, 1994 के अन्तर्गत किया गया है। इस अधिनियम में समय–समय पर संशोधन भी किये गये। वर्तमान में पंचायत समिति की संरचना को निम्न रेखाचित्र के माध्यम से दर्शाया जा सकता है :–

पंचायत समिति संरचना

(राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 (संशोधित 1999, 2000 के अन्तर्गत)

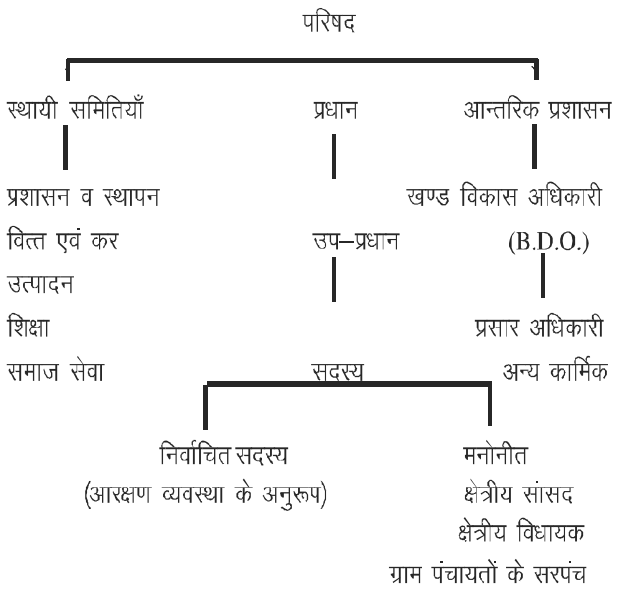

उपर्युक्त रेखाचित्र के आधार पर पंचायत समिति की संरचनात्मक व्यवस्था को निम्न शीर्षकों में समझा जा सकता है :

परिषद (Parishad)

प्रत्येक पंचायत समिति में सर्वोच्च स्तर पर एक परिषद होती है जिसमें दो प्रकार के सदस्य होते हैं :

(1) निर्वाचित सदस्य (Elected Members)

अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार प्रत्येक पंचायत समिति क्षेत्र को कुछ वार्डों में विभक्त किया जाता है। प्रत्येक वार्ड से एक सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होता है। अधिनियम में यह प्रावधान किया गया है कि एक लाख तक की जनसंख्या वाले पंचायत समिति क्षेत्र में पन्द्रह वार्ड बनाये जायेंगे। एक लाख से अधिक जनसंख्या की स्थिति में प्रत्येक पन्द्रह हजार की जनसंख्या पर दो सदस्यों की वृद्धि कर दी जाये। पंचायत समिति में परिषद के सदस्यों के चुनाव के लिए महिलाओं को एक–तिहाई स्थान आरक्षित किये जाने के अलावा अनुसूचित जाति व जनजाति को उनकी जनसंख्या के अनुपात में और ओ. बी.सी. को 21 प्रतिशत सीटों का आरक्षण किया गया है। आरक्षण की इस व्यवस्था को चक्रानुक्रम से लागू किया जाता है।

पंचायत समिति के कार्य संचालन के लिए निर्वाचित सदस्यों में से दो पदाधिकारी निर्वाचित किये जाते हैं। इनमें पंचायत समिति के अध्यक्ष को प्रधान कहा जाता है एवं उपाध्यक्ष को उप प्रधान कहा जाता है। पंचायत समिति का प्रधान परिषद की बैठकों की अध्यक्षता करता है एवं सम्पूर्ण प्रशासनिक तंत्र पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रखता है। इस पद पर भी आरक्षण चक्रानुक्रम पद्धति से किया गया है।

अधिनियम में प्रधान, उप–प्रधान एवं निर्वाचित सदस्यों को पद से हटाने संबंधी प्रावधान भी किये गये हैं। यदि कोई सदस्य या पदाधिकारी त्यागपत्र दे देता है तो वह पद से हट सकता है। अधिनियम में अविश्वास प्रस्ताव की प्रक्रिया का भी उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार को भी यह अधिकार है कि वह किसी भी सदस्य या पदाधिकारी को निलम्बित कर सकती है।

पंचायत समिति की परिषद नीतियों का निर्माण करने के लिए उत्तरदायी होती है। सभी निर्णय पंचायत समिति की परिषद की बैठक में लिए जाते हैं। बैठक के संबंध में अधिनियम में यह प्रावधान किया गया है कि एक माह में एक बार पंचायत समिति की बैठक होगी। प्रथम बैठक जिलाधीश द्वारा आमंत्रित की जाती है। शेष सभी बैठकें पंचायत समिति के प्रधान द्वारा आयोजित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त अधिनियम में यह प्रावधान भी किया गया है कि आवश्यकता होने पर एक तिहाई सदस्यों के लिखित अनुरोध पर विशेष बैठक भी आयोजित की जा सकती है। बैठक के लिए गणपूर्ति कुल संख्या की एक–तिहाई की उपस्थिति आवश्यक मानी गयी है। बैठकों में विषयों पर विचार–विमर्श होता है एवं सभी निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाते हैं।

(2) मनोनीत सदस्य (Nominated Members)

पंचायत समिति की परिषद में कुछ मनोनीत सदस्यों के संबंध में प्रावधान किये गये हैं। ये सभी मनोनीत सदस्य परिषद की बैठकों में उपस्थित रहते हैं तथा आवश्यक सुझाव देते हैं लेकिन इन्हें निर्णय लेते समय मत देने का अधिकार नहीं होता है। पंचायत समिति में इस श्रेणी के निम्न सदस्य होते हैं :

1. पंचायत समिति क्षेत्र से प्रतिनिधित्व करने वाले संसद सदस्य।
2. पंचायत समिति क्षेत्र से प्रतिनिधित्व करने वाले विधानसभा सदस्य।
3. पंचायत समिति क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली समस्त ग्राम पंचायतों के अध्यक्ष अर्थात् सरपंच।

समितियाँ (Committies)

पंचायती राज अधिनियम की धारा 56 में यह प्रावधान किया

गया है कि पंचायत समिति अपने कार्यों का संचालन कुछ समितियों के माध्यम से करेगी। अधिनियम में निम्न पाँच समितियों के संबंध में प्रावधान किये गये हैं : (1) प्रशासन एवं स्थापन (2) वित्त एवं कर (3) उत्पादन (4) शिक्षा (5) समाज सेवा

प्रत्येक समिति में पाँच–पाँच सदस्य होते हैं जिनका चयन निर्वाचित सदस्यों में से निर्वाचित सदस्यों द्वारा ही किया जाता है। यदि किसी समिति का सदस्य प्रधान है तो वह स्वतः ही समिति का अध्यक्ष होता है और यदि किसी समिति का सदस्य उप प्रधान है एवं प्रधान सदस्य नहीं है तो उप प्रधान समिति का अध्यक्ष होता है और यदि प्रधान और उप प्रधान दोनों ही सदस्य नहीं हैं तो समिति के सदस्य अपने ही सदस्यों में से एक का चयन अध्यक्ष के लिए करते हैं। सन् 2002 में अधिनियम में संशोधन कर सतर्कता समिति का प्रावधान भी किया गया है।

प्रत्येक समिति की समय पर बैठकें होती है जिनमें विभिन्न विषयों पर विचार–विमर्श किया जाता है। विचार विमर्श के पश्चात् समिति एक प्रतिवेदन तैयार करती है जिसे परिषद की बैठक में प्रस्तुत किया जाता है, सामान्यतः परिषद समिति के सुझावों को स्वीकार कर लेती है।

आंतरिक प्रशासन (Internal administraton)

पंचायत समिति के कार्यों को संचालित करने के लिए एक प्रशासनिक तंत्र विकसित किया गया है। पंचायत समिति के आंतरिक प्रशासन में विभिन्न अधिकारी व कर्मचारी कार्य करते हैं जिनमें दो प्रमुख का विवरण निम्न प्रकार है :

(i) खण्ड विकास अधिकारी (Block Development Officer)

पंचायत समिति के आंतरिक प्रशासन के शीर्षस्थ प्रशासनिक अधिकारी को खण्ड विकास अधिकारी के नाम से जाना जाता है। खण्ड स्तर पर यह सबसे प्रमुख अधिकारी होता है।

राजस्थान राज्य में विकास अधिकारी के पद पर नियुक्ति के लिए दो प्रकार की व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं। एक प्रकार की व्यवस्था में पंचायत समितियों के अनुभवी प्रसार अधिकारियों को पदोन्नत करके विकास अधिकारी के पद पर नियुक्त किया जाता है। दूसरी व्यवस्था के अन्तर्गत राजस्थान प्रशासनिक सेवा के नवनियुक्त अधिकारियों को प्रथम नियुक्ति विकास अधिकारी के पद पर की जाती है। इसके लिए राजस्थान प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को ग्रामीण प्रशासन से संबंधित सात दिन का विशिष्ट प्रशिक्षण दिया जाता है।

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 की धारा 81 में विकास अधिकारी के जिन कार्यों का प्रावधान किया गया उन्हें दो शीर्षकों में समझा जा सकता है :

(1) सामान्यकालीन कार्यों और शक्तियॉ

(2) आपातकालीन कार्य और शक्तियॉ

(1) सामान्यकालीन कार्य और शक्तियाँ (General Functions and Power)

सामान्यकालीन परिस्थितियों में विकास अधिकारी जिन कार्यों को निष्पादित करता है उन्हें सामान्य कालीन कार्य कहा जाता है। इन कार्यों के संबंध में अधिनियम में प्रावधान किये गये हैं जिनमें से प्रमुख निम्न हैं :

(i) पंचायत समिति एवं उसकी स्थायी समितियों की बैठकों के संबंध में सूचना जारी करना,

(ii) पंचायत समिति की बैठकों में उपस्थित रहना तथा उनकी कार्यवाहियों को लिखना,

(iii) बैठकों में विचार विमर्श के समय अपने सुझाव प्रस्तुत करना,

(iv) पंचायत समिति के प्रधान के निर्देश पर पंचायत समिति कोष से धन निकलवाना,

(v) ग्राम सभा व वार्ड सभा की बैठकों के कार्यक्रम निर्धारित करना, उन्हें आमंत्रित करना एवं बैठकों में उपस्थित रहना,

(vi) पंचायत समिति के कार्यों का अनुमोदन करना,

(vii) पंचायत समिति के समस्त दस्तावेजों को प्रमाणित करना,

(viii) लेखा परीक्षण के प्रतिवेदन में दर्शायी गयी अनियमितताओं को दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाना,

(ix) पंचायत समिति के धन या सम्पत्ति के संबंध में गबन, चोरी या धोखाधड़ी के मामलों की सूचना उच्च अधिकारियों को देना,

(x) विकास कार्यों को संचालित करने के लिए स्वैच्छिक संगठनों को प्रोत्साहित करना एवं उनका सहयोग प्राप्त करना,

(xi) राज्य सरकार एवं जिला परिषद द्वारा मांगी गयी सूचनाओं को उपलब्ध करवाना,

(xii) पंचायत समिति के अधिकारियों व कर्मचारियों पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रखना,

(xiii) पंचायत समिति की वित्तीय स्थिति का निरीक्षण करना,

(xiv) पंचायत समिति क्षेत्र की समस्त ग्राम पंचायतों पर पर्यवेक्षण रखना, तथा

(xv) अन्य ऐसे कार्य जो समय–समय पर राज्य सरकार द्वारा या अधिनियम द्वारा उन्हें सौंपे जायें।

(2) आपातकालीन कार्य और शक्तियाँ (Functions and Powers in Emergency)

विकास अधिकारी पंचायत समिति क्षेत्र में आपातकालीन परिस्थितियों जैसे आग, बाढ़, महामारी आदि में किसी भी कार्य को करने के लिए आदेश दे सकता है। ऐसे आदेश देने के लिए परिषद की स्वीकृति आवश्यक नहीं होती। इन कार्यों को करने के लिए वह पंचायत समिति कोष से धन व्यय कर सकता है।

(ii) प्रसार अधिकारी व अन्य कर्मचारी (Extension officers and other employees)

पंचायत समिति के कार्य संचालन के लिए प्रशासनिक तंत्र में विकास अधिकारी के अधीन विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित प्रसार अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। प्रसार अधिकारियों की नियुक्ति राज्य सरकार के अन्य विभागों से प्रतिनियुक्ति के आधार पर की जाती है। सामान्यतः ये प्रसार अधिकारी शिक्षा, सहकारिता, कृषि, पशुपालन, उद्योग आदि से संबंधित होते हैं। ये प्रसार अधिकारी अपने विषय क्षेत्र से संबंधित कार्यों का पर्यवेक्षण करते हैं तथा इन कार्यों का प्रसार भी करते हैं।

नवीन पंचायती राज अधिनियम, 1994 के द्वारा पंचायत समिति में कनिष्ठ अभियन्ता, कनिष्ठ लेखापाल, वरिष्ठ लिपिक, कनिष्ठ लिपिक व कतिपय चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के नये पद सृजित किये गये हैं।

पंचायत समिति के दिन–प्रतिदिन के कार्यों को निष्पादित करने का दायित्व इन्हीं कार्मिकों का होता है। ये कार्मिक विकास अधिकारी एवं प्रसार अधिकारियों के निर्देशन में कार्य करते हैं। इन कार्मिकों की नियुक्ति भी राज्य सरकार द्वारा की जाती है।

पंचायत समिति के कार्य (Functions of Panchyat Samiti)

राजस्थान में पंचायत समिति निम्नांकित कार्यों का निष्पादन करती है :

1. सामान्य कार्य (General Functions)

पंचायत समिति जिला परिषद द्वारा निर्मित योजनाओं का क्रियान्वयन करके उसके संबंध में प्रतिवेदन तैयार कर जिला परिषद को प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त पंचायत समिति ग्राम पंचायतों के कार्यों पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण करती है।

2. कृषि संबंधी कार्य (Agriculture)

ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के विकास हेतु विभिन्न योजनाओं व कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने का दायित्व पंचायत समिति का होता है। पंचायत समिति उन्नत किस्म के बीज, खाद व अन्य कृषि सामग्री को वितरित भी करती है। इसके अतिरिक्त कृषकों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम भी आयोजित करती है।

3. भूमि सुधार से संबंधित कार्य (Land Improvement)

पंचायत समिति भूमि सुधार संबंधी कार्यक्रमों एवं योजनाओं को क्रियान्वित करवाती है। इसके लिए समय–समय पर कृषि भूमि की मिट्टी का परीक्षण भी करवाया जाता है।

4. सिंचाई की व्यवस्था करवाना (Irrigation)

ग्रामीण क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधा के लिए पंचायत समिति द्वारा विभिन्न सिंचाई साधनों की व्यवस्था की जाती है। भूमिगत जल के उपयोग के लिए कुओं का निर्माण कराया जाता है।

5. औद्योगिक विकास (Industrial Development)

ग्रामीण क्षेत्रों में लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास के लिए पंचायत समिति विभिन्न लघु उद्योगों को प्रोत्साहित करती है जैसे पशुपालन, डेयरी, कुक्कुट पालन, मत्स्य पालन, खादी उद्योग आदि।

6. सार्वजनिक सुविधाओं को उपलब्ध करवाना (Availability of Public Facilities)

प्रत्येक नागरिक की कुछ न्यूनतम आवश्कताएँ होती हैं। पंचायत समिति क्षेत्र में इन न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने का दायित्व पंचायत समिति का ही होता है। इस हेतु पंचायत समिति आवास एवं पीने के पानी की व्यवस्था करती है। सड़कों, भवनों, जल मार्गों, संचार साधनों आदि का निर्माण एवं रखरखाव भी करती है।

7. सामाजिक विकास (Social Development)

समाज के पिछड़े व कमजोर वर्गों जैसे अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग, महिलाओं एवं बच्चों के विकास के लिए पंचायत समिति विभिन्न कार्यक्रमों व योजनाओं को क्रियान्वित करती है।

8. शिक्षा सम्बन्धी कार्य
(Functions related to Education)

राजस्थान में ग्रामीण क्षेत्रों में मिडिल स्तर तक की प्रारम्भिक शिक्षा के प्रबन्ध का दायित्व पंचायत समितियों को सौंपा गया है।

पंचायत समिति के उपर्युक्त कार्य केवल प्रमुख कार्य ही हैं। इसके अतिरिक्त भी पंचायत समिति सांस्कृतिक विकास संबंधी कार्य, परिवार कल्याण संबंधी कार्य, विभिन्न सांख्यिकी का संकलन आदि कार्यों का निष्पादन भी करती है।

ग्राम पंचायत (Gram Panchayat)

भारत में जो त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था में तीसरा एवं धरातल स्तर **ग्राम पंचायत** के नाम से जाना जाता है। यह स्तर इसलिए महत्त्वपूर्ण माना गया है कि वास्तविक रूप में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का व्यावहारिक स्वरूप ग्राम पंचायत ही है। विभिन्न राज्यों में ग्राम पंचायत को भिन्न–भिन्न नामों से जाना जाता है। आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु में इस स्तर को केवल पंचायत नाम से जाना जाता है। असम, गुजरात व उत्तर प्रदेश में 'गांव पंचायत' व बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, पंजाब एवं पश्चिम बंगाल में इसे 'ग्राम पंचायत' के नाम से जाना जाता है।

73वें संविधान संशोधन अधिनियम से पहले सम्पूर्ण देश में ग्राम पंचायत की संरचना एवं कार्यों में विभिन्नता पायी जाती थी लेकिन 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के माध्यम से सम्पूर्ण देश में पंचायतों की संरचना एवं कार्यों में एकरूपता लाने का प्रयास किया गया। सभी राज्यों ने संविधान संशोधन के अनुरूप पंचायतों की संरचना व कार्यों के निर्धारण के लिए अपने–अपने अधिनियम में संशोधन किया गया है।

ग्राम पंचायत की संरचना (Structure of Gram Panchayat)

राजस्थान में नवीन पंचायती राज अधिनियम, 1994 में पंचायत की संरचना के संबंध में प्रावधान किये हैं जिसमें 1999 व 2000 में संशोधन भी किये गये। वर्तमान में पंचायत की संरचना को निम्न रेखाचित्र के माध्यम से दर्शाया जा सकता है :

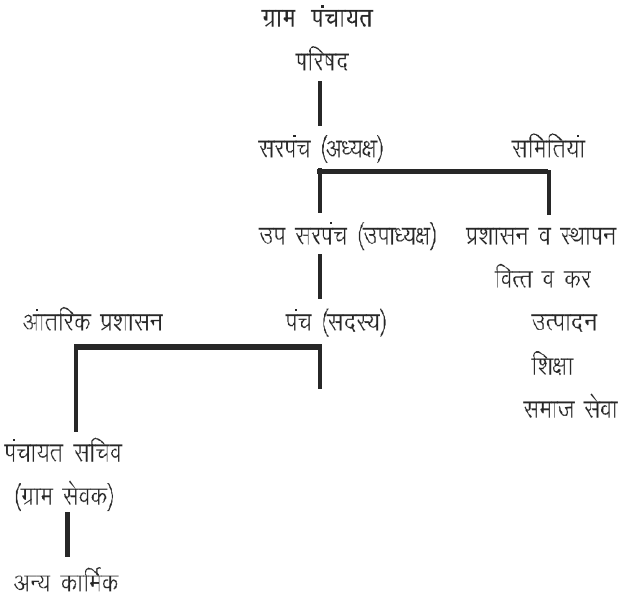

उपर्युक्त रेखाचित्र के माध्यम से ग्राम पंचायत की संगठनात्मक व्यवस्था स्पष्ट होती है जिसे निम्न शीर्षकों के माध्यम से समझा जा सकता है :

परिषद (Parishad)

ग्राम पंचायत में निर्वाचित सदस्यों की एक परिषद होती है। सदस्यों के निर्वाचन, कार्यकाल एवं आरक्षण संबंधी वही प्रावधान इसके लिए भी निर्धारित हैं जो अन्य पंचायती राज संस्था अर्थात् जिला परिषद व पंचायत समिति के लिए निर्धारित हैं।

निर्वाचित परिषद में एक अध्यक्ष होता है जिसे 'सरपंच' कहा जाता है। ग्राम पंचायत के अध्यक्ष अर्थात् सरपंच के निर्वाचन की प्रक्रिया अन्य पंचायती राज संस्थाओं के अध्यक्षों की निर्वाचन प्रक्रिया से भिन्न है। अन्य पंचायती राज संस्थाओं में निर्वाचित सदस्य ही अपने सदस्यों में से एक का चयन अध्यक्ष के लिए करते हैं जबकि ग्राम पंचायत में सरपंच का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा किया जाता है। ग्राम पंचायत में एक उप सरपंच भी होता है जिसका निर्वाचन निर्वाचित सदस्यों द्वारा ही निर्वाचित सदस्यों में से किया जाता है। सरपंच, उप सरपंच एवं सदस्यों को पद से हटाने संबंधी वही प्रावधान

निर्धारित किये गये हैं जो अन्य संस्थाओं के लिए हैं।

सरपंच ग्राम पंचायत का अध्यक्ष होता है। इस दृष्टि से वह ग्राम पंचायत के कार्य संचालन के लिए उत्तरदायी होता है।

सरपंच की शक्तियाँ (Powers of Sarpanch)

सरपंच की शक्तियों व कार्यों के संबंध में प्रावधान अधिनियम में किये गये हैं। अधिनियम की धारा 32 के अनुसार सरपंच निम्न कार्यों को निष्पादित करता है

(i) पंचायत की बैठकों की अध्यक्षता करता है,

(ii) पंचायत की बैठकों को आमंत्रित करना तथा संचालन करना,

(iii) पंचायत की प्रशासनिक व्यवस्था पर नियंत्रण करना,

(iv) पंचायत की वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था पर नियंत्रण व पर्यवेक्षण रखना,

(v) पंचायत के अभिलेखों की रक्षा करना,

(vi) पंचायत के कर्मचारियों पर नियंत्रण व पर्यवेक्षण रखना,

(vii) ग्राम सभा की बैठकों को आमंत्रित करना व अध्यक्षता करना, तथा

(viii) अन्य ऐसे कार्य जो समय–समय पर राज्य सरकार द्वारा अधिनियम के माध्यम से उसे सौंपे जायें।

अधिनियम में उप सरपंच के कार्यों के संबंध में यह प्रावधान किया गया है कि वह सरपंच की अनुपस्थिति में सरपंच की सभी शक्तियों व कार्यों का प्रयोग करेगा।

स्थायी समितियाँ (Permanent Committies)

ग्राम पंचायत में भी कार्य संचालन हेतु समितियों का प्रावधान किया गया है। ये प्रावधान वही हैं जो जिला परिषद व पंचायत समितियों के सन्दर्भ में किए गए हैं।

आंतरिक प्रशासन (Internal Administration)

प्रशासनिक कार्यों को संचालित करने के लिए प्रत्येक ग्राम पंचायत स्तर पर एक कार्यालय स्थापित किया गया है जिसके प्रमुख कर्मचारी को 'पंचायत सचिव' के नाम से जाना जाता है। राजस्थान पंचायती राज अधिनियम में यह भी प्रावधान किया गया है कि दो या तीन पंचायतों के लिए एक ही पंचायत सचिव नियुक्त किया जा सकता है। ऐसे पंचायत सचिव को 'समूह पंचायत सचिव' या 'ग्रुप सचिव' के नाम से जाना जाता है। पंचायत सचिव की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है।

पंचायत सचिव के कार्य (Functions of Panchayat Sachiv)

अधिनियम की धारा 37 में पंचायत सचिव के कार्यों के संबंध में यह प्रावधान किया गया है कि ''पंचायत सचिव सरपंच के नियंत्रण में रहते हुए निम्नलिखित कार्यों को निष्पादित करेगा'' :

(i) पंचायत के अभिलेख अपनी रक्षा में रख्ना,

(ii) पंचायत कोष के लेखे निर्धारित करना,

(iii) पंचायत को प्राप्त होने वाली धनराशि के लिए अपने हस्ताक्षर से रसीदें जारी करना,

(iv) पंचायत कोष की रक्षा करना,

(v) पंचायत द्वारा किये गये कार्यों के संबंध में प्रतिवेदन तैयार करना, तथा

(vi) अन्य ऐसे कार्य करना जो समय–समय पर सरपंच व अधिनियम द्वारा सौंपे जायें।

बड़ी पंचायतों में आवश्यकतानुसार लेखाकार व लिपिक भी नियुक्त किये जा सकते हैं जिन्हें ग्राम पंचायत कोष से ही वेतन देय होता है।

ग्राम पंचायत के कार्य (Functions of Gram Panchayat)

नवीन पंचायती राज अधिनियम, 1994 में ग्राम पंचायत के कार्यों के संबंध में प्रावधान किये गये हैं। अधिनियम में एक अनुसूची के अन्तर्गत पंचायत के कार्यों का विवरण दिया गया है। इस अनुसूची को प्रथम अनुसूची कहा जाता है। अधिनियम के अनुसार पंचायत के कार्य निम्न हैं :

1. सामान्य कार्य (General Functions)

(i) पंचायत क्षेत्र के विकास के लिए योजनाओं का क्रियान्वयन करना,

(ii) पंचायत का वार्षिक बजट तैयार करना,

(iii) प्राकृतिक आपदाओं में सहायता पहुंचाना,

(iv) सार्वजनिक सम्पत्तियों पर से अतिक्रमण हटाना, तथा

(v) पंचायत क्षेत्र से संबंधित सांख्यिकी का आकलन करना।

2. प्रशासनिक कार्य (Administrative functions)

(i) जनगणना करना,

(ii) आवास स्थलों का संख्यांकन,

(iii) कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए कार्यक्रम तैयार करके जिला परिषद को प्रस्तुत करना,

(iv) विभिन्न कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक वित्त का अनुमान तैयार करना,

(v) सार्वजनिक स्थलों पर नियंत्रण रखना,

(vi) ऐसे मामलों को उच्च संस्थाओं तक पहुंचाना जिनके संबंध में पंचायत निर्णय लेने में सक्षम न हों,

(vii) पंचायत के अभिलेखों का संरक्षण रखना,

(viii) जन्म, मृत्यु एवं विवाह का पंजीकरण करना।

3. कृषि के क्षेत्र में (Agricultural functions)

(i) कृषि विकास के लिए ग्रामीण नागरिकों को प्रोत्साहित करना,

(ii) बंजर भूमियों का विकास करना, तथा

(iii) कृषि हेतु उन्नत खाद एवं बीज की व्यवस्था करना।

4. लघु उद्योगों से संबंधित कार्य (Small Scale Industries)

(i) विभिन्न लघु उद्योगों की स्थापना के लिए नागरिकों को प्रोत्साहित करना जैसे पशुपालन, मत्स्य पालन, कुक्कुट पालन और डेयरी, तथा

(ii) लघु उद्योगों से संबंधित प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करना।

5. निर्माण संबंधी कार्य (Constitutional Functions)

(i) ग्रामीण क्षेत्र में सड़कों का निर्माण करना,

(ii) आवास स्थलों का निर्माण करना,

(iii) पीने के पानी की व्यवस्था के लिए जलाशयों एवं कुओं का निर्माण करना, तथा

(iv) जलमार्ग एवं अन्य संचार साधनों का निर्माण करना।

6. शिक्षा संबंधी कार्य (Educational functions)

(i) ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करना,

(ii) साक्षरता कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना, तथा

(iii) प्रौढ़ एवं अनौपचारिक शिक्षा को प्रोत्साहित करना।

7. सामाजिक विकास संबंधी कार्य (Social development)

(i) कमजोर एवं पिछड़े वर्गों के कल्याण के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना,

(ii) विकलांग एवं मन्दबुद्धि वालों के कल्याण के लिए कार्य करना, तथा

(iii) महिला एवं बाल विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना।

उपर्युक्त वर्णित कार्यों के अतिरिक्त अधिनियम में ग्राम पंचायत के अन्य कार्यों के संबंध में प्रावधान किये गये हैं जैसे ग्रामीण लोगों के सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करना, प्रदर्शनियों एवं मेलों का आयोजन करना, सिंचाई की व्यवस्था करना, सरकारी सम्पत्तियों का रखरखाव आदि।

ग्राम पंचायत के संगठन व कार्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ग्राम पंचायत पंचायतयी राज की सबसे नीचे के स्तर की एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। ग्रामीण विकास से संबंधित सभी कार्यों का संचालन इसी संस्था द्वारा किया जाता है। इस संस्था की संस्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि प्रशासन में ग्रामीण क्षेत्रों की जनता की अधिक से अधिक सहभागिता सुनिश्चित की जावे। यही कारण है कि इस संस्था में समाज के सभी वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। इस स्तर पर भी आरक्षण के पूर्व वर्णित प्रावधान उसी रूप में लागू होते हैं।

ग्रामसभा (Gram Sabha)

किसी भी पंचायत क्षेत्र के वयस्क नागरिकों के समूह को ग्रामसभा कहा जाता है। भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण अपनाने की दृष्टि से त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था के अतिरिक्त ग्रामसभा नामक संस्था का प्रावधान भी रखा गया है। ग्रामसभा की आवश्यकता एवं महत्त्व को देखते हुए 73वें संविधान संशोधन अधिनियम में ग्रामसभा के संबंध में प्रावधान किये गये हैं।

पंचायती राज अधिनियम, 1959 में यह प्रावधान किया गया था कि प्रत्येक ग्राम पंचायत अपने पंचायत क्षेत्र के समस्त वयस्क नागरिकों की एक सभा बुलायेगी। इसी व्यवस्था को ग्रामसभा के रूप में जाना जायेगा। संविधान संशोधन के पश्चात् राजस्थान राज्य में जो नया अधिनियम बनाया गया था उसमें ग्रामसभा के संबंध में विस्तृत प्रावधान किये गये हैं। वर्तमान में सम्पूर्ण देश में सभी राज्यों में ग्रामसभा का गठन किया गया है।

ग्रामसभा का संगठन (Organisation of Gram Sabha)

ग्रामसभा का अध्यक्ष ग्राम पंचायत का अध्यक्ष अर्थात् सरपंच ही होता है। उस गांव में ऐसे समस्त वयस्क नागरिक जिनका नाम विधानसभा की मतदाता सूची में होता है, ग्रामसभा

के सदस्य होते हैं। ग्रामसभा के कार्यों को लिखने के लिए एक सचिव भी होता है जो कि ग्राम पंचायत का पंचायत सचिव ही होता है।

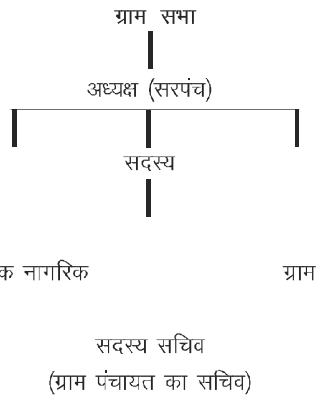

ग्रामसभा की बैठकें (Meetings of Gram Sabha)

राजस्थान में पंचायती राज अधिनियम, 1994 में ग्रामसभा की बैठकों के संबंध में यह प्रावधान रखा गया था कि ग्रामसभा की बैठकें वर्ष में दो बार आयोजित की जायेगी। प्रथम बैठक वित्तीय वर्ष के प्रथम त्रैमास में एवं दूसरी बैठक वित्तीय वर्ष के अन्तिम त्रैमास में आयोजित की जायेंगी। लेकिन वर्ष 2003 में इस स्थिति में परिवर्तन किया गया है तथा यह निर्धारित किया गया है कि ग्रामसभा की बैठकें वर्ष में चार बार आयोजित की जायेगी। बैठकों की तिथि निर्धारण का दायित्व अब संबंधित जिले के जिलाधीश को सौंपा गया है।

सामान्य बैठकों के अतिरिक्त यह प्रावधान भी किया गया है कि यदि 1/10 सदस्य लिखित रूप में अपेक्षा करें तो ग्रामसभा की विशिष्ट बैठक भी बुलाई जा सकती है। ग्रामसभा की बैठक के लिए गणपूर्ति 1/10 सदस्य निर्धारित की गयी है।

ग्रामसभा में बैठक की अध्यक्षता सरपंच द्वारा की जाती है। यदि सरपंच अनुपस्थित होता है तो उप सरपंच द्वारा अध्यक्षता की जाती है और यदि दोनों ही अनुपस्थित हों तो ग्रामसभा के सदस्य अपने ही सदस्यों में से किसी एक को अध्यक्ष के लिए निर्वाचित करते हैं। बैठक में विभिन्न विषयों पर विचार विमर्श किया जाता है तथा आवश्यक निर्णय लिए जाते हैं। बैठक की कार्यवाही को पंचायत सचिव द्वारा लिखा जाता है तथा बैठक में लिए गए निर्णय को संबंधित संस्था या व्यक्ति तक पहुंचाने का दायित्व भी पंचायत सचिव का होता है।

वर्तमान में यह व्यवस्था की गयी है कि ग्रामसभा की बैठक में जिलाधीश द्वारा नाम निर्देशित व्यक्ति उपस्थित रहेगा लेकिन उसे विचार–विमर्श में भाग लेने का अधिकार नहीं होता। सामान्यतः खण्ड विकास अधिकारी या उसका प्रतिनिधि ग्रामसभा की बैठकों में उपस्थित रहता है।

ग्रामसभा के कार्य (Functions of Gram Sabha)

राजस्थान में ग्रामसभा के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :

1. ग्राम पंचायत द्वारा क्रियान्वित की जाने वाली विभिन्न योजनाओं व कार्यक्रमों का अनुमोदन,
2. वार्ड सभा द्वारा चयनित व्यक्तियों से लाभान्वित होने वाले व्यक्तियों की प्राथमिकता निर्धारित करना,
3. संबंधित वार्ड सभा से यह प्रमाण प्राप्त करना कि विभिन्न कार्यक्रमों के लिए उपलब्ध कराये गये वित्त का उचित तरीके से उपयोग कर लिया गया है,
4. विकास की योजनाएं बनाना व उन्हें अनुमोदित करना,
5. ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा को प्रोत्साहित करना,
6. समाज के सभी समुदायों के बीच एकता को बढ़ाना,
7. पंचायत द्वारा किये गये कार्यों का सरपंच से स्पष्टीकरण मांगना, तथा
8. ऐसे अन्य कार्य जो समय–समय पर अधिनियम के माध्यम से राज्य सरकार द्वारा सौंपे जायें।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त ग्रामसभा को अन्य अनेक क्षेत्रों में शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। विशेष रूप से अनुसूचित जाति वाले क्षेत्रों की ग्रामसभाओं को विशेष शक्तियॉ व अधिकार दिये गये हैं। इसके लिए राज्य सरकार ने पृथक से एक अध्यादेश भी जारी किया है। इसके अलावा ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि विकास से संबंधित किये जाने वाले कार्यों का मूल्यांकन करने का दायित्व भी ग्रामसभा को दिया गया है।

ग्रामसभा का मूल्यांकन (Evaluation of Gram Sabha)

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् ग्रामसभा की अवधारणा को कुछ राज्यों ने स्वीकार किया है। यद्यपि स्वतंत्रता के समय न तो संविधान में एवं न ही राज्यों के अधिनियम में ग्रामसभा का प्रावधान था। किन्तु कुछ राज्यों में ग्रामसभा का गठन किया गया था। जिन राज्यों में ग्रामसभाएँ गठित की गयी थी वहां वे सफल नहीं हो पायीं। अधिकांश विद्वानों का यह मत था कि संवैधानिक मान्यता के अभाव में ये सफल नहीं हो पाई। परिणामस्वरूप 73वें संविधान संशोधन के माध्यम से ग्रामसभा को संवैधानिक मान्यता

प्रदान की गयी है तथा उसी के अनुरूप राज्यों ने अपने अधिनियम में ग्रामसभा को स्थान दिया।

संवैधानिक मान्यता मिलने के बावजूद भी ग्रामसभा एक निष्क्रिय संस्था के रूप में सामने आयी जिसके निम्नलिखित कारण हैं :

1. ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामसभा की बैठकों का उचित प्रचार–प्रसार नहीं किया जाता,
2. बैठकों का उपयुक्त समय निर्धारित नहीं किया गया अर्थात् ऐसे समय बैठकें आयोजित की जाती है जब कोई फसल का समय या कोई त्यौहार या पर्व होता है,
3. ग्रामसभा की बैठकों के संबंध में सरपंच उदासीन रहते हैं क्योंकि इन बैठकों में उनकी आलोचना का भय रहता है, तथा
4. ग्रामसभा का कार्यक्षेत्र भी अत्यधिक सीमित रहता है जो कि इसकी प्रभावी भूमिका में बाधक है।

उपर्युक्त कारणों को दूर करने के लिए विभिन्न विद्वानों ने सुझाव प्रस्तुत किये, जिसके अनुरूप राजस्थान राज्य में वर्ष 2003 में कुछ परिवर्तन किये हैं, जिनमें से प्रमुख निम्न है :

(i) ग्रामसभा की बैठकों का पर्याप्त प्रचार–प्रसार किया जाने लगा,

(ii) बैठकों का समय निर्धारित करने का दायित्व संबंधित जिले के जिलाधीश को सौंप दिया गया,

(iii) बैठकों का समय जनमत के आधार पर निर्धारित किया जाने लगा, तथा

(iv) ग्रामसभा के कार्यक्षेत्र को कुछ विस्तृत किया गया।

उपर्युक्त सुझावों को स्वीकार करने के पश्चात् भी ग्रामसभा की भूमिका उतनी प्रभावी नहीं बन पायी है, जितनी कि अपेक्षित थी, जिसका मुख्य कारण यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में शैक्षणिक व सामाजिक विकास अभी तक नहीं हो पाया है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण क्षेत्रों में शैक्षिक एवं सामाजिक विकास की दृष्टि से पर्याप्त प्रयास किये जायें तभी जाकर ग्रामसभा एक प्रभावी संस्था बन पायेगी।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- भारत में ग्रामीण स्थानीय प्रशासन के रूप में जो व्यवस्था अपनायी गयी है उसे पंचायती राज व्यवस्था कहा जाता है।
- पंचायती राज व्यवस्था बलवंत राय मेहता समिति के प्रतिवेदन के आधार पर स्थापित की गयी है।
- पंचायती राज व्यवस्था में सुधार हेतु भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् अनेक प्रयास किए गए।
- पंचायती राज व्यवस्था अर्थात् ग्रामीण प्रशासन को संवैधानिक मान्यता प्रदान करने के उद्देश्य से 1992 में 73वां संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया गया।
- 73वें संविधान संशोधन में पंचायती राज की संस्थाओं की संरचना, कार्यों एवं अन्य मामलों के सम्बन्ध में प्रावधान किए गए हैं।
- पंचायती राज व्यवस्था त्रिस्तरीय व्यवस्था है। जिला स्तर पर जिला परिषद, खण्ड स्तर पर पंचायत समिति और ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत।
- संविधान संशोधन में एक और स्तर के संबंध में प्रावधान रखे गए हैं जिसे ग्रामसभा के नाम से जाना जाता है।
- पंचायती राज व्यवस्था की सर्वोच्च इकाई जिला परिषद होती है जो नीति निर्माण करने वाली इकाई है जिसमें निर्वाचित परिषद होती है। परिषद के मुखिया को जिला प्रमुख कहा जाता है।
- खण्ड स्तर पर पंचायत समिति पंचायती राज व्यवस्था की प्रमुख कार्यकारी इकाई होती है जिसमें भी निर्वाचित परिषद होती है जिसके मुखिया को प्रधान कहा जाता है। प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी को खण्ड विकास अधिकारी (बी. डी. ओ.) कहा जाता है।
- त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था का तीसरा स्तर ग्राम पंचायत है। ग्राम पंचायत की एक परिषद होती है जिसका मुखिया सरपंच के नाम से जाना जाता है।
- पंचायती राज व्यवस्था के तीनों स्तरों में कार्यों के निष्पादन के लिए समितियां गठित की जाती है।
- ग्राम सभा प्रत्येक गांव में होती है जिसमें गांव के सभी वयस्क नागरिक सदस्य होते हैं। यह ग्राम पंचायत के कार्यों की समीक्षा करने के लिए उत्तरदायी होती है।
- पंचायती राज व्यवस्था की तीनों स्तरों की संस्था का मुख्य कार्य ग्रामीण विकास करना होता है।
- पंचायती राज व्यवस्था के तीनों स्तर के कार्यों का विवरण संविधान में 11वीं अनुसूची में किया गया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद में प्रारम्भ में पंचायतों के संबंध में प्रावधान किये गये थे ?
   (अ) अनुच्छेद 32 (ब) अनुच्छेद 40
   (स) अनुच्छेद 42 (द) अनुच्छेद 44 ( )
2. भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम कब प्रारम्भ किया गया।
   (अ) 1950 (ब) 1952
   (स) 1958 (द) 1962 ( )
3. बलवन्त राय मेहता समिति ने अपना प्रतिवेदन किस वर्ष प्रस्तुत किया था ?
   (अ) 1950 (ब) 1952
   (स) 1958 (द) 1962 ( )
4. 73वां संविधान संशोधन कब से प्रवर्तित हुआ ?
   (अ) 24 अप्रेल, 1993 (ब) 01 जून, 1993
   (स) 24 जून, 1993 (द) 01 अप्रेल, 1993 ( )
5. राजस्थान में पूर्व प्रचलित पंचायती राज अधिनियमों में कब संशोधन किया गया ?
   (अ) 1993 (ब) 1996
   (स) 1994 (द) 1995 ( )
6. गुजरात में जिला परिषद को किस नाम से जाना जाता है?
   (अ) महकमा परिषद (ब) जिला पंचायत
   (स) जिला विकास परिषद (द) जिला परिषद ( )
7. वर्तमान में राजस्थान में कितनी पंचायत समितियां हैं ?
   (अ) 236 (ब) 235
   (स) 237 (द) 232 ( )
8. ग्राम पंचायत की परिषद के मुखिया को किस नाम से जाना जाता है ?
   (अ) प्रधान (ब) सरपंच
   (स) ग्राम प्रमुख (द) ग्रामसेवक ( )

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत में ग्रामीण प्रशासन के रूप में किस व्यवस्था को अपनाया गया है ?
2. सर्वप्रथम किस राज्य ने पंचायती राज व्यवस्था को अपनाया ?
3. जिला परिषद के प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी को किस नाम से जाना जाता है ?
4. त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था में मुख्य कार्यकारी स्तर कौनसा है ?
5. ग्राम पंचायत के कार्यालय के प्रमुख कर्मचारी को किस नाम से जाना जाता है ?
6. ग्रामसभा की वर्ष में कितनी बार बैठकें होने का प्रावधान है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत में पंचायती राज व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के प्रमुख प्रावधानों को संक्षेप में बताइए।
3. ग्रामसभा की भूमिका का मूल्यांकन संक्षेप में कीजिए।
4. पंचायत समिति में विकास अधिकारी की भूमिका पर टिप्पणी लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जिला परिषद के संगठन व कार्यों को समझाइए।
2. पंचायत समिति के संगठन व कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. ग्राम पंचायत के संगठन व कार्यों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तरमाला

1.ब 2. ब 3. स 4. अ
5. स 6. ब 7. स 8. ब